श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन

डॉ० रामनाथ शर्मा
रीडर तथा अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
मेरठ कालिज, मेरठ विश्वविद्यालय ।



श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन

[प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध का हिन्दी अनुवाद]

अनु प्रकाशन
मेरठ कैन्ट

प्रकाशक :
अनु प्रकाशन
बम्बई बाजार
मेरठ कैन्ट

फोन : 5346

प्रथम संस्करण १९६५
पूर्णतया संशोधित और परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण १९७२

मूल्य : बारह रुपये

मुद्रक :
जी० टी० प्रिन्टर्स
बम्बई बाजार
मेरठ कैन्ट

विषय सूची

आमुख

प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य, तत्व दर्शन एवं धर्म की प्रमुख समस्याओं पर विशेष ध्यान देते हुये श्री अरविन्द दर्शन का समालोचनात्मक मूल्यांकन करना है। श्री अरविन्द के दर्शन में मानव जीवन के सभी पहलू सम्मिलित हैं यथा सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक इत्यादि। इन सबका एक ही ग्रन्थ में निरूपण करना कठिन है। अतः लेखक को समाज, दर्शन और राजनीति दर्शन छोड़ने पड़े जिनका उसने यहाँ केवल संक्षिप्त उल्लेख मात्र किया है।*

प्रस्तुत प्रबन्ध को लिखने में लेखक को अपने निर्देशक तथा गुरु प्रवर प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय प्रोफेसररामनाथ कौल से सदैव प्रोत्साहन मिला था जिनके कृपापूर्ण स्नेह और समयानुकूल परामर्श ने उसे अपने पथ पर दृढ़तापूर्वक स्थिर रखा था। अपने विषय को समझने में उसे काशी विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय डॉ० एस० के० मैत्र की विद्वतापूर्ण कृतियों से बड़ी प्रेरणा मिली थी जिन्होंने अत्यन्त स्नेह से उसे विचार विमर्श करने और सुझाव प्राप्त करने का अवसर दिया था। इनके अतिरिक्त भी बहुत से अन्य महानुभाव है जो कि प्रस्तुत कृति के न्यूनतम समय में पूर्ण होने के लिये प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी हैं। उनमें से मुख्य हैं प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के भूतपूर्व रीडर डॉ० शशधर दत्त, श्री अरविन्द आश्रम पाँडिचेरी के डॉ० इन्द्र सेन और डॉ० जे० स्मिथ। इस सहयोग के लिये लेखक इन सबका आभारी है।

—रामनाथ शर्मा

'अर्चना'
सिविल लाइन्स,
मेरठ।

---

* इस शोध विषय को लेखक ने अपने डी० लिट० उपाधि के लिये लिखे गये शोध प्रबन्ध 'श्री अरविन्द का समाज दर्शन' में लिया है।

भूमिका

औद्योगीकरण से भाराक्रान्त आधुनिक सभ्यता से मानव के बर्बरता की ओर पतन अथवा मानव-जाति के पूर्ण विनाश का भय है। आज मानव को यन्त्रीकरण और भौतिकवाद से उत्पन्न आणविक युग की विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। सभी ओर हम अव्यवस्था और असन्तोष पाते हैं। सभी ओर से युग की विशेष समस्याओं के सुलझाव भी उपस्थित किये गये हैं। कुछ का परीक्षण किया जा चुका है और उन्हें छोड़ दिया गया है शेष का अभी प्रयोग होना है। विज्ञान और अन्तर्राष्ट्रीय विधान असमर्थ सिद्ध हो चुके हैं। विचारशील व्यक्ति धर्म, नैतिकता और आध्यात्मिकता की ओर देख रहे हैं। जैसा कि एक विचारक ने कहा है "हमारे सन्मुख जो विकल्प उपस्थित है वह इस प्रकार है : या तो हमारी मानसिक शक्ति का क्षय, मानव का पतन, उसकी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक क्रियाओं की गतिहीनता, जो कि अधिकाधिक यंत्रवत होती जाती हैं और अन्त में अत्यधिक केन्द्रित सत्तायुक्त नवीन अधिनायकतन्त्रवादी शासन की दासता; अथवा एक आध्यात्मिक विकास, मानव का इस सत्य की ओर जागरण कि वह आखिरकार अक्षय आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न एक चेतन प्राणी है, और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने एवं विज्ञान और औद्योगीकरण की तथा-कथित उन्नति को एक जनतंत्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों के आधीन करने का एक दृढ़ निश्चय।"†

श्री अरविन्द का विश्वदर्शन मानव की समस्याओं का आध्यात्मिक सुलझाव प्रस्तुत करता है। उसके विभिन्न पहलुओं की पारस्परिक सानुकूलता, एवं अन्य दर्शनों में उसका महत्व निर्धारित करना ही प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रयोजन है। परन्तु यह खोज दर्शन एवं धर्म की समस्याओं तक ही सीमित कर दी गई है। विभिन्न अध्यायों के हेतु चुने हुए विषय हैं : सामान्य सिद्धान्त, ज्ञान और सत्य, प्रणालियां, निरपेक्ष एवं ईश्वर, आत्मा और जीव, विश्व तथा सृष्टि, विकासवाद, धार्मिक अनुभव और अन्त में पूर्ण योग एवं मानव विकास। इस योजना में प्रत्येक अध्याय अपने से पिछले अध्याय पर आधारित है। इस प्रकार सामान्य सिद्धान्त, अर्थात् दर्शन तथा धर्म की व्याख्याएं तथा विज्ञान से उनके सम्बन्ध का ज्ञान और सत्य के प्रत्यय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ज्ञान एवं सत्य का स्वभाव ही उनकी खोज की

---

† हैनीमैन, एफ० एच० : हिबर्ट जर्नल, अक्टूबर १९५७, पृष्ठ ४६

प्रणाली का निश्चय करता है। विभिन्न प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति के हेतु भिन्न-भिन्न प्रणालियों की आवश्यकता है। प्रणालियों से हम परम सद्वस्तु पर आते हैं जो कि अपने सम्पूर्ण रूप में दर्शन में निरपेक्ष तथा धर्म में ईश्वर की संज्ञा से ज्ञात है। सद्वस्तु का दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप है आत्मा और जीव जिसको परम सद्वस्तु में स्थान मिलना आवश्यक है। अब हम उपनिषदों की परम्परा के अनुसार आत्मा से विश्व और सृष्टि की ओर आते हैं। समस्या है एक और अनेक, सत और उसकी संभूति का सम्बन्ध। यहां पर विकास का प्रत्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण है यहाँ तक कि सब कहीं उसका निर्देश करने के अतिरिक्त लेखक को उसके लिये पूरे दो अध्याय देने पड़े हैं। यहां तक परम सद्वस्तु के स्वभाव का वर्णन किया गया है। अब नवें और दसवें अध्याय में लेखक ने मानव और प्रकृति में इस विकासवादी प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये धर्म और योग के महत्व का मूल्यांकन किया है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण विस्तृत आयोजन विकास के प्रत्यय पर केन्द्रित है जो कि श्री अरविन्द के दर्शन का मूल तत्व है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में लेखक की प्रणाली है रचनात्मक आलोचना (Constructive Criticism) अथवा आलोचना के द्वारा रचना। प्रत्येक अध्याय में प्रस्तुत विषय पर उपस्थित मुख्य सिद्धांतों की आलोचना से प्रारम्भ करके उसमें से एक विशेष सिद्धान्त विकसित किया गया है तथा इस विशेष दृष्टिकोण से श्री अरविन्द के मत का मूल्याकन किया गया है। इस आलोचना की पृष्ठभूमि में लेखक का तर्क है सर्वांग अनुभव का तर्क जिसमें सभी अनुभवों की कृतार्थता है। इस प्रकार लेखक ने सब कहीं विरोधी मतों के मौलिक सत्यों को स्वीकार किया है। विवाद केवल उनके पूर्ण सत्य के अधिकार से है। लेखक के मत में सत्य सर्वांगीण होना चाहिये। उसमें अन्य मतों का निषेध नहीं बल्कि सामजस्य होना चाहिये। अतः लेखक का मुख्य उद्देश्य अन्य सिद्धान्तों की आलोचना नहीं बल्कि समन्वय करना है। प्रत्येक अध्याय में अन्त में प्रस्तुत समस्या पर अपने निष्कर्षों का सारांश दे दिया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध इस मौलिक धारणा पर आधारित है कि अनुभव समस्त दर्शन का मूल आधार है। जितना ही अधिक सर्वांगीण अनुभव होगा, उस पर आधारित दर्शन भी उतना ही सर्वांगीण होगा। दर्शन में ऐन्द्रिक, धार्मिक, गुह्य (Occult) प्राणात्मक (Vital) और आध्यात्मिक (Spiritual) इत्यादि सभी प्रकार अनुभवों को स्थान मिलना चाहिये। दर्शन और धर्म का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है क्यों कि दोनों ही भिन्न-भिन्न मार्गों से उसी एक ही परम सद्वस्तु पर पहुंचते हैं। पूर्णांग सद्वस्तु दर्शन और धर्म दोनों को ही सन्तुष्ठ करती है। वह हमारी सम्पूर्ण सत्ता को सन्तुष्ट करती है। स्वनामधन्य निरपेक्ष में सभी प्रतीति जगत का समावेश होना चाहिये, किसी का भी निषेध नहीं। वास्तविक दर्शन स्वीकारात्मक दर्शन है। उदार और समन्वयात्मक दृष्टिकोण हमारे युग की माँग है। दर्शन

जीवन के निकट होना चाहिये। उसको मानव और मानव तथा प्रकृति के बीच की खाई को पाटना चाहिये। अधिकतम विशाल और विस्तृत दृष्टिकोण ही सर्वाधिक बुद्धिमत्तापूर्ण है। तर्क को अनुभव पर आधारित होना चाहिये। खोज के विषय के अनुसार उसकी प्रणाली भी परिवर्तित होनी चाहिये। विज्ञान, दर्शन, धर्म, मनोविज्ञान अथवा मानव ज्ञान के किसी भी अन्य क्षेत्र में सर्वांगपूर्ण सिद्धान्त को सभी अन्य सिद्धान्तों के लिये स्थान देना चाहिये और उनकी सीमाओं का निर्देश करते हुए उन सबको एक सर्वांगपूर्ण में समन्वित करना चाहिये। मानव ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में परस्पर विरोध अनिवार्य नहीं है। दर्शन को एक ऐसा विश्वरूप उपस्थित करना चाहिये जिसमें ज्ञान की प्रत्येक शाखा के सत्यों की परिपुष्टि हो।

श्री अरविन्द आधुनिक युग में उपनिषदों के द्रष्टा के अवतार हैं परन्तु शंकर एवं रामानुज इत्यादि के समान भाष्यकार नहीं। अपनी स्वतन्त्र साधना के बल पर यदि वे उपनिषदों के सत्यों पर ही पहुँचे तो यह दर्शन की देशकाल-अतीतता का एक प्रमाण ही है, यद्यपि अपने 'विश्वरूप दर्शन' में वे उपनिषदों से बहुत आगे बढ़ गये हैं। वे दर्शन की पूर्वीय एवं पाश्चात्य गंगा-जमुना के पवित्र संगम, तन-मन-प्राण, सभी को दैवी सत्ता के अवरोहण का माध्यम बना देने वाले एक योगी, पृथ्वी पर ईसा के 'स्वर्गराज्य' की कल्पना को मूर्तिमान बनाने का आयोजन करने वाले युगप्रवर्तक नेता और थोथी संस्कृति तथा कृत्रिम सभ्यता के भार से लड़खड़ाती हुई मानव जाति को अतिमानस के विज्ञानमय-लोक की ओर ले जाने वाले एक महान् पथ-प्रदर्शक हैं। स्वतन्त्र मौलिक अनुभूति पर आधारित होने पर भी उनका दर्शन अनायास ही पूर्व और पश्चिम के सभी दर्शनों का एक समुच्चय बन पड़ा है, क्योंकि एक सम्पूर्ण आध्यात्मिक अनुभव किसी भी एकांगी अनुभव को बहिष्कृत नहीं करता बल्कि अपने सर्वग्राही दृष्टि क्षेत्र में सभी को उपयुक्त स्थान प्रदान करता है। अतः श्री अरविन्द का महान् ग्रन्थ "लाइफ डिवाइन" कोई सर्वदर्शन-सार-संग्रह नहीं बल्कि सच्चिदानन्द सत्ता के रहस्य के साक्षात्कार का मानव-सुलभ भाषा में वर्णन है। दर्शन में श्री अरविन्द की प्रणाली पूर्ण योग पर आधारित अनुभव की असीम के तर्क के अनुसार व्याख्या है। एक सम्पूर्ण अनुभव की प्रणाली और उसकी बौद्धिक व्याख्या के लिये तदनुकूल तर्कशास्त्र, ये दोनों ही दर्शन के दो अनिवार्य अंग है क्योंकि दर्शन में स्थान पाने के लिये पहली शर्त अनुभव की तर्कपूर्ण व्याख्या है। अतः श्री अरविन्द कोरे रहस्यवादी अथवा द्रष्टा ही नहीं बल्कि शंकर और ब्रैडले के जोड़ के तार्किक और कांट तथा हैगल के समान बुद्धिवादी हैं। उनका दर्शन पूर्ण अनुभव और अदम्य बुद्धि का अनुपम सामंजस्य है।

श्री अरविन्द के सर्वांग योग का उद्देश्य पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना है। यह दिव्य जीवन सर्वप्रथम एक अन्तरंग जीवन है क्योंकि बाह्य दिव्य

जीवन की स्थापना के लिये अन्तर्जीवन का रूपान्तर पहली शर्त है। श्री अरविन्द के अनुसार प्रकृति का लक्ष्य मानवात्मा का पूर्ण विकास करना है। पूर्ण विकास का अर्थ है सम्पूर्ण जीव में आत्मचेतना का प्रवाह। अतः यहाँ अर्द्धचेतना अथवा अचेतनता का कोई स्थान नहीं है। दूसरे, पूर्ण विकास का अर्थ है सम्पूर्ण जीवन में अन्तरंग और पूर्ण शक्ति का प्रादुर्भाव। अन्त में पूर्ण विकास का अर्थ है विश्व और परमात्मा में प्रसार। अतः दिव्य जीवन में संक्रमित अहंकार की सीमित सत्ता का कोई स्थान नहीं है। वह परिस्थिति-निरपेक्ष है और तन-मन-प्राण पर आधारित नहीं है।

अन्तरंग जीवन का अर्थ व्यक्तिगत अहंकार का संकीर्ण जीवन नहीं है परन्तु इसके विपरीत वह सार्वभौम जीवन की ओर पहला कदम है। वह व्यष्टि और समष्टि के जीवन को एक दूसरे के निकट लाता है। इसी कारण दिव्य जीवन में दूसरों के तन, मन, प्राण एवं आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है। इससे दिव्य प्राणी न केवल प्रेम और सहानुभूति के आधार पर बल्कि अन्य जीवों के प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान के आधार पर कार्य करता है। दिव्य समाजों में पारस्परिक सहयोग के लिये किसी कृत्रिम प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होगी। व्यक्ति-व्यक्ति और समाज-समाज एवं व्यक्ति और समाज में परस्पर विभिन्नता होते हुए भी एक सहज सहनशीलता और सहयोग होगा क्योंकि सभी अपने को उस एक असीम चेतन सत्ता के कार्य-साधन का निमित्त मात्र मानेंगे। श्री अरविन्द ने दिव्य जीवन की इस कल्पना का 'लाइफ डिवाइन', 'ह्यूमन यूनिटी' इत्यादि प्रमुख ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। श्री अरविन्द पहले योगी था और फिर दर्शनकार। उसका दर्शन यौगिक अनुभव का बौद्धिक विश्लेषण हैं। दर्शन, धर्म, नीति, विज्ञान तथा कला सभी योग के आधीन हैं, सभी का लक्ष्य योग ही है। पूर्ण योग पर आधारित होने के कारण श्री अरविन्द के दर्शन में सभी विचार-धाराओं का एक अपूर्व सामंजस्य है, सभी दर्शनों का उचित स्थान है।

श्री अरविन्द का संदेश†

महायोगी श्री अरविन्द का सन्देश विश्व को भारतीय संस्कृति का सन्देश है। एक शब्द में उनका सन्देश सर्वांग जीवन का सन्देश है। सर्वांग जीवन का अर्थ ऐसा जीवन है जिसमें तन, मन और प्राण सभी का समुचित सन्तोष और विकास हो। यह आध्यात्मिक जीवन में ही सम्भव है क्योंकि आत्मा ही निम्न तत्वों का समन्वय कर सकती है। मानसिक स्तर का जीवन एक द्वन्द्वात्मक जीवन है। यह द्वन्द्व ही आधुनिक व्यक्ति और समाज की समस्त समस्याओं का मूल कारण है। इसका एक मात्र सुलझाव मानसिक स्तर का उत्क्रमण करना है। मानव जाति के आध्यात्मिक स्तर पर आरोहण करने से ही विश्व की

---

† आकाशवाणी लखनऊ, इलाहाबाद से २१ अक्तूबर १६५६ को प्रसारित लेखक द्वारा वार्ता

सामाजिक और राजनैतिक समस्यायें सुलझ सकती हैं। अन्य सभी प्रयत्न केवल थोड़ा बहुत ही निदान कर सकते हैं।

यूँ तो श्री अरविन्द से पूर्व भी अनेक मनीषियों ने आध्यात्मिक जीवन का सन्देश दिया है परन्तु आध्यात्मिक जीवन का इतना सर्वांग और स्पष्ट चित्र शायद ही कभी किसी ने उपस्थित किया हो। आध्यात्मिकता की ओट में बहुधा पलायनवाद, निराशावाद, मायावाद और हठवाद इत्यादि एकांगी दृष्टिकोण पलते रहे हैं। निम्न तत्व की अवहेलना करने वाला उच्चतर तत्व भी निम्न के समान ही एकांगी है। हठवादी सन्यासी और भोगवादी गृहस्थ दोनों ही समान रूप से निषेधात्मक हैं। सर्वांग दृष्टिकोण गीता के दर्शन के समान सन्यास और भोग का समन्वय है। श्री अरविन्द ने ही सर्वप्रथम इस तथ्य पर जोर दिया कि आध्यात्मिक विकास सर्वांगीण विकास है। उसमें शरीर, मानस और प्राण सभी का विकास अपेक्षित है। पहले आध्यात्मिक परम्परा में शरीर को निकृष्ट और घिनौना समझकर उसकी अवहेलना की जाती थी। श्री अरविन्द ने दिव्य जीवन के साथ दिव्य शरीर की सम्भावनाओं पर जोर दिया। जड़ तत्व भी ब्रह्म है, केवल यहाँ वह निश्चेतना के आवरण में छिपा है। इस निश्चेतना के आवरण को हटाना होगा। शरीर की जड़ता, प्रमाद, पाशविकता और दुराग्रह को अभ्यास के द्वारा दूर करके भौतिक चेतना को भी आध्यात्मिक विकास की ओर उन्मुख करना होगा। श्री अरविन्द ने इस विषय को अपनी अनेक पुस्तकों में स्पष्ट किया है। पाण्डिचेरी आश्रम में शारीरिक विकास पर इतना जोर देखकर बाहरी व्यक्ति को इस विचित्र 'आश्रम' के जीवन पर आश्चर्य होता है।

श्री अरविन्द के संदेश में यथार्थवाद और आदर्शवाद का अदभुद सामंजस्य है। विज्ञानमय (Supramental) युग की बात करते हुए भी उन्होंने अपने पाँव सदैव ठोस धरती पर रखे हैं। मानव मनोविज्ञान के क्षेत्र में वे प्रकृतिवादियों और मनोविश्लेषणवादियों द्वारा खोज किये सभी सत्यों को मानते हैं परन्तु योग के व्यावहारिक अनुभव के आधार पर उनकी सीमायें भी निर्धारित करते हैं। फ्रॉयड के साथ जीवन में दमित यौन वासनाओं की क्रीड़ा को स्वीकार करते हुये भी वे प्रत्येक कार्य को यौन-सिद्धान्त से समझाने को तैयार नहीं। परन्तु दूसरी ओर वे इन्द्रिय-दमन के दोषों के प्रति भी जागरूक हैं। इन्द्रिय-दमन के दुष्परिणामों को देखकर मनोविश्लेषणवादी 'मुक्त अभिव्यक्ति' को एक मात्र विकल्प मानते हैं। परन्तु यह तो निम्न वासनाओं को और भी बलवान बना देगा। दमन और मुक्त अभिव्यक्ति के विरुद्ध श्री अरविन्द आध्यात्मिक रूपान्तर की आवश्यकता पर जोर देते हैं। निम्न वासनाओं को उठाकर आध्यात्मिक स्तर पर रख देने से न तो पीछे लौटने का खतरा है और न मानसिक रोगों का भय। व्यक्तित्व की संश्लिष्टता मनोविज्ञान की सबसे बड़ी समस्या है। परन्तु रूपान्तर के बिना इस समस्या का कभी स्थायी सुलझाव नहीं हो सकता। मनोवैज्ञानिकों

की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे मानव को पशु मान कर चलते हैं। धार्मिक व्यक्ति उसको बिल्कुल देवता ही मान लेते हैं। श्री अरविन्द के मत में मानव एक विकासशील प्राणी है जो पशु से देवता बन सकता है और यही उसका लक्ष्य है।

धर्मार्थ काम मोक्षाणाम् के प्राचीन भारतीय आदर्श को मानते हुये भी श्री अरविन्द समझौते के स्थान पर रुप की महत्ता पर जोर देते हैं। सर्वांग विकास तन, मन और प्राण का पृथक्-पृथक् विकास अथवा पारस्परिक समझौता नहीं है। उसमें तन मन और प्राण का एक आध्यात्मिक रूपान्तर, चैत्यीकरण और अतिमानसिक स्तर पर आरोहण सन्निहित है। समझौते में पीछे लौटने की सम्भावनायें सदैव बनी रहती हैं। रूपान्तर हो जाने पर यह भय नहीं रहता।

मानसिक जीवन अथवा ज्ञान के क्षेत्र में सब कहीं श्री अरविन्द ने सर्वांग दृष्टिकोण पर जोर दिया है। मायावाद संसार के समस्त ज्ञान को अविद्या ठहरता है परन्तु यह अविद्या ही विद्या की ओर ले जाने का मार्ग है। अज्ञान से ज्ञान में कूदा नहीं जा सकता। मानसिक विकास में अज्ञान का ह्रास और ज्ञान का विकास अन्योन्याश्रित हैं। अतः सांसारिक ज्ञान का व्यावहारिक ही नहीं बल्कि पारमार्थिक क्षेत्र में भी अपना महत्व है। मानव ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में आज नये-नये सिद्धान्तों, नये-नये वादों का बोलबाला है। इनके तुमुल संघर्ष में सत्य का निश्चय करना कठिन है। आवश्यकता किसी नये सिद्धान्त की नहीं, बल्कि एक ऐसे सर्वांग दृष्टिकोण की है, जो एक सर्वांग पूर्ण में सभी वादों के लिये स्थान पा सके, सभी की सीमायें निर्धारित कर सके और फिर सभी से आगे बढ़ सके। दर्शन, कला, साहित्य, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, समाजविज्ञान, राजनीति, धर्म और अध्यात्मशास्त्र तक में श्री अरविन्द इसी प्रकार के सर्वांग दृष्टिकोण पर जोर देते हैं। इसमें संतुलन भी है और सहिष्णुता भी, विवेचन भी है और समन्वय भी तथा उदारता भी है और न्याय भी। विभिन्न क्षेत्रों की समस्या को इस नवीन दृष्टिकोण से देखने पर एक नवीन प्रकाश मिलता है, विचार स्पष्ट होते हैं।

सामाजिक क्षेत्र में श्री अरविन्द न तो एकदम व्यक्तिवादी हैं और न घोर समाजवादी। सामाजिकता का अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं का सर्वथा परित्याग करके एक विराट यन्त्र का पुर्जा मात्र बन जाय। व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक पक्ष पर सामाजिक अधिकार एक खतरनाक सिद्धान्त है, जो मानव की सभी विशेषताओं की अवहेलना करके उसको श्रम की एक इकाई बना डालना चाहता है। व्यक्ति समाज का सुधार और रूपांतर करते और उसको आगे बढ़ाते हैं। व्यक्तित्व का विनाश समाज के विकास को रोक देगा। इस अर्थ में श्री अरविन्द भारी व्यक्तिवादी हैं। परन्तु दूसरी ओर समाज का बहिष्कार करके उसकी अवहेलना करके व्यक्तिगत विकास का प्रयत्न अज्ञान का ही परिचायक है। आत्मा का एक सामाजिक पक्ष भी है जिसकी अवहेलना करने से विकास एकांगी ही होगा। समाज और व्यक्ति के अधिकांश हित अन्योन्याश्रित

हैं। परिवार तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं के बाहर रह कर व्यक्ति में अनेक गुणों का अभाव बना रहता है। आध्यात्मिक विकास में, जैसा कि ईसा ने बतलाया है, दान से समृद्धि, मृत्यु से जीवन और आत्मत्याग से आत्म साक्षात्कार मिलता है।

आर्थिक क्षेत्र में भी श्री अरविन्द का संदेश वही सन्तुलन और सर्वांग दृष्टिकोण लिये है। जहाँ तक भौतिक वस्तुओं के वितरण का सम्बन्ध है, जहाँ तक मानव की आवश्यकताओं और आराम के साधनों का सम्बन्ध है, वहां तक श्री अरविन्द पक्के साम्यवादी हैं। वे पूँजीवाद के घोर विरोधी हैं, और मार्क्स के साथ यह मानते हैं कि काल का प्रवाह पूँजीवाद को अधिक दिन न टिकने देगा। परन्तु भौतिक स्तर से ऊपर उठकर प्राणात्मक और मानसिक सम्बन्धों में साम्यवाद कोई सुलझाव नहीं उपस्थित करता। उसका क्षेत्र केवल भौतिक स्तर है। रोटी की समस्या भौतिक स्तर पर अत्यधिक महत्वपूर्ण होने पर भी जीवन की समस्या नहीं है अतः उसको येन केन प्रकारेण नहीं हल किया जा सकता। वर्ग संघर्ष पर आधारित साम्यवादी साधन मानव के आध्यात्मिक विकास में बाधक हैं। साम्यवाब के आध्यात्मिक रूपान्तर की आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में श्री अरविन्द एक विश्वराज्य के जबर्दस्त हामी हैं। यह विश्वराज्य विश्व के समस्त राष्ट्रों का एक संघ होना चाहिये जिसमें सभी की राष्ट्रीय विशेषताओं का अपना स्थान हो। जिस प्रकार आदर्श राष्ट्र वही है, जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता और पूर्णता का समाज के विकास और संगठन से सामंजस्य हो उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समाज अथवा राष्ट्र में प्रत्येक राष्ट्र की स्वतन्त्रता और विकास का समस्त मानवता के विकास और पूर्णता से सामंजस्य होना चाहिये। विश्व शान्ति की समस्या को सुलझाने में श्री अरविन्द की दिव्य दृष्टि कठोर यथार्थवाद पर आधारित है। सेनाओं में कटौती अथवा निःशस्त्रीकरण कोई स्थायी निदान नहीं है। न ही कुछ दृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय नियम ही विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित कर सकते हैं। एक स्वेच्छापूर्ण और सुदृढ़ विश्व-राष्ट्र ही एकमात्र निदान है। यह विश्व-राष्ट्र, जाति, देश, संस्कृति और आर्थिक सुविधाओं के आधार पर बने भिन्न-भिन्न स्वतंत्र समुदायों का संगठन होगा इसमें कुछ बड़े राष्ट्रों की ठेकेदारी नहीं बल्कि सभी राष्ट्रों को समान अधिकार होंगे। इस विश्व-राष्ट्र की विश्व सरकार की महत्ता स्थायी रखने के लिये उसको एक सबल सैन्य दल रखना होगा। राष्ट्र-राष्ट्र में प्रेम नहीं हो सकता। जब तक मानव स्वभाव परिवर्तित नहीं होता तब तक जीवन का नियंत्रण शक्ति द्वारा ही किया जा सकता है। सैनिक, पुलिस, प्रशासन, विधान, न्याय तथा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी व्यवस्थाओं पर अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का नियंत्रण होना चाहिये।

परन्तु मानव समाज के विकास में विश्व सरकार की स्थापना कोई अन्तिम

कड़ी नहीं है। सभी प्रकार की बाह्य व्यवस्थाएँ कालान्तर में कठोर और गतिहीन हो जाती हैं। इसी कारण राष्ट्रीय समाजवाद से अराजकतावाद का जन्म होता है और यांत्रिक एकता के विरुद्ध व्यक्ति विद्रोह करते हैं। मानव जाति में एक स्थायी एकता स्थापित करने के लिये एक आन्तरिक क्रान्ति की आवश्यकता है। मानवता का धर्म आध्यात्मिक बनना चाहिये और यह आध्यात्मिकता सम्पूर्ण मानव समाज का आन्तरिक नियम बन जाना चाहिये। मानवता का एक आध्यात्मिक धर्म ही मनुष्य जाति को भावी संकट से बचा सकता है। इसका तात्पर्य एक ऐसी विकासोन्मुख सार्वजनीन चेतना से है जो प्राणीमात्र में उस अन्तःस्थ परम शक्ति का अनुभव करे जिसके प्रयोजन की सिद्धि के हेतु मानवता भी एक साधन मात्र है।

स्पेंगलर आदि निराशावादी दार्शनिकों के विरुद्ध श्री अरविन्द मानव जाति के उज्जवल भविष्य में एक अदम्य आशावाद लेकर चलते हैं। यह आशावाद महान् आदर्शवादी होते हुये भी ठोस यथार्थवादी भूमि पर आधारित है। महायोगी केवल दार्शनिक ही नहीं बल्कि एक महान् राजनीतिज्ञ भी थे। उनका संदेश मानव जाति के सर्वांग विकास और दैवी रूपान्तर का सन्देश है। उनकी पैनी दिव्य दृष्टि मानव की बाह्य राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक उथल-पुथल के पीछे छिपे प्रकृति के प्रयोजन को देख लेती है। उनके सन्देश मानव जीवन को उसी दैवी प्रयोजन के सामंजस्य में लिये चलते हैं। वर्तमान व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में उनके सन्देश बड़े दूरदर्शितापूर्ण और समीचीन हैं।

—लेखक



१
सामान्य सिद्धान्त

"आध्यात्मिक और दार्शनिक दोनों ही ज्ञान में शब्दों के प्रयोग में स्पष्ट और यथार्थ होना आवश्यक है ताकि विचार और अनुभव की क्रमहीनता से बचा जा सके जो कि उन शब्दों की अव्यवस्था के कारण होती है जिनको हम उन्हें प्रकट करने में प्रयोग करते हैं।"

— श्री अरविन्द[1]

किसी प्रत्यय की व्याख्या करने का अर्थ है उसकी परिधि अथवा सीमा निर्धारित करना, उसको यथार्थ रूप से निश्चित करना, उसका ठीक-ठीक वर्णन करना अथवा उसके अर्थ का निश्चय करना। इस प्रकार व्याख्या प्रत्यय के यथार्थ अर्थ के स्पष्टीकरण को कहते हैं। मानव बुद्धि के सर्वाधिक व्यापक प्रत्ययों की व्याख्या करना अत्यन्त कठिन है परन्तु फिर भी अधिकाधिक स्पष्टता की ओर सततोन्मुख मानव विचार को उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता भी सदैव उतनी ही अधिक रहती है। दार्शनिक को इन प्रत्ययों पर एकाग्रता से मनन करना पड़ता है जब तक कि वे अपने अनुरूप सद्वस्तु को और भी अधिक यथार्थता से स्पष्ट करने लगें। इस प्रकार, किसी भी प्रत्यय की व्याख्या करने के हेतु दार्शनिक को, प्रत्यय के तर्कपूर्ण विश्लेषण और उसके अनुभव के आलोचनात्मक मनन की दोहरी क्रिया अपनानी पड़ती है। अपने सामान्य अवलोकन में दार्शनिक किसी विशेष प्रत्यय की केवल सामान्य और विस्तृत विशेषताओं का ही निर्देश कर सकता है। स्पष्ट है कि धर्म अथवा दर्शन की व्याख्या किसी विशेष धर्म अथवा दर्शन की व्याख्या न हो कर उनके सर्वसाधारण रूप की ही व्याख्या होगी।

प्रस्तुत अध्याय में लेखक ने दर्शन और धर्म के प्रत्यय को स्पष्ट करने और उनके अन्तर्सम्बन्ध को समझाने की चेष्टा की है। इसके लिये उसने प्रत्यय के तर्कपूर्ण विश्लेषण और उसके इतिहास के समालोचनात्मक निरीक्षण की दोहरी प्रक्रिया

---

१. श्री अरविन्द मन्दिर एनुअल, अङ्क ६, पृष्ठ ४३

को अपनाया है। सामान्यतया दर्शन का इतिहास व्यक्तियों के अनुभवों के तर्कपूर्ण विवेचन का संग्रह है जो कि सत्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः अन्य पहलुओं की कटु आलोचना नहीं बल्कि पूर्ण के प्रकाश में उनका मूल्यांकन करके उन को समुचित स्थान प्रदान करना ही वाँच्छनीय है।

दर्शन का प्रत्यय

अरस्तू ने भौतिक शास्त्र के पश्चात् अध्ययन करने के लिये Meta-physics (तत्व दर्शन) की रचना की। "मैटाफ़िज़िक्स" का शाब्दिक अर्थ है "भौतिकशास्त्र के पश्चात्"। वह अन्तिम विज्ञान है, विज्ञानों का विज्ञान। वह पहला विज्ञान भी है, सब विज्ञानों की जननी। वह उसको सत का विज्ञान (Science of Being) भी कहता है यद्यपि ऐसा विज्ञान असंभव है क्योंकि विज्ञान केवल प्रतीति जगत की क्रियाओं से सम्बन्धित है। दर्शन का सम्बन्ध सत (Being) और संभूति (Becoming) दोनों से ही है। अतः विज्ञान भी उसके अन्तर्गत आ जाता है। मानव नित्यता (Eternity) और अनित्यता दोनों का ही अनुभव करता है। मानव के सम्पूर्ण अनुभव की व्याख्या के रूप में दर्शन सर्वांगीण सत्य की खोज है।

आधुनिक दर्शन के नव-प्रभात में बुद्धिवादियों ने स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों से वियोजित ज्ञान के रूप में दर्शन की परिभाषा की। दर्शन को बुद्धिमय अथवा गणितमय बनाने के इस प्रयास का लक्ष्य उसमें यथार्थता लाना था। परन्तु विचार के माध्यम से दर्शन कभी भी गणित के समान यथार्थ होने का स्वप्न नहीं देख सकता क्योंकि विचार सत होते हुए भी सद्वस्तु (Reality) नहीं है। अयथार्थता दर्शन की दुर्बलता भी है और बल भी। दार्शनिक, ज्ञान का प्रेमी है, उसका सर्वाधिकारपूर्ण स्वामी कभी नहीं। असीम का ससीम के द्वारा पूर्ण ज्ञान तार्किक दृष्टि से नितान्त असंभव है यद्यपि मानव का कर्त्तव्य तो उसकी ओर निरन्तर बढ़ते जाना ही है। सद्वस्तु को रूप और तत्व, विषयी और विषय, "तत" और "सत" में सदैव विभाजित कर देने वाला मानव-विचार सद्वस्तु का प्रतिनिधित्व कभी नहीं कर सकता जोकि एक सर्वव्यापी आध्यात्मिक सत्ता है। दर्शन, तर्क और गणित के आगमन और निगमन का विषय नहीं है।[2] जैसे ज्यामिति के नियम रसायनशास्त्र और शरीरशास्त्र पर लागू नहीं होते वैसे ही वे दर्शन पर भी नहीं लागू होते। अनुभव के प्रत्येक नवीन क्षेत्र के अपने नियम हैं। अपरोक्ष अनुभव से सम्बन्ध विच्छेद होते ही दर्शन मानव बुद्धि की भूलभुलैयाँ में अपना मार्ग खो देता है जिससे हम कहीं नहीं पहुँच पाते।

---

२. "वह (परमतत्व) रासायनिक सूक्ष्मता से भी सूक्ष्म है और इसलिये नाम और रूप के तत्वों को मानदण्ड बनाकर उनके विचार से चलने वाली बुद्धि के आगमन, निगमन, अनुमान अथवा खोज का विषय नहीं हो सकता।"—श्री अरविन्द: द एडवेन्ट, भाग १०, सं० २, पृष्ठ ६५

लॉक, बर्कले और ह्यूम के प्रतिनिधित्व में बुद्धिवादियों के विरोधी अनुभववादी दल ने दर्शन को अनुभव पर आधारित करने की आवश्यकता का बड़े जोर-शोर से प्रतिपादन किया। लॉक ने यह निर्देश किया कि अपनी विषय सामग्री के लिये दर्शन का रूप और साधन अनुभव पर निर्भर है। यह बुद्धिवादी एकांगिता के लिये उचित उपचार था परन्तु दर्शन को ऐन्द्रिक अनुभव तक सीमित करके अनुभववादियों ने पलड़े को दूसरी दिशा की ओर झुका दिया जिसका परिणाम हुआ समस्त दर्शन का निषेध। यह स्वाभाविक था क्योंकि यदि इन्द्रियानुभव ही एक मात्र अनुभव है तो दर्शन आकाश कुसुम की खोज मात्र है। अपने यथार्थ रूप को प्राप्त करने के लिये दर्शन को धार्मिक, नैतिक, वैज्ञानिक, आध्यात्मिक इत्यादि सभी प्रकार के अनुभवों के समावेश के लिये अपने क्षेत्र का विस्तार करना होगा। ह्यूम ने बुद्धि की महत्ता का निषेव किया। परन्तु यदि तर्क केवल वासनाओं का दास मात्र है तो बुद्धि का निषेध, एक तर्क होने के कारण स्वयं ही खंडित हो जाता है। तर्क के विरुद्ध सभी तर्कों में इतरेतर (Hysteron Proteron) दोष है। परन्तु ह्यूम का 'बुद्धिवाद' का खंडन और 'अनुभववाद की मूर्खताओं का स्पष्टीकरण' एक ऐसी शिक्षा है जो दार्शनिकों को कभी नहीं भूलनी चाहिये। तर्क उसका सर्वोत्तम साधन है परन्तु अपनी विषय सामग्री एकत्रित करने के लिये उसे अनुभव पर ही विश्वास करना चाहिये।

कान्ट ज्ञान के विस्तार के बेकन के विचार को निश्चितता के देकार्तीय विचार से जोड़ता है। परन्तु वह भी अन्तिम रूप में दर्शन को संभव नहीं मानता। केवल प्रकृति और ज्ञान का तत्व-दर्शन संभव है। अतः दर्शन के सर्वोच्च पद को पुनः स्थापित करने का कार्य हेगेल पर छोड़ दिया गया। उसके अनुसार दर्शन का उद्देश्य है रूपात्मक सत्ता के प्रत्यय, प्रयोजन और महत्व खोजना, और ज्ञान की व्यवस्था तथा संसार में उनके अनुरूप उनका स्थान निर्धारित करना। वह मूल्यों को एक सुव्यवस्थित पूर्ण में व्यवस्थित करता है। यहाँ पर प्रथम बार हम तथ्यों और मूल्यों की व्यवस्था के रूप में दर्शन का एक सत्य स्वरूप पाते हैं। परन्तु प्रकृति का विचार से तादात्म्य[३] करके हेगेल एक ऐसे बुद्धिवाद पर पहुँचता है जिसकी प्रतिक्रिया में ब्रैडले ने कहा है "दर्शन हमारी मूल प्रवृत्तियों पर आधारित विश्वासों के मिथ्या कारणों की खोज है।"[४]

यह तीव्र व्यंग उन सभी दार्शनिकों के लिये एक सामयिक चेतावनी है जो कि सद्वस्तु को विचारमात्र बनाना चाहते हैं परन्तु सभी दार्शनिक विचारों को मिथ्या कारण कहना तो अतिशयोक्ति ही होगी। आत्मा बुद्धि का विरोध नहीं करती बल्कि उसको सत्य के ग्रहण करने के एक और भी उत्तम साधन के रूप में

---

३. हेगेल : फ़िलासफ़ी ऑफ़ राइट, प्राक्कथन।

४. ब्रैडले, एफ० एच० : एपीएरेन्स एण्ड रीएलिटी, प्राक्कथन।

रूपान्तरित करती है।

यहाँ पर बर्गसाँ के विचार ब्रैडले से अधिक सन्तुलित प्रतीत होते हैं। उसके अनुसार दर्शन को न केवल ऐन्द्रिक बल्कि मानसिक और सहजज्ञानजनित अनुभवों पर भी विचार करना चाहिये। वह सद्अनुभवों[५] पर आधारित होना चाहिये। बर्गसाँ के इस विचार में सच्ची दार्शनिक अन्तर्दृष्टि परिलक्षित होती है कि दर्शन के विभिन्न मतमतान्तरों के अन्तर का कारण, भिन्न-भिन्न प्रकार की बौद्धिक व्याख्या और विस्तार से परिपुष्ट, उनका सद्वस्तु का अपूर्ण दर्शन है। उसका सुझाव है कि दार्शनिक गण परस्पर तुलना और विषमताओं के बहिष्कार से आधारभूत सद्वस्तु के सार्वभौम स्वभाव को समझ सकते हैं।[६]

फिर बर्गसाँ के अनुसार दर्शन "केवल बौद्धिक गवेषणाओं को ही सरल नहीं बनाता, वह हम को कार्य और जीवन की शक्ति भी देता है क्योंकि उसके साथ हम अपने को मानवता में एकाकी नहीं पाते और न ही मानवता उस प्रकृति में पृथक प्रतीत होती है जिस पर वह हावी है।"[७] अन्त में बर्गसाँ केवल वहीं तक बुद्धि-विरोधी है जहाँ तक बुद्धि से उसका अभिप्राय व्यवहारिक जीवन में उसकी साधारण सामर्थ्य से है अर्थात् ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्ध सामग्री पर कार्य करने वाली बुद्धि। अन्यथा सहज ज्ञान की सामग्री को एकत्रित करके और प्रवाहमय प्रत्ययों (Fluid concepts) का निर्माण करके बुद्धि संबोधि से सहयोग कर सकती है।[८] तर्क और संबोधि दोनों ही दर्शन के अनिवार्य साधन हैं।

समकालीन दर्शन के क्षेत्र में बड़ी अव्यवस्था फैली हुई है। सद्वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न मतों को प्रतिपादित करने के हेतु सब प्रकार के तर्कों का प्रयोग हुआ है। बड़े-बड़े वादों के नाम से सब प्रकार की प्रतिक्रियाएँ सर उठा रही हैं। सब प्रकार की प्रणालियों की परीक्षा ली जा चुकी है। परन्तु इन सब मतमतान्तरों के शोर के पीछे प्रकृति का उद्देश्य एक ऐसे पूर्ण दर्शन का प्रादुर्भाव करना प्रतीत होता है जो कि सभी का समन्वय करे और सभी से श्रेष्ठ हो तथा विचार को उसकी हठधर्ममयी तन्द्रा से जगा दे। सच्चा दर्शन सद्वस्तु की एक सार्वभौम झाँकी है। वह वस्तु जगत के मौलिक सत्य की बौद्धिक खोज है।

---

५. "दर्शन केवल पूर्ण में, जीवन के उस सागर में पुनः पठने का एक प्रयत्न मात्र है, जिसमें हम समाये हुए हैं, जहाँ से हम स्वयं श्रम और जीवन की शक्ति पाते हैं और जहाँ से जड़ प्रकृति और बुद्धि दोनों का उद्गम है।" —बर्गसाँ : क्रीएटिव एवाल्यूशन, पृष्ठ २०२

६. 'यदि यह सहज ज्ञान स्थायी, सामान्य और सर्वापरि, मार्ग भ्रष्ट न होने के लिये, बाह्य प्रसंगों से सम्बद्ध किया जा सके तो दर्शन के उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है।"

—बर्गसाँ : वही, पृष्ठ २५२

७. बर्गसाँ : वही, पृष्ठ २८५

८. बर्गसाँ : वही, पृष्ठ २५१

यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि दर्शन को अनुभव पर आधारित करना चाहिये परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, बहुधा 'अनुभव' का अर्थ कुछ विशेष क्षेत्रों में ही सीमित कर दिया गया है। दर्शन के सभी परस्पर विरोधी मतमतान्तरों के मूल में मुख्य दोष हैं—केन्द्र से परिधि की ओर स्थानान्तरण, पूर्ण के स्थान पर अंश की प्रतिष्ठा, बुद्धि की सीमित पहुँच के परे सभी कुछ का कट्टर निषेध और अन्त में असीम के विषयों में सीमित के तर्क की अनधिकार स्थापना। जैसा कि श्री अरविन्द ने सत्य ही कहा है, "दर्शन का कार्य ज्ञान के विभिन्न साधनों द्वारा उपलब्ध सामग्री को, कुछ भी न छोड़ते हुए व्यवस्थित करना और उनको एक सत्य, एक सर्वोच्च सार्वभौम सद्वस्तु से समुचित सम्बन्ध में रखना है।"[९] दर्शन को सर्वग्राही, स्वीकारात्मक, समन्वयवादी और आध्यात्मिक होना चाहिये। फ़िलासफ़ी, शाब्दिक अर्थों में 'ज्ञान का प्रेम' (फ़िलौस=प्रेम+सोफिया=ज्ञान) को केवल "मत" से भिन्न समझना चाहिये। सच्चा ज्ञान, जैसा कि भारतीयों का मत है, उस वस्तु का ज्ञान है जिसके ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।[१०] इसी प्रकार दर्शन परम सद्वस्तु का ज्ञान है। परन्तु सद्वस्तु, जैसा कि भारतीय दार्शनिकों ने यथार्थ ही माना है, केवल सत्तामात्र न होकर चैतन्य और आनन्द भी है। अतः परम सत्य की खोज के रूप में दर्शन मूल्यों का श्रेष्ठतम विज्ञान है।[११] उसको केवल तथ्यों की आलोचना नहीं करनी है बल्कि मानव-अनुभूतियों को भी सन्तुष्ट करना है। उसको मूल्य और सत्ता, धर्म और विज्ञान का समन्वय करना है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "वह वस्तु जगत की यथार्थ सद्सत्ता की यथार्थ खोज होना चाहिये जिससे कि मानव सत्ता अपने नियम और उद्देश्य और अपने पूर्णत्व के सिद्धान्तों को समझ सके।"[१२]

दर्शन और जीवन

अतः साधना और अनुशासन पर बल देने वाले, भारतीय दार्शनिक मत को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है। दर्शन जीवन के निकट होना चाहिये। सत्य के लिये सत्य की खोज का दर्शन में अपना महत्व है और उसके व्यावहारिक प्रभाव में कुछ भी सन्देह नहीं है। परन्तु, जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है, "फिर भी, एक बार ज्ञात हुआ सत्य हमारी अन्तरात्मा और हमारी बाह्य क्रियाओं में

---

९. श्री अरविन्द : द रेनेसाँ इन इण्डिया, पृष्ठ ७२

१०. कस्मिन्नु खलु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति

—मुण्डकोपनिषद, १, १, ३

११. मैत्र, एस० के० : श्री अरविन्द मन्दिर एनुअल, अंक २, पृष्ठ ६१

१२. श्री अरविन्द : ह्यूमन साइकिल, पृष्ठ ६३

उतारने योग्य होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं है तो उसका सर्वांग नहीं बल्कि केवल बौद्धिक महत्व हो सकता है। वह केवल बुद्धि के लिये सत्य होगा और हमारे जीवन के लिये वह किसी विचार की पहेली के हल, एक अमूर्त सत्ता और एक मृतक वस्तु से अधिक नहीं होगा।"[१३] दर्शन मानव जीवन के व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही पहलुओं को प्रभावित करता है। जैसा कि आल्डस हक्सले ने लिखा है, "मनुष्य अपने जीवन दर्शन, अपने विश्व-सिद्धान्त के अनुसार रहते हैं।"[१४]

हमारे समय का अस्तित्ववादी विद्रोह इसी माँग पर जोर देता है। वह तार्किक अथवा प्रकृतिवादी व्यवस्था, विश्लेषणवादी बुद्धिवाद और मृतप्राय विचार के विरुद्ध एक विद्रोह है जो कि दर्शन के प्राणमय केन्द्र को सोख कर उसको ऐसे सिद्धान्तों की निरर्थक खोज मात्र बना देते हैं जिनका हमारे व्यवहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार व्यवहारवाद (Pragmatism) सत्य के व्यवहारिक मूल्य पर जोर देता है। मानवतावाद (Humanism) मानववादी कसौटी Homo Mensura के प्रोटेगोरियन सिद्धान्त को पुनर्जीवित करता है। साधनवाद (Instrumentalism) जीवन में सफल कर्म के साधन मात्र के रूप में ज्ञान की व्याख्या करता है।[१५]

इन सभी मतों में एक महत्वपूर्ण सत्य यह है कि ये सब दर्शन को प्रयोजन युक्त बनाने पर जोर देते हैं परन्तु उसको मानव जीवन की संकीर्ण परिधि में बांध कर वे गलती करते हैं। मूल्यों के विज्ञान के रूप में दर्शन को हमें चरम मूल्य ईश्वर तक ले जाना चाहिये। सत्य के व्यवहारिक मूल्य को मूल्यों की व्यवस्था में समुचित स्थान मिलना चाहिये परन्तु वह सर्वोच्च अथवा एक मात्र मूल्य नहीं हो सकता। पूर्ण मनुष्य होने के लिये मानवता की सीमा को लांघना आवश्यक है अतः मानव नहीं बल्कि अतिमानव ही सभी वस्तुओं का मानदंड है। दर्शन जीवन के लिये है परन्तु जीवन आत्मा के लिये है अतः जीवन नहीं बल्कि आध्यात्मिकता ही दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है।

मूल्य-दर्शनकार विन्डलबैन्ड ने "सार्वभौम मूल्यों का आलोचनात्मक विज्ञान" कहकर दर्शन की यथर्थ परिभाषा की है। परन्तु वह इस सत्य को बिल्कुल भूल गया कि दर्शन के क्षेत्र में मूल्य-निर्णय (Beurteilungen) तथा सम्बन्ध-निर्णय (Urteile) दोनों का स्थान है। सत्ता को छोड़कर मूल्य और यथार्थ को छोड़कर

---

१३. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४५६

१४. आल्डस हक्सले : एण्ड्स एण्ड मीन्स, पृष्ठ २५२

१५. "जब कभी दर्शन पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया तो सदा ही यह मान लिया गया कि वह एक ऐसे ज्ञान की प्राप्ति का बोधक है जो कि जीवन के व्यवहार को प्रभावित करेगा।" —जॉन डिवी : डिमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन, पृष्ठ ३७८

आदर्श का महत्व स्थापित करना मूल्यों को निःसत्व और दर्शन को वृथा स्वप्नमात्र बनाना है। मूल्य अमूर्त्त नहीं बल्कि मूर्त्त सद्‌वस्तुएँ हैं। एल० डब्लूस्टर्न के 'वस्तुओं के दृष्टिकोण' और 'व्यक्तियों के दृष्टिकोण' और मुन्सटरबर्ग के 'मूल्यों के संसार' और 'तथ्यों के संसार, के बीच खाई बनाना अनुचित है। वह एक ही परम निरपेक्ष तत्व वस्तुओं के दृष्टिकोण और व्यक्तियों के दृष्टिकोण का आधार है, वही तथ्यों के संसार और मूल्यों के संसार का तत्व है। फिख्टे का नैतिक मूल्यों का संसार कहानी का केवल एक भाग है। रिकर्ट का West an Sich मूल्य का केवल एक पहलू उपस्थित करता है। दर्शन का सम्बन्ध न केवल मानसिक बल्कि अतिमानसिक और मन से निम्न स्तर के मूल्यों से भी है। मूल्य अन्तःस्थ भी हैं और परात्पर भी, आत्मगत भी हैं और वस्तुगत भी। सद्‌वस्तु के मानसिक ज्ञान के रूप में दर्शन में सभी प्रकार के मूल्य और तथ्य सम्मिलित हैं।

दर्शन और विज्ञान

फिख्टे के अनुसार किसी भी व्यक्ति का दर्शन उसकी अन्तर्प्रकृति पर निर्भर है। दर्शन दार्शनिक के अनुभव की बौद्धिक व्याख्या है। विज्ञान भी अनुभव पर आधारित है। यह समानता हमें दर्शन और विज्ञान के सम्बन्ध के प्रश्न पर ले आती है। प्रो० कॉलिंगवुड के अनुसार "दर्शन पर कोई भी आक्रमण विज्ञान की आधारभूमि पर आक्रमण है।"[१६] परन्तु दर्शन और विज्ञान के सम्बन्ध की यह व्याख्या दर्शन को विज्ञान के आधार पर खड़ा एक ऊपरी ढांचा मात्र बना देती है। इन दोनों के सम्बन्ध का आधार इस तथ्य पर रखा गया है कि दर्शन का सम्बन्ध सामान्य विज्ञान की पूर्वमान्यताओं से है परन्तु वस्तुतः दर्शन और विज्ञान का सम्बन्ध तो उनमें समान रूप से अवस्थित असीम सत्ता की एकता में है। विज्ञान संभूति का अध्ययन करता है और दर्शन सत् का और क्योंकि जो सत् में है वही संभूति में है अतः विज्ञान और दर्शन परस्पर सम्बन्धित हैं। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है, "अतिभौतिक प्रकृति के नियम और सम्भावनाओं को जाने बिना न तो भौतिक प्रकृति के नियम और न सम्भावनाएँ ही जानी जा सकती हैं।"[१७] विज्ञान की असफलतायें दर्शन के सत्यों की प्रमाण न होते हुए भी उन सीमाओं की ओर इंगित करती हैं जिनके पश्चात् विज्ञान को दर्शन के लिये स्थान छोड़ देना चाहिये।

विज्ञान हमको साधन दे सकता है परन्तु मानव जाति की मौलिक समस्याओं का हल नहीं दे सकता। हमारी सत्ता के तत्व और प्रयोजन का ज्ञान पाये बिना यह विज्ञान लाभकारी होने की अपेक्षा घातक ही अधिक सिद्ध हो सकता है। यहीं

---

१६. कॉलिंगवुड : एन ऐसे ऑन मैटाफ़िज़िक्स, पृष्ठ १७०

१७. श्री अरविन्द : द ह्यूमन साइकिल, पृष्ठ ८२

दर्शन की आवश्यकता है। परन्तु दर्शन की खातिर हमें विज्ञान की अवहेलना नहीं करनी चाहिये क्योंकि प्रक्रियाओं का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है जितना कि लक्ष्य का ज्ञान।"[१८] अतः विज्ञान और दर्शन अन्योन्याश्रित हैं।

परन्तु इस परस्पर सम्बन्ध के कारण हमें उनका अन्तर न भूल जाना चाहिये। विज्ञान और दर्शन दोनों ही के कार्यक्षेत्र और कार्य-प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न हैं। विज्ञान एक सीमित क्षेत्र का व्यवस्थित ज्ञान है जबकि दर्शन का सम्बन्ध सभी प्रकार के अनुभवों से है। विज्ञान का सम्बन्ध प्रतीति जगत अथवा प्रकृति से है। दर्शन सद्वस्तु अथवा अतिप्रकृति का ज्ञान है। विज्ञान और दर्शन दोनों ही तर्क के माध्यम से कार्य करते हैं। परन्तु विज्ञान में यह तर्क मिलावटी है जो कि सत् की गहराइयों को नहीं माप सकता और अनुभव की केवल बाह्य परिधि की नाप जोख करता है। वह ऐन्द्रिक, अनुभवजन्य सामग्री की गुत्थियों को सुलझाता, उनका वर्गीकरण और तुलना करता तथा उनसे सामान्य व्यावहारिक सिद्धान्त बनाता है। दूसरी ओर दर्शन शुद्ध तर्क अथवा चेतना के द्वारा कार्य करता है। वह सत के परम सत्य को जानना चाहता है। शंकर के शब्दों में वह 'शुष्क तर्क' के स्थान पर 'शुद्ध तर्क' का प्रयोग करता है। सारांश यह है कि दर्शन को चेतन, अधिचेतन, अतिचेतन धार्मिक, वैज्ञानिक, नैतिक, सामाजिक इत्यादि सभी प्रकार के अनुभवों पर विचार करना चाहिये। दार्शनिक, जैसा कि प्लेटो ने कहा है, "ज्ञान के अंश नहीं बल्कि पूर्ण का प्रेमी होता है।"[१९] यही वह आधारशिला है जिस पर विरोधी मत मिलते हैं।[२०] फिर, प्रत्येक सच्चे दर्शन को अपने युग की समस्याओं को सुलझाना चाहिये और समय की आवश्यकता के अनुसार सत्य की व्याख्या करनी चाहिये। रूप बदलते हैं तत्व नहीं बदलते। दार्शनिक मतों को उनके युग की तुला से ही जांचा जाना चाहिये।

दर्शन-विरोधी मत

हमारे युग के कुछ दर्शन-विरोधी आन्दोलनों ने दर्शन के महत्व पर सन्देह किया है। उनके तर्कों के विरुद्ध दर्शन को बचाने की चेष्टा किए बिना हम प्रो० कॉलिंगवुड के साथ केवल यह कहना चाहते हैं कि उनकी आलोचना "कृत्रिम दर्शन

---

१८. "विज्ञान अन्ततः केवल प्रक्रियाओं का सही ज्ञान है परन्तु फिर प्रक्रियाओं का ज्ञान भी सम्पूर्ण ज्ञान का अंश है और उसके पीछे के गहन सत्य की ओर एक व्यापक और स्पष्ट प्रगति के लिये आवश्यक है।"
—श्री अरविन्द : एवाल्यूशन, पृष्ठ २९

१९. प्लेटो : रिपब्लिक, चतुर्थ पुस्तक

२०. "केवल चेतना के क्षेत्र के विस्तार और हमारे ज्ञान के साधनों में आशातीत वृद्धि से ही पुराना विरोध समाप्त हो सकता है।"
—श्री अरविन्द : द लाईफ़ डिवाइन, भाग १, द्वितीय आवृत्ति, पृष्ठ २५

(Pseudo-metaphysics) की आलोचना है।"[२१] सर्व प्रथम, एक वास्तविक दर्शन विज्ञान से अधिक व्यावहारिक होगा क्योंकि वह सदैव ही समस्याओं की जड़ तक पहुंचता है। सच तो यह है कि आज हमें एक अधिक उत्तम, सच्चे और समन्वयकारी दर्शन की आवश्यकता है जो कि हमारे समय की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिये पर्याप्त रूप से विस्तृत हो। दूसरे, प्रमाणित न हो सकने के कारण दर्शन की अवहेलना नहीं की जा सकती। यद्यपि उसके निरपेक्ष सिद्धान्तों को विज्ञान के सापेक्ष सिद्धान्तों के समान प्रमाणित नहीं किया जा सकता परन्तु वे अपरोक्ष रूप से प्रमाणित और इसलिये सबसे अधिक निश्चित हैं। ब्रैडले अथवा नागार्जुन के निषेधात्मक मत का महत्व केवल इस तथ्य का पोषण करने में है कि मूर्त अनुभव के आधार के बिना तर्क हम को कहीं नहीं ले जाता अन्यथा दर्शन तो अदम्य है। दर्शन का निषेध स्वयं एक निषेधवादी दर्शन है। सब प्रकार के दशन-विरोधी निर्णयों में इतरेतर दोष हैं। परन्तु तर्क ही तो अन्तिम सीमा नहीं है। आत्मा के अपरोक्ष अनुभव में जब हम शुद्ध ज्ञान पर पहुंचते हैं तब तर्क की कोई आवश्यकता नहीं रहती। पूर्ण ज्ञान तर्क के द्वारा नहीं बल्कि चेतना के द्वारा ही सम्भव है जो कि प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा सद्वस्तु को जानती है। दृष्टाजनों का मत है कि अतिमानस के स्तर पर समस्त दर्शन सत्य की एक प्रत्यक्ष झाँकी बन जाता है। इसी को श्री अरविन्द ने बौद्धिक दर्शन का भावी उत्तराधिकारी "अतिमानस ज्ञान" कहा है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि मानव अतिमानव के स्तर पर पहुंच जाए। विज्ञानमय पुरुष के वंश के अवतरण तक दर्शन बुद्धि के बिना नहीं रह सकता क्योंकि मानसिक स्तर पर सार्वभौम होने के लिये उसको बौद्धिक भी होना चाहिये।

धर्म का प्रत्यय

शाब्दिक अर्थों में 'रिलीजन' एकता और सामंजस्य का सिद्धान्त है (लैटिन : रिलीजिओ ओनिस; रि=वापस अथवा पुनः, लिगेअर=बांधना)। 'रि' से यह बोध होता है कि एकता के दोनों विषय मूल रूप में एक ही थे और केवल अस्थायी रूप से पृथक हो गये हैं। इस प्रकार धर्म मानव और ईश्वर, ससीम और असीम की परम एकता में आस्था पर आधारित है और इस कारण कोई भी धर्म जो कि मानव और ईश्वर के बीच स्थायी खाई खोदता है परोक्ष रूप से अपने धर्म कहलाने के अधिकार का ही निषेध करता है। यदि मानव सार रूप में दैवी नहीं है तो कोई भी सच्चा धर्म असम्भव है। भौतिकवाद, मानव द्वारा संसार की उन्नति में विश्वास करने वाला मत (Meliorism), नैतिकतावाद और व्यवहारवाद पर आधारित धर्म अपने प्रयोजन को ही भूल जाता है। मान लिया कि "रिलीजन" शब्द से दैवी सत्ता की ओर कोई निर्देश नहीं होता परन्तु दैवी

२१. कॉलिंगवुड : एन एसे ऑन मैटाफिजिक्स, पृष्ठ ४८

सत्ता के अतिरिक्त किसी से भी मानव की पूर्ण एकता संभव ही नहीं है। क्या ससीम से एकता उतनी ही पूर्ण हो सकती है जितनी असीम से एकता ? सीमित प्रेम स्वभावतया ही सदैव सीमित और इस कारण अपूर्ण रहेगा। प्रत्येक धर्म जो कि दैवी सत्ता को छोड़कर मानव को किसी अन्य से मिलाना चाहता है सदैव अपूर्ण रहेगा। ईश्वरीय धर्म ही एक मात्र स्वनामधन्य धर्म है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु मानव के धर्म को अतिमानव का धर्म बन जाना चाहिये।

धर्म की व्याख्या करते हुए हेगेलवादियों ने उसमें बुद्धि के अंश पर जोर दिया है। जैसा कि प्रो० मैक्टैगार्ट ने कहा है, "धर्म स्पष्टतया ही एक मानसिक अवस्था है......मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वह हममें और विस्तृत विश्व में एक सामंजस्य की आस्था पर आधारित एक भावना के रूप में सर्वोत्तम रीति से वर्णन किया जा सकता है।"[२२] इस प्रकार का सिद्धान्त सभी धर्मों में एक प्रकार के बौद्धिक ज्ञान को आवश्यक तत्व मानता है परन्तु अनेक धार्मिक व्यक्तियों ने कभी किसी प्रकार का दार्शनिक अथवा बौद्धिक विचार विकसित नहीं किया। धर्म का सर्वोत्तम साधन प्रेम न तो अनुभूति है और न ज्ञान बल्कि एक चैत्य प्रक्रिया (Psychic Phenomenon) है। चैत्य तत्व को मानसिक अथवा प्राण सम्बन्धी तत्वों से पृथक न करने के कारण धर्म की प्रकृति के विषय में अनेक मिथ्या विचार फैल गए हैं। एक अर्थ में धर्म में अनुभव का शुद्ध बुद्धि की क्रिया से तादात्म्य किया जा सकता है परन्तु मानव को ईश्वर की ओर प्रेरित करने वाली श्रद्धा न तो शुद्ध और न मिश्रित तर्क है बल्कि मानव के दैवी भविष्य में आन्तरिक चैत्य आस्था है। धर्म "मानस की श्रंखलाओं से मुक्त वस्तु के महत्व की स्थापना" नहीं है जैसा कि जैन्टाइली ने सोचा था और न वह व्हाइटहैड के शब्दों में "जो कुछ व्यक्ति स्वयं अपने एकान्त के साथ करता है" वह ही है। वह न तो वस्तु विषयक है न आत्म विषयक। वह चित्त विषयक है जो कि विषय और विषयी दोनों है। आध्यात्मिकता सभी धर्मों का सार रूप है।

श्लीअरमाकर और रिटशैल प्रभृत विचारकों का एक अन्य दल धर्म की व्याख्या में अनुभूति को प्रधान तत्व मानता है। धर्म का विषय रहस्यमय है, मोहक है और उदात्त है। उसके सन्मुख हम काँप उठते हैं परन्तु फिर भी उसकी ओर खिचते जाते हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण धर्म को निम्न प्रकृतिजन्य बना देता है जबकि ईश्वर की प्राप्ति में आस्था के रूप में धर्म अतिमानस स्तर का तथ्य है। वह ब्रैडले की "मूलप्रवृत्ति" और "ऐन्द्रिक अनुभूति" नहीं बल्कि एक सहजज्ञानमय चित्तप्रधान आस्था है।

नीतिवादी धर्म के नैतिक पक्ष पर जोर देते हैं। मैथ्यू आरनल्ड धर्म की व्याख्या "भावनामय नैतिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं" के रूप में करता है।

---

२२. मैक्टेगार्ट : सम डॉग्माज़ ऑफ रिलीजन, पृष्ठ ३

कान्ट नैतिक संकल्प की प्राथमिकता पर बल देता है और ईश्वर को केवल नैतिक मान्यता के रूप में लाता है। ब्रैडले कहता है कि "नैतिकता एक अधिक ऊंचे शुभ के स्तर पर पहुंचती है। वह वहां समाप्त होती है जिसको हम धर्म कहते हैं।"[२३] "नैतिक न होना एक नैतिक कर्त्तव्य है और यह कर्त्तव्य है धार्मिक होना।"[२४] उपरोक्त मत चैत्य तत्व को मानसिक तत्व से पृथक नहीं कर पाते। अनैतिक न होते हुए भी धर्म नीति से परे है क्योंकि धर्म का विषय समस्त मानव मूल्यों का अतिक्रमण करता है। एक चैत्य प्रेरणा के रूप में धर्म में विचार, संकल्प और अनुभव सभी सम्मिलित हैं परन्तु तो भी वह इन सभी से अधिक है।

व्हाइटहैड के समान विलियम जेम्स भी धर्म की इस प्रकार व्याख्या करता है "व्यक्तियों की अपने एकान्त की अनुभूतियाँ, कर्म और अनुभव जहाँ तक कि वे अपने को उस सत्ता से सम्बन्धित पाते हैं जिसको कि वे दैवी कहते हैं।"[२५] यह परिभाषा धर्म के दैवी तत्व पर यथार्थ रूप में जोर देते हुये भी उसके वस्तुविषयक और सामाजिक पहलू को भूल जाती है। व्हाइटहैड और जेम्स दोनों ही धर्म में मोक्ष और सीमाओं से मुक्ति के पहलू को भुला देते हैं जिसमें कि मानव अपने एकाकीपन से उठकर दैवी सत्ता की उपस्थिति का अनुभव करता है। 'एकाकी की ओर एकाकी की उड़ान"[२६] के रूप में धर्म की परिभाषा उन रहस्यवादियों के वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो कि व्यक्तिगत मोक्ष पर ही बल देते हैं। परन्तु इसके विपरीत आधुनिक युग की चेतना श्री अरविन्द के सार्वभौम मोक्ष के आदर्श में परिलक्षित होती है। जब तक हम अपने साथियों से ऐक्य का अनुभव नहीं करते तब तक हमारी दैवी सत्ता से पूर्ण एकता सम्भव नहीं है। धार्मिक अर्थों में एकाकी होने का तात्पर्य भागवत सत्ता की उपस्थिति में होने से लगाना चाहिये जो कि किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा हित को नहीं छोड़ती बल्कि जो सभी प्राणियों का इति अथ है।

हॉफ़डिंग "मूल्यों के संरक्षण में आस्था"[२७] के रूप में धर्म की व्याख्या करते हैं। यह परिभाषा जहाँ एक ओर मूल्य के रूप में धर्म के तत्व को यथार्थ ही पहचानती है वहाँ उसके व्यवहारिक रूप को भुला देती है। धर्म केवल मूल्यों के संरक्षण में नहीं बल्कि उनकी सिद्धि में आस्था है। फिर, धर्म के तत्व के रूप में मूल्य केवल नैतिक नहीं हैं क्योंकि ईश्वर नीति अनीति से परे है। अलेग्जैन्डर इस परिभाषा

---

२३. ब्रैडले, एफ० एच० : एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ ३८८

२४. वही, पृष्ठ ३९१

२५. विलियम जेम्स : वैराइटीज ऑव रिलीजस एक्सपीरियेन्स, पृष्ठ ३२

२६. प्लॉटिनस : द नियोप्लेटोनिस्ट्स, पृष्ठ १०३

२७. "Faith in the conservation of value."—Hoffding.
देखिये—एलेक्जेन्डर : स्पेस टाइम एण्ड डीटी, भाग २, पृष्ट ४०८

को यथार्थ ही अत्यधिक बौद्धिक मानता है परन्तु यह कहने में कि "ईश्वर को सर्वोच्च मूल्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि कोई ऐसा निर्मूल्य (Unvalue) नहीं है जिससे उसकी तुलना हो सके"[२८], वह निरपेक्ष विधेयों को सापेक्ष विधेय (Predicate) मान लेता है। यदि किसी वस्तु में मूल्य होता है तो वह किसी मूल्यहीनता की तुलना में होता है क्योंकि सीमित वस्तुओं के विधेय सापेक्ष होते हैं। परन्तु ईश्वर के विषय में बात कुछ दूसरी ही है। जो कुछ ईश्वर के विषय में कहा जाता है वह निरपेक्ष है और उसके विरोधी के निषेध की आवश्यकता नहीं। फिर अलैग्जैन्डर के अनुसार "धर्म ईश्वर में आस्था है" अथवा वह "यह स्थायीभाव है कि हम उसकी ओर खिंचते हैं और अनुभव के एक उच्चतर स्तर की ओर उसके प्रवाह में फंस जाते हैं।"[२९] यह परिभाषा धर्म की कुछ विशेषताओं को स्पष्ट करती है। यह सर्व प्रथम यह निर्देश करती है कि धर्म हमको ईश्वर और उच्चतर अनुभूति की ओर ले जाता है और दूसरे कि धर्म ईश्वर में आस्था है। परन्तु इसमें सिद्धि के महत्व को नहीं पहचाना गया है। अलैग्जैण्डर संकेत करता है कि "दैवी तत्व की सिद्धि होने पर मूल्य उत्पन्न होंगे परन्तु तब तो वह दैवी ही नहीं रह जायेगा क्योंकि तब प्रेरणा दैवी के देवत्व की ओर होगी और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहेगा।"[३०] इस प्रकार ईश्वर का कभी भी मूल्य से तादात्म्य नहीं हो पाता। परन्तु इस प्रकार का संभावित ईश्वर धर्म की माँगों को सन्तुष्ट नहीं करता। यथार्थ ईश्वर के बिना धर्म एक अर्थहीन कल्पना है। धर्म का ईश्वर यथार्थ और परम तथा इस कारण सर्वोच्च मूल्य होना चाहिये। जो प्रभावित करता है वह अपने प्रभाव के कारण ही यथार्थ है। ईश्वर हमारे जीवन को प्रभावित करता है अतः वह यथार्थ है।

डॉ० मैत्र के मतानुसार धर्म "मूल्यों की सिद्धि में आस्था है।"[३१] यहाँ पर मूल्य यथार्थ हो भी सकते हैं और नहीं भी जबकि धर्म का आलम्बन सदैव सत् होता है। फिर, जैसा कि हमने देखा, ईश्वर सर्वोच्च मूल्य है जिसमें कि सभी मूल्य सुरक्षित रहते हैं। ईश्वर में मूल्य और सत्ता का योग है। वह परम मूल्य भी है और परम सत्ता भी अतः **ईश्वर की सिद्धि में आस्था** के रूप में धर्म की परिभाषा की जा सकती है। उसका लक्ष्य यह अथवा वह मूल्य न होकर सर्वोच्च मूल्य स्वयं भागवत सत्ता ही है। श्री अरविन्द के शब्दों में सारांश यह है "कि धर्म का सर्वाधिक आन्तरिक तत्व...ईश्वर की सिद्धि है। उसकी आकांक्षा है

---

२८. वही, पृष्ठ ४१०

२९. वही, पृष्ठ ४२६

३०. वही, पृष्ठ ३४८

३१. मैत्र, एस० के० : श्री अरविन्द मन्दिर एनुअल, भाग २, पृष्ठ ६१

असीम, निरपेक्ष, एक, भागवत सत्ता की खोज जो इन सभी वस्तुओं में है और फिर भी अमूर्त न होकर सत् पुरुष है। उसका कार्य मानव और ईश्वर में सच्चे और परम सम्बन्धों का जीवन व्यतीत करना है, ऐक्य के सम्बन्ध, अनैक्य के सम्बन्ध, एक ज्योतिर्मय ज्ञान के सम्बन्ध, एक रसावेशजनित प्रेम और आनन्द, एक पूर्ण आत्म-समर्पण और सेवा, हमारी सत्ता के प्रत्येक अंश को उसके साधारण स्तर से निकालकर मानव की भागवत सत्ता की ओर उर्ध्वोन्मुखी प्रगति में ढालना और भागवत सत्ता का मानव में अवतरण।"[३२]

धर्म का दर्शन

दर्शन तथ्यों और मूल्यों की एक बौद्धिक व्यवस्था है। धर्म सर्वग्राही परम मूल्य ईश्वर की सिद्धि में आस्था है। अतः धर्म के दर्शन का कार्य अपनी भाषा में और मानव के तार्किक तथा बौद्धिक अंगों के हेतु धर्म के सत्यों, अनुभूतियों और नियमों की यथासंभव सर्वोत्तम व्याख्या करना है। धार्मिक अनुभूतियों की व्याख्या करने में कितने भी अशक्त होने पर भी, व्यक्तिगत अनुभवों को सार्वजनीन बनाने के हेतु तर्क और भाषा अनिवार्य हैं। धर्म का दर्शन धार्मिक अनुभूतियों का बौद्धिक विश्लेषण और तार्किक व्याख्या है। वह धर्म में उस सब प्रकार की कट्टरता और तर्कहीनता के विरुद्ध एक उपयुक्त औषधि है, जो कि धर्म के नाम पर फैले हुये इतने अधिक अन्धविश्वासों के लिये उत्तरदायी है।[३३] आस्था कोई बौद्धिक विश्वास नहीं है। धर्म तर्क का विषय नहीं है परन्तु उसको तार्किक आलोचना के सन्मुख भी अपने प्रमाणपत्र उपस्थित करने योग्य होना चाहिये। सच्ची भक्ति यथार्थ सत्य पर आधारित होनी चाहिये। अतः धर्म को अनुशासित करना धर्म के दर्शन का पवित्र कर्त्तव्य है। तर्क बुद्धि से निम्न तत्वों पर नियंत्रण करता और मानव को बुद्धि से परे संकेत करता है। यह कहने में कुछ सत्य अवश्य है कि इस अतिमानसिक तत्व के कारण धर्म अनिर्वचनीय है परन्तु धर्म से समस्त तर्कहीन तत्वों को दूर करने के लिये दर्शन अत्यन्त आवश्यक है।

परन्तु दर्शन को धर्म के अतिमानसिक तत्व का विश्लेषण करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। धर्म का विवेचन करने वाला दार्शनिक स्वयं भी धार्मिक होना चाहिये। स्वयं व्यक्तिगत अनुभव किए बिना कितना भी बौद्धिक मनन करने से धर्म समझ में नहीं आ सकता। साधारण प्रत्यक्ष और विश्लेषण के द्वारा धर्म के अनुभवों की व्याख्या करने के सभी प्रयत्नों में मनोवैज्ञानिक की भ्रान्ति (Psychologists' fallacy) का दोष है। दर्शन के बिना धर्म बिना पतवार की

---

३२. श्री अरविन्द : ह्यूमन साइकिल, पृष्ठ १६०

३३. "धर्म एक क्षण भी नहीं खड़ा रह सका होता यदि वह महान् सत्यों की बौद्धिक व्याख्या से अपनी पुष्टि नहीं करता चाहे वे कितने ही अपर्याप्त हों।"

—श्री अरविन्द : व्यूज एण्ड रिव्यूज, पृष्ठ २

नौका के समान है परन्तु फिर भी पतवार तो नौका के स्थान पर काम नही दे सकती।

धर्म का दर्शन अनुभव पर आधारित होना चाहिये। उसकी समस्त समस्याएँ, आस्था, उपासना, परम्परा, अनुभूति और अमरत्व इत्यादि अनुभव के अन्तर्गत ही आती हैं। परन्तु जब बिना किसी यथार्थ अनुभव की सहायता के तर्क धर्म की आलोचना करने लगता है तभी धर्म के दर्शन में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार के प्रयत्न बाल-क्रीड़ावत प्रतीत होते हैं जो कि वयस्क जनों के कार्यों को नहीं समझता। केवल निरीक्षण, वर्गीकरण और साधारणीकरण पर आधारित एक धर्म का विज्ञान बनाने के सभी प्रयत्न निष्फल हैं क्योंकि जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है "धार्मिक ज्ञान के उन अंशों में भी जहाँ कि वे बौद्धिक क्रियाओं के अधिकाधिक समान होते हैं प्रकाश देने वाली शक्तियाँ कल्पना, तर्क और बौद्धिक निर्णय नहीं बल्कि अनुभव, प्रेरणाएँ, सहज ज्ञान और सहज प्रत्यक्ष इत्यादि होते हैं जो कि अतिमानसिक प्रकाश के स्तर से हमारे पास आते हैं।"[३४] सच तो यह है कि धर्म का विज्ञान संभव ही नहीं है क्योंकि अनेक बाह्य समानताएँ होने पर भी विज्ञान और धर्म के लक्ष्य और विधियाँ भिन्न-भिन्न हैं। तथ्यों के संग्रह, उनके वर्गीकरण, तुलना और अन्त में उनसे कुछ सामान्य सिद्धान्त बनाकर धार्मिक अनुभूति के तत्व को नहीं जाना जा सकता।

रूपक, लक्षण और उपमा के प्रयोग बिना बुद्धि से धार्मिक अनुभव की व्याख्या नहीं की जा सकती। भाषा अनुभव के तथ्यों की लाक्षणिक अभिव्यक्ति है। अतः वह भिन्न-भिन्न तथ्यों के अनुरूप परिवर्तनशील होनी चाहिये। भाषा अनुभव के अनुरूप होनी चाहिये, अनुभव भाषा के अनुरूप नहीं। दर्शन को धर्म की भाषा, उसके दिव्य अनुभवों और लक्षणों के अर्थों को समझना सीखना चाहिये।

दर्शन, धर्म और विज्ञान

मानव ज्ञान की प्रत्येक शाखा के अपने तर्क, अपने गुण और अपना कार्य-क्षेत्र होता है और प्रत्येक ही मानव ज्ञान के द्वन्द्वात्मक विकास में सहायक है। दर्शन सत के सनातन रूपों को तर्कानुसार व्यवस्थित करता है। धर्म सत के व्यक्तिगत सम्बन्धों को व्यवहारिक अनुभव की दृष्टि से व्यवस्थित करता है। विज्ञान सत के पृथक पृथक रूपों और प्रकारों को निरीक्षण और विश्लेषण के द्वारा व्यवस्थित करता है। दर्शन तार्किक विश्लेषण पर आधारित व्यवस्था है, धर्म भागवत सत्ता से योग में आस्था है और विज्ञान उसके पृथक पृथक रूपों का निरीक्षण और विश्लेषण है। इस प्रकार एक परम भागवत सत्ता में सभी परस्पर सम्बन्धित हैं जो कि उनका सामान्य विषय है। भिन्न-भिन्न मार्गों से सभी ईश्वर

---

३४. श्री अरविन्द : द ह्यूमन साइकिल, पृष्ठ १६०-१६१

की ओर जाना चाहते हैं। सभी उसकी ओर अपने-अपने दृष्टिकोण से देखते हैं। दर्शन के परम सत्य धर्म में अनुभव के विषय हो जाते हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में, "एक धर्म जो कि दार्शनिक सत्यों की अभिव्यक्ति नहीं है, अन्धविश्वास और रूढ़िवाद के स्तर पर उतर आता है और एक दर्शन जो कि धार्मिक चेतना से जीवन ग्रहण नहीं करता एक थोथा प्रकाश है क्योंकि वह स्वयं को व्यवहार में नहीं उतरवा सकता।"[३५] जबकि दर्शन मस्तिष्क को सन्तुष्ट करता है, धर्म हृदय को सन्तोष देता है और क्योंकि सद्वस्तु को हमारी सम्पूर्ण सत्ता को सन्तुष्ट करना चाहिये अतः दोनों ही समान रूप से आवश्यक हैं।[३६] हेगेल का दर्शन को सर्वोच्च मानना पूर्ण के स्थान पर अंश को रखने के समान है। समस्त दर्शन, धर्म और विज्ञान भागवत सत्ता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये साधन मात्र हैं।

दर्शन मौखिक है और धर्म व्यावहारिक है। व्यवहार के बिना सिद्धान्त एक थोथा मानसिक विश्वास मात्र है और सिद्धान्त के बिना व्यवहार केवल अंध प्रवृत्ति है। धर्म का कार्य मानव को अतिमानव की ओर ले जाना है, उसको आध्यात्मिकता का जामा पहनाना और अज्ञान के मानसिक स्तर से होकर आत्मा के क्षेत्र में ले जाना है। कान्ट के Critique of Pure Reason में उसका अज्ञेयवाद बौद्धिक दर्शन के पक्षपातियों के लिये एक उपयुक्त शिक्षा है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि दर्शन को उसकी अन्ध तन्द्रा से जगाया जाए और उसको विज्ञान का दास न बनने दिया जाए। मूल्यों को पुनः उनके उच्च स्तर पर ले जाना अनिवार्य है और दर्शन को आध्यात्मिक बनना ही चाहिये।

यह कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि धर्म के बिना सभी दर्शन व्यर्थ है। सत्य के लिये सत्य की खोज का भी अपना मूल्य होता है। दर्शन धर्म के बिना भी मानव के आध्यात्मिक भविष्य पर कुछ प्रकाश डाल सकता है। कोई भी गम्भीर विचारक ज्ञान मीमाँसा शास्त्र के सत्यों की अवहेलना नहीं कर सकता। आत्मा और विचार की अदम्यता के प्रदर्शन का अपना महत्व है। तर्क बुद्धि को शिक्षित करता और सन्देहों को दूर करता है। परन्तु परम सत्य तो धर्म और दर्शन के सहयोग से प्राप्त हो सकता है।[३७]

---

३५. श्री अरविन्द : आइडियल एण्ड प्रोग्रैस, पृष्ठ ५६

३६. "हृदय और मस्तिष्क सार्वजनिक आदर्श हैं और न तो हृदय बिना मस्तिष्क तथा न मस्तिक बिना हृदय ही मानव का आदर्श हो सकता है।"

—श्री अरविन्द : व्यूज़ एण्ड रिव्यूज़, पृष्ठ ३

३७. 'विज्ञान शक्ति के परिमाण और उपयोगिताओं पर अधिकार जमाता है, बौद्धिक दर्शन तर्क की अन्तिम सूक्ष्मताओं तक पहुंचता है परन्तु दिव्य प्रेरणामय दर्शन और धर्म ही सर्वोच्च रहस्य, उत्तमम् रहस्यम् को पकड़ पा सकते हैं।"

—श्री अरविन्द : हेराक्लाइटस, पृष्ठ ३०

समस्त ज्ञान ईश्वर का ज्ञान है। भागवत सत्ता में ही हमारा अर्थ और इति है। भगवान से भगवान तक है हमारी यात्रा। "उस तक एक आध्यात्मिक उपस्थिति के रूप मे पहुँचना धर्म का लक्ष्य है, उसके प्रकाश, प्रेम, बल और विशुद्धता की प्रकृति के सामंजस्य में विकसित होना नीति का लक्ष्य है, उसके शाश्वत सौन्दर्य और आनन्द के सामंजस्य में स्वयं को ढालना और उपयोग करना ही हमारी सौन्दर्य सम्बन्धी आवश्यकताओं और प्रकृति का लक्ष्य और चरम परिणति है, उसके सत्य के शाश्वत सिद्धान्तों को जानना और उसके अनुरूप बनना ही विज्ञान और दर्शन तथा ज्ञान की ओर हमारे समस्त आग्रह का लक्ष्य है।"[३८] इस प्रकार, दर्शन, धर्म और विज्ञान सभी का अपना स्वधर्म है और लक्ष्य प्राप्ति के लिये अपनी प्रणालियाँ हैं। पूर्ण ज्ञान में, इनमें से कोई भी दूसरे के आधीन नहीं है और न ही कोई बहिष्कृत होता है परन्तु सभी आध्यात्मिक विकास के और भी उत्तम साधन बनने के हेतु रूपान्तरित हो,जाते हैं। आत्मा के विषय में कोई भी दार्शनिक निर्णय केवल एक बौद्धिक सूत्र होता है परन्तु फिर भी वह एक बहुत बड़ी बाधा को हटाने में सहायक होता है और विद्रोहिणी बुद्धि को आत्मा के सत्य के सन्मुख झुका सकता है। इसी प्रकार की सहायता धर्म, नीति और विज्ञान से मिल सकती है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "समस्त गुह्य ज्ञान, समस्त असाधारण मनोवैज्ञानिक अनुभव और अनुशासन उस गुह्य, स्वयं विकासशील आत्मा के मार्ग की ओर हमें इंगित करने वाले संकेत चिह्न और निर्देश मात्र हैं।"[३९]

---

३८. श्री अरविन्द : द ह्यूमन साइकिल, पृष्ठ १६१

३९. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ६५४

२

ज्ञान और सत्य

"क्योंकि अन्त में यही दर्शन का मानव के लिये वास्तविक महत्व है कि उसको अपनी सत्ता की प्रकृति के विषय में प्रकाश दे, उसके मनोविज्ञान के सिद्धान्त, विश्व और ईश्वर से उसके सम्बन्ध, उसके भविष्य की महान् सम्भावनाओं की निश्चित रूपरेखा को स्पष्ट करे।"

—श्री अरविन्द[1]

पूर्ण ज्ञान और सत्य दर्शन की सनातन खोज का विषय है। ज्ञान सद्वस्तु को ग्रहण करना है और सत्य है निर्णय का एक लक्षण। ज्ञान पर आधारित निर्णय सत्य हैं जबकि अज्ञान पर आधारित निर्णय असत्य की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान और सत्य, अज्ञान और असत्य अन्योन्याश्रित हैं। दर्शन उनमें भेद बतलाता और उनकी व्याख्या करता है। इस भेद का दर्शन की प्रकृति पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। ज्ञान की प्रकृति और अज्ञान से उसके सम्बन्ध पर आत्मा, विश्व और ईश्वर की प्रकृति अवलम्बित है। अतः किसी विशेष दर्शन में इन प्रत्ययों के मूल्य की समालोचना करने के पूर्व ज्ञान और अज्ञान, सत्य और असत्य के विषय में उसके विचारों का मूल्यांकन करना आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में इसी प्रयोजन को 'आलोचना के द्वारा रचना' की प्रणाली से प्राप्त करने की चेष्टा की गई है।

औपनिषदीय मत

ज्ञान और अज्ञान के विरोध पर मनन वेद और उपनिषदों के काल से ही प्रारम्भ हो गया था। उपनिषदों में वैदिक शब्द चित्ति और अचित्ति के स्थान पर विद्या और अविद्या का प्रयोग हुआ। विद्या 'एक' का ज्ञान है और अविद्या 'अनेक' का। संभूति का स्तर सत् से निम्नतर अवश्य है परन्तु फिर भी उपनिषदों के अनुसार सत् ही स्वयं संभूति जगत बन जाता है। ज्ञान सत्ता के रहस्य की खोज

---

१. श्री अरविन्द : हेराक्लाइटस, पृष्ठ ४५

है। 'कस्मिन्नु खलु भगवो विज्ञाने सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'"[२] इस प्रकार उपनिषद अनुभवात्मक संसार के उद्‌गम, आधार, सत्व और कारण की खोज करते हैं। ऋषियों की खोज का विषय अतिभौतिक था क्योंकि भौतिक उनको सन्तुष्ट नहीं कर सका। याज्ञवल्क्य पूछता है कि "वह कौन सा यथार्थ मूल है जिससे उस (मृत्युरूपी) कृष्ण वर्ण काटने वाले के द्वारा बार-बार काटे जाकर भी जीवन का वृक्ष पुनः पुनः उग आता है।"[३] उस काल में पारलौकिक ज्ञान को अतीव महत्व-पूर्ण माना जाता था परन्तु फिर भी उस परम की खोज ही सर्वोच्च प्रेरणा थी। इस प्रकार उपनिषदों के अनुसार ज्ञान समस्त सत्ता के एक सत्व का ज्ञान है और साथ ही है उस तक पहुँचने के मार्ग का ज्ञान भी। यह विद्या है, अविद्या की विरोधी, अविद्या व्यवहारिक प्रतीति जगत और 'अनेक' का ऐन्द्रिक और मानसिक ज्ञान है। यही श्री अरविन्द का मत है। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है "···विश्वगत और निरपेक्ष सत्ता को एक ही सूत्र में बांधते हुए ज्ञान और सद्‌वस्तु का यह प्रत्यक्ष मौलिक रूप में हमारे विचार के समान ही है क्योंकि उसके अनुसार अज्ञान भी एक अर्द्ध आवरणमय ज्ञान है और सांसारिक ज्ञान आत्मिक ज्ञान का एक अंश।"[४] उपनिषद् विद्या और अविद्या में खाई नहीं बनाते। ईश्वर विद्या के बिना नहीं जाना जा सकता परन्तु इस कारण अविद्या सत्ताहीन और असद् नहीं हैं। उच्च, निम्न का उत्क्रमण अवश्य करता है परन्तु उसका निरोध न करके उसे एक उच्चतर पूर्ण में समन्वित कर लेता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "निम्न को छोड़ना नहीं बल्कि हमें प्राप्त हुए उच्चतर के प्रकाश में उसको रूपान्तरित करना ही भागवत सत्ता का स्वभाव है।"[५]

शंकर का अद्वैत

परन्तु उपनिषद का यह सांगोपांग मत शीघ्र ही शंकर के अद्वैत में अपनी तार्किक एकांगिता पर जा पहुँचा। शंकर ने पारमार्थिक तथा व्यावहारिक ज्ञान में भेद किया। उसके अनुसार व्यावहारिक ज्ञान वस्तु से इन्द्रिय सम्पर्क द्वारा उत्पन्न मन की वृत्तियों से उत्पन्न होता है। वह प्रकट होता है और अन्तर्ध्यान होता है।

"चक्षुः संयुक्तान्तः करणवृत्तिः सक्रियते इति जायते विनश्यति च।"[६] इसके विपरीत सनातन ज्ञान प्रगट और अन्तर्ध्यान नहीं होता क्योंकि वह ज्ञाता का स्वरूप होता है (दृष्टुः स्वरूपत्वात)। ऐन्द्रिक ज्ञान के विरुद्ध यह सनातन ज्ञान

२. मुण्डकोऽपनिषद १, १, ३,
३. बृहदारण्यक उपनिषद्, ३, ९, २८
४. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४१८
५. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृष्ठ ४५
६. बृहदारण्यक उपनिषद्, शंकर की टीका।

"ज्ञाता का ज्ञान" (दृष्टुं दृष्टि:) भी कहा जा सकता है। ऐन्द्रिक ज्ञान, जिसको शंकर ने प्लेटो के समान ज्ञाता के ज्ञान की "प्रतिच्छाया" कहा है, कभी नष्ट नहीं हो सकता।

चतुःसूत्री की अपनी टीका के अन्त में शंकर अपने पक्ष में किसी आचार्य सुन्दर पांडे नामक ब्रह्मवेत्ता के तीन श्लोक उधृत करते हैं। इनमें से अन्तिम श्लोक इस प्रकार है, जैसे कि शरीर में आत्मा को देखना प्रामाणिक माना जाता है उसी प्रकार यह व्यवहारिक ज्ञान भी आत्मज्ञान प्राप्त होने तक प्रामाणिक माना जाता है।

"देहात्म प्रत्ययोयद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पित:
लौकिकं यद्वदेवेदं प्रमाणंत्वाऽऽत्मनिश्चयात् इति।"[७]

इस प्रकार यहाँ पर शंकर का मत है कि तथा कथित अज्ञान ही समस्त ज्ञान का कारण है। वही हमारे लिये अद्वैत के सहज ज्ञान का प्रकार है जोकि अन्त: करण की एक विशेष मनोवैज्ञानिक अवस्था होने के कारण निरपेक्ष और अनिवार्य रूप से सद् नहीं है। शंकर कहते हैं "अत: मैं ब्रह्म हूँ" इस में ही प्रामाणिक ज्ञान के अन्य सभी साधनों के विषयों का अवसान होता है।"

"तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधय:
"सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि।"[८]

प्रत्यक्ष और अनुमान तथा ज्ञान के अन्य समस्तप्र माण जो कि ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय, दृष्टा और दृष्य के भेद पर आधारित हैं अन्तत: अद्वैत आत्मा की अनुभूति में समा जाते हैं। इस प्रकार अज्ञान का उपयोग ज्ञान की ओर ले जाने में हैं।

परन्तु अज्ञान के विषय में इस प्रकार का मत शंकर के दर्शन के अनुरूप नहीं है क्योंकि आगे चलकर वह अज्ञान को मिथ्या, माया, अविद्या और सत्ताहीन तक कह देता है। व्यावहारिक और पारमार्थिक स्तरों में भेद करके शंकर सांसारिक ज्ञान के लिये स्थान बनाने को उत्सुक है परन्तु फिर भी वह ज्ञान और अज्ञान के बीच की खाई को भरे बिना ही छोड़ देता है। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है "सार्वभौम अज्ञान में रहना अन्धता है परन्तु स्वयं को ज्ञान के पूर्ण निरपेक्षवाद में सीमित रखना भी अन्धापन है। ब्रह्म ज्ञान एक ही साथ ज्ञान भी है और अज्ञान भी। संभूति और असंभूति एक साथ दोनों से ही परम स्थिति को प्राप्त करना, परात्पर और विश्वगत आत्मा के साक्षात्कार को परस्पर सम्बन्धित करना, पारलौकिक में आधार और लौकिक में आत्मबोधमय अभिव्यक्ति प्राप्त करना, यही अमरत्व पर अधिकार है।"[९]

---

७. शांकर भाष्य, १, १, ४

८. वही

९. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४१६

ब्रैडले भी अपने निरपेक्ष पर कुछ इसी प्रकार पहुँचा है परन्तु उसमें दृश्य रूपों का निरोध न होकर उनका किसी प्रकार से पूर्ण में सामंजस्य हो जाता है। यहाँ एक प्रकार से अज्ञान को ज्ञान में स्थान प्राप्त होता है। परन्तु शंकर की व्यवस्था में अज्ञान का कोई स्थान नहीं है। वह कहता है "अतः प्रत्यक्ष इत्यादि प्रामाणिक ज्ञान के अन्य साधन केवल अविद्या के विषयों से सम्बन्धित हैं।"

"तस्मादविद्या वद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।"[१०]

इसको सिद्ध करने के लिये दो तर्क उपस्थित किये गये हैं। प्रथम कि आत्मा ज्ञाता नहीं है। अतः प्रमाण उस पर लागू नहीं होते और दूसरे क्योंकि वहाँ पशु इत्यादि से कोई विशेषता नहीं है।

"पश्वादिभिश्चाविशेषात्।"[११]

परन्तु यदि ऐसा है तो शकर को जीवनमुक्ति की संभावना मानने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि जब तक आत्मा इन्द्रिय इत्यादि सहित शरीर में सीमित है तब तक मानव पशुओं के समान व्यवहार करने को बाध्य है। रामानुज ने यह प्रश्न ठीक ही उठाया है कि यदि ज्ञान के प्रत्येक साधन का सम्बन्ध केवल अविद्या के विषय से है तो सत्य पर किस प्रकार पहुँचा जा सकता है? यहाँ पर शंकर ने बाध्य होकर यह मान लिया है कि शास्त्र कम से कम हमें यह अवश्य बतलाते हैं कि आत्मा क्या नहीं है। परन्तु असत्य से सत्य किस प्रकार ज्ञात हो सकता है? अथवा यदि ज्ञाता ही नहीं है तो कौन जानता है? फिर यदि ज्ञाता तथा ज्ञान दोनों ही असत्य और भ्रम मात्र हैं तो समस्त शास्त्र और मोक्ष प्राप्त करने के समस्त प्रयत्न व्यर्थ हैं। शंकर के मतानुसार, जैसा कि श्री अरविन्द ने दिखलाया है, "हम एक भ्रमात्मक मिथ्या संसार में एक भ्रमात्मक मिथ्या आत्मा के एक भ्रमात्मक मिथ्या बन्धन से मोक्ष के परम शुभ पर आते हैं जिसको उस मिथ्या आत्मा को खोज करनी पड़ती है।"[१२]

शंकर ने अरुन्धती नक्षत्र दिखाने की औपनिषदीय प्रणाली के वास्तविक महत्व को नहीं समझा। ज्ञान के क्रमिक विकास में कोई भी सीढ़ी असत्य अथवा मिथ्या नहीं है बल्कि अज्ञान में प्रत्येक कदम ज्ञान की ओर ही एक कदम है। ज्ञान अज्ञान से कोई छलांग नहीं बल्कि एक क्रमिक अनावरण है। सर्वोच्च सत्य अथवा पूर्ण ज्ञान, आँखें बन्द करके निरपेक्ष में छलांग लगाने से नहीं प्राप्त हो सकता बल्कि सत्य चेतना में धैर्यपूर्वक पैठने से होगा जहाँ कि असीम अपनी अथाह समृद्धि की पूर्णता में जाना, देखा, छुआ और अनुभव किया जा सके। स्पष्ट है कि यह द्वन्द्वात्मक तर्क का विषय नहीं है। भ्रम, ज्ञान और अज्ञान हमारी

---

१०. शांकर भाष्य, १, १, १

११. वही

१२. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४८

अपनी चेतना के अनुभव अथवा परिणाम हैं और अपने में ही गहन दृष्टि से देखने से हम ज्ञान और अज्ञान, सत अथवा भ्रम की प्रकृति और परस्पर सम्बन्ध को जान सकते हैं। अज्ञान मिथ्या अनेक का भ्रमात्मक अनुभव मात्र नहीं है। उसी प्रकार ज्ञान भी विश्व का विरोध करते हुये निरपेक्ष, अथवा अनेक का उत्क्रमण करते हुये एक, और समस्त गुणों के विरोध में निर्गुण का अनुभव नहीं है बल्कि उसकी अभिव्यक्ति के रूप में ससार सहित ब्रह्म का साक्षात्कार है। ज्ञान और अज्ञान दो परस्पर विरोधी, एक विश्व सृजनकारी और दूसरा विनाशक तत्व नहीं हैं। वे दो साथ रहने वाली शक्तियां हैं, दोनों संसार में उपस्थित, अपनी प्रक्रियाओं में विरोधी रूप से कार्य करने वाली परन्तु तत्व रूप से एक, और एक प्राकृतिक रूपान्तर से एक दूसरे में बदल जाने की क्षमता रखने वाली हैं। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि फिर भी अज्ञान ज्ञान पर अवलम्बित है।

व्यवहारवादी सिद्धान्त

अद्वैत के पूर्णतया विश्वनिरोधक मत के विरुद्ध व्यवहारवादी (Pragmatists) सांसारिक हितों को परम मूल्य के आसन पर बैठा देते हैं। व्यवहारवादियों के अनुसार ज्ञान सद्वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि और भी उन्नत, व्यावहारिक सामंजस्य के लिये जैविक रूप से विकसित एक साधन मात्र है। यह मत विचार के स्थान पर संकल्प पर अधिक जोर देता है। सद्वस्तु उसके लिये एक परिवर्तनशील विकासमान प्रक्रिया है। ज्ञान की इस प्रकार की परिभाषा उन लोगों के लिये एक उत्तम उपचार है जो दर्शन को व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध न रखने वाला केवल मौखिक ज्ञान बनाना चाहते हैं। इस मत का दोष यह नहीं है कि वह दूर नहीं जाता बल्कि यह कि वह जितनी दूर जाना चाहिये उतनी दूर नहीं जाता। मानव की आवश्यकताएं निःसन्देह जीव सम्बन्धी हैं परन्तु फिर भी उसकी कुछ उच्चतर आवश्यकताएँ हैं जो इनको भी सम्मिलित कर लेती हैं। ज्ञान जीवन के लिये है परन्तु जीवन ईश्वर के लिये है। अतः ज्ञान जीव सम्बन्धी आवश्यकताओं के किये नहीं बल्कि आध्यात्मिक विकास का साधन है। व्यावहारिक ज्ञान अपने क्षेत्र में प्रामाणिक है परन्तु वही एक मात्र ज्ञान नहीं है। व्यावहारिक ज्ञान के मार्ग को प्रशस्त करने के लिये एक उच्चतर ज्ञान की आवश्यकता है।

परन्तु व्यवहारिवादियों के अनुसार ज्ञान क्रिया है। वह स्वयं सत्य नहीं है बल्कि सत्य बन जाता है। दूसरी ओर शंकर ज्ञान और क्रिया में तीन प्रकार के सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करते हुये कहता है कि ज्ञान क्रिया नहीं है। परन्तु फिर भी ये दोनों ही पक्ष इतने परस्पर विरुद्ध नहीं हैं जितने कि वे प्रथम दृष्टि में दिखाई पड़ते हैं। सच तो यह है कि वे दो प्रकार के ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं, व्यावहारिक और आध्यात्मिक। शंकर ने व्यावहारिक ज्ञान का मूल्य माना है परन्तु फिर भी उच्चतर ज्ञान में उसको कोई स्थान नहीं दिया और इस कारण व्यावहारिक और आध्यात्मिक, जीवन और ईश्वर-साक्षात्कार में गहरी खाई छोड़

दी। परन्तु एक वास्तविक पूर्ण ज्ञान में दोनों का ही समुचित स्थान होना चाहिये। भौतिकवादी और हठवादी दोनों के ही निरोध एकांगी है। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है "हमारा सच्चा सुख हमारी सम्पूर्ण सत्ता के सही विकास में हमारी सत्ता के सम्पूर्ण क्षेत्र में विजय में, बाह्य और उससे अधिक आन्तरिक, स्थूल तथा गुप्त प्रकृति पर अधिकार में है। हमारी सच्ची पूर्णता बाह्यस्तर पर चक्कर काटने में नहीं बल्कि उसका उत्क्रमण करने में है।"[१३] इस प्रकार जैसे-जैसे हम पूर्ण ज्ञान में प्रगति करते हैं हम अपनी मानसिक, प्राण सम्बन्धी और शारीरिक आवश्यकताओं को नहीं छोड़ते बल्कि उनकी एक नवीन रूप में व्याख्या करते हैं।

कान्ट का द्वैतवाद

जिस प्रकार पूर्व में शंकर ने उसी प्रकार पश्चिम में कान्ट ने सत और उस की प्रतीति में परस्पर विरोध माना है। ऐन्द्रिक ज्ञान पृथक-पृथक संवेदनाओं में सहज ज्ञान के रूपों में आता है जिनका पुनः वर्गीकरण होता है और फिर प्रत्यक्ष का समन्वय करने वाली तात्विक एकता (Transcendental unity of apperception) में उसका समन्वय होता है। हमारा ज्ञान हमारी आन्तरिक रचना के द्वारा सीमित है और "वस्तु-स्वयं" (Ding an sich) अज्ञेय ही छूट जाती है। इस प्रकार कान्ट के निर्णय के अनुसार यथार्थ ज्ञान मानव की पहुंच से परे है। यह ज्ञान के प्रति विशुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोण का स्वाभाविक परिणाम है।[१४] कान्ट ने अप्रत्यक्ष रूप से यह माना है कि कोई कालातीत. अतिमानसिक, सत और स्वयं सद्वस्तु अवश्य है जिससे टकराकर मन और इन्द्रियाँ वापस लौट आते हैं। अब, सद्वस्तु कभी भी एक से अधिक नहीं हो सकती क्योंकि किन्हीं भी दो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिये एक तीसरे आधार की आवश्यकता है जिसकी एकता में वे मिल सकें। फिर यदि सद्वस्तु एक ही है तो हमें विद्या और अविद्या दोनों को एक ही चैतन्य की दो शक्तियां मानना पड़ेगा। अब या तो दोनों शक्तियाँ पूर्णतया असम्बद्ध हों जो कि एक ऐसा मत है जिसकी हम पहले ही आलोचना कर चुके हैं अथवा वे एक ही सद्वस्तु के दो पक्ष होने चाहिये। अज्ञान निर्ज्ञान (Nescience) नहीं है बल्कि सद्वस्तु का एक आंशिक रूप से सत्य और आंशिक रूप से असत्य अनुभव है जैसा कि तत्व को छोड़कर प्रतीति मात्र के अंशों को देखने वाला सभी ज्ञान होना चाहिये। जड़ और प्राण में होते हुये भी अज्ञान का

१३. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ५३२

१४. "यदि मस्तिष्क ही सब कुछ है अथवा यदि हमारा बाह्य मन ही हमारी सत्ता की प्रकृति का परिचायक है तब हम काल में चक्कर खाते हुये और एक अत्यन्त अल्प और अंश रूप में ज्ञान को पकड़ने वाले एक अज्ञान से अधिक कुछ कभी नहीं हो सकते।"

—श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ २५६

मूल मन में है जिसका काम ही नापजोख, सीमित करना, विशेष बनाना और इस प्रकार विभाजित करना है। परन्तु उसमें 'उस' का प्रयोजन और सिद्धान्त भी निहित है जो उसका उत्क्रमण करता है। अतिमानस में आत्मविस्तार और रूपान्तर के द्वारा वह अपने यथार्थ तत्व को पाकर एक पूर्ण के रूप में विकसित कर सकता है। विचार को ज्ञान का एक निरर्थक साधन घोषित करते हुये ब्रैडले ने यह भुला दिया है कि वैयक्तीकरण नहीं बल्कि एकाँगिता ही अज्ञान का लक्षण है। मन की वैयक्तीकरण की शक्ति अज्ञान तभी बनती है जबकि वह स्वयं को उच्चतर तत्वों से पृथक कर लेती है।

श्री अरविन्द का सर्वांगवाद

श्री अरविन्द के अनुसार ज्ञान एक, चिरंतन, असीम और समन्वयकारी ब्रह्म ही है। पूर्ण सद्वस्तु में ही सर्वांगपूर्ण ज्ञान है। वह कोई नवीन अथवा अभी तक अविद्यमान वस्तु नहीं है जो उत्पन्न की जानी है, प्राप्त की जानी है, सीखी जानी है, आविष्कार की जानी है अथवा बनाई जानी है। असली बात तो उसका पता लगाना या अनावरण करना ही है। वह एक ऐसा सत्य है जो आध्यात्मिक खोज करने वाले के सन्मुख स्वयं ही आ जाता है क्योंकि वह हमारी महत्तर और अन्तरंग आत्मा में निहित है। वह हमारी अपनी आध्यात्मिक चेतना का सत्व है और उसकी ओर अपनी बाह्य आत्मा में भी जाग्रत होने से ही हम उसे प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी ओर चेतन पुरुष की अनेक रूप में आत्मलवलीन और आत्मसंकोचमय एकाग्रता की शक्ति के रूप में माना जाने वाला अज्ञान उसके अपने आत्म-चेतन ज्ञान में परिवर्तन करने की स्वाभाविक सामर्थ्य है। निरपेक्ष की अपनी अभिव्यक्ति से सम्बन्ध में यह भी एक संभव अवस्था है।

सृष्टि का मौलिक तत्व चेतना तीन प्रकार से कार्य करती हुई अनुभव की जाती है। प्रथम है एकता और अनेकता दोनों को लिये हुये परम भागवत आत्म-ज्ञान। इसके विपरीत है स्वयं चेतना का पूर्ण निर्ज्ञान, एक प्रभावशाली, गतिशील रचनात्मक निश्चेतना (Inconscience)। इन दोनों, ज्ञान और निर्ज्ञान के मध्य है अज्ञान "आत्मा के पूर्ण आत्म-ज्ञान को स्वयं रोकने का हमारा अपना स्वाभाविक मार्ग।" अज्ञान खोज रहा है और अपने अन्धकार को क्रमशः स्वयं में ही छिपे ज्ञान में प्रकाशित करते हुये अपना रूपान्तरण करने की चेष्टा कर रहा है।

ज्ञान केवल मानसिक प्रक्रिया न होकर समस्त सत्ता का विषय है। एक सर्वांगपूर्ण आध्यात्मिक चेतना के रूप में वह अपने में सत के सभी अंगों के ज्ञान को लिये रहता है। वह मध्य के समस्त स्तरों से होता हुआ उच्चतम को निम्नतम से जोड़ता है और एक अविभाज्य पूर्ण की प्राप्ति करता है। भौतिक, प्राणात्मक, मानसिक और अन्त में आध्यात्मिक, सभी स्तर ज्ञान की प्राप्ति में समान रूप से भाग लेते हैं। उनमें कोई भी संघर्ष, अज्ञान और असत्य की ओर ले जा सकता है। पूर्ण ज्ञान में आत्म साक्षात्कार की तीन सीढ़ियाँ हैं जो कि एक ही ज्ञान

तीन पहलू भी हैं। प्रथम है गुह्य चैत्य पुरुष का ज्ञान। दूसरी सीढ़ी है समस्त जीवों में भागवत सत्ता को देखना। तीसरी सीढ़ी है उस भागवत सत्ता का ज्ञान जो कि एक ही साथ हमारी परम परात्पर आत्मा, विश्वपुरुष, हमारी सार्वजनीनता का आधार और आन्तरिक भागवत सत्ता है।

निरपेक्ष की अपनी चेतना में एक ही अविभाज्य सत्ता में बंधी हुई चार शक्तियाँ हैं। प्रथम है सारभूत (Essential) जो कि एक ओर है अतिचेतन शान्ति और दूसरी ओर निश्चेतना। दूसरी है सर्वांग (Integral) सच्चिदानन्द संपूर्ण चेतना, उसकी अतिमानसिक एकाग्रता। तीसरी अनेक रूपमय सम्पूर्ण अथवा विश्वगत अधिमानसिक (Overmental) ज्ञान है। चौथी, विभाजनकारी अज्ञान की स्वाभाविक प्रकृति है। इस प्रकार अज्ञान चेतना-शक्ति की एक अवस्थिति है। अज्ञान के मूल में एक सीमित, व्यावहारिक आत्म-विस्मरण और एकांगी एकाग्रता है। यह मानव में उसकी भूत और भविष्य को भूलकर केवल वर्तमान में ही रहने की आदत के कारण और भी अधिक हो जाती है। यह उपस्थित क्षण में रहने वाली स्थिति एक व्यवहारिक सत्य, एक अंशतः सत्य, अंशतः असत्य ज्ञान है क्योंकि जो कुछ वह भूल जाता है वह मानव के अन्तर्गत सब कुछ रखने वाली सर्वांग चेतना में स्थिर रहता है। जिस प्रकार एक समय में एक ही कार्य में एकाग्रता मस्तिष्क की दुर्बलता नहीं बल्कि शक्ति है उसी प्रकार अहंकार पर चेतना की एकांगी एकाग्रता से एक व्यावहारिक प्रयोजन सिद्ध होता है और जिस प्रकार पहले को मस्तिष्क किसी भी समय तोड़ सकता है उसी प्रकार मनुष्य, यद्यपि उतनी सरलता से नहीं तथापि कठोर आत्मानुशासन, आत्मगांभीर्य, आत्मविकास और आत्मविस्तार द्वारा सद् आत्मा पर पहुँच सकता है। अतः दोनों ही दशाओं में भेद वास्तविक न होकर प्रतीति मात्र है। अज्ञान अपने क्षेत्र में प्रामाणिक है परन्तु ज्ञान द्वारा उसका क्रमशः निवारण होना चाहिए।

अज्ञान का प्रयोजन

श्री अरविन्द के अनुसार "अज्ञान प्रकृति का आत्मा और समष्टि को किसी प्रयोजन से, उनको एक ओर छोड़ते हुए, उनको अपने पीछे रखते हुये भूलना है, ताकि केवल वही किया जा सके जो कि उसे सत्ता की किसी बाह्य क्रीड़ा में करना है।"[१५] अज्ञान का प्रयोजन आत्मविस्मरण और आत्मा की खोज के चक्र का चलाना है, जिसके लिये आत्मा ने प्रकृति में अज्ञान का आवरण ओढ़ा है। ज्ञान के सीमित करने में उसका उद्‌गम है। उसका विशेष गुण है पुरुष को उसकी सर्वांगीणता और सम्पूर्ण सद्वस्तु से पृथक करना। उसकी सीमाएँ चेतना के इस विभाजनकारी विकास से निश्चित होती हैं क्योंकि वह हमारी वास्तविक आत्मा और वस्तुओं की सच्ची प्रकृति को हमसे छिपा देता है और हमें एक प्रतीति

---

१५. वही, पृष्ठ ३५०

मात्र बाह्य सत्ता में रहने को बाध्य करता है। अज्ञान के विना विकास असंभव है क्योंकि ज्ञान में विकास का अर्थ है अज्ञान का निवारण। अभिव्यक्ति की कल्पना केवल तभी की जा सकती है जबकि अज्ञान में ज्ञान का विस्तार हो। अज्ञान के बिना सत्ता दिव्य और पूर्ण होने पर भी गतिहीन होगी। हमारे अनुभव का संसार ऐसा नहीं है। संसार न तो पूर्ण है और न निष्प्रयोजन पतन। सर्वांग दृष्टि होने पर संसार में पर्याप्त प्रयोजन और कौशल दिखाई पड़ेगा। संसार को उस सर्वचेतन की एक अनिवर्चनीय भूल मानना मानव के भविष्य पर कुठाराघात करना है। अज्ञान एक प्रयोजनमय अवतरण है, एक दिव्य अवसर है, विश्वगत ज्ञान के द्वारा स्वयं पर आरोपित एक अधीनस्थ तथापि आवश्यक अवस्थिति है। अपनी सत्ता और अपनी प्रकृति के विरोधी प्रतीत होने वाले तत्वों में स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिये दिव्य सच्चिदानन्द अवतरित होता है। परन्तु अभी इस विषय को यहीं पर छोड़ा जायेगा और आगे छठे और आठवें अध्याय में उसका और भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायेगा।

अज्ञान का आधार

अब प्रश्न यह उठता है कि अज्ञान का उद्गम, केन्द्र और आधार क्या है? अद्वैत के अनुसार यह व्यावहारिक तथ्य होते हुए भी अनिवर्चनीय है। शंकर ने ब्रह्म और माया, ज्ञान और अज्ञान, परात्पर और व्यावहारिक में पूर्ण भेद माना है। परन्तु यह शंकर के 'ब्रह्म को सब कुछ मानने के सिद्धान्त' के अनुरूप नहीं है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "यदि ब्रह्म ही समस्त सत्ता है तो माया ब्रह्म की सामर्थ्य, उसकी चेतना की एक शक्ति अथवा उसके सत् का ही एक परिणाम है और यदि ब्रह्म में एकरूप जीवात्मा उसकी माया के वशीभूत है तो उसमें का ब्रह्म ही माया के वश में है।"[१६] द्वैत भी कोई हल नहीं है क्योंकि वह एकता के सांगोपांग अनुभव का विरोधी है। विशिष्टाद्वैत केवल तथ्य का वर्णन मात्र है और इस समस्या का कोई हल उपस्थित नहीं करता कि 'वह' जिसका सत्व निरपेक्ष की एकता में है अपने गतिमय रूप में विभाजित और अज्ञान के वशीभूत क्यों हो जाता है?

समकालीन जर्मन अस्तित्ववादी (Existentialist) हाइडेगर ने नागार्जुन के समान परम सद्वस्तु 'क्यों' के ज्ञान की सभी संभावनाओं का निषेध किया है क्योंकि मानव केवल अर्थों को बनाता है प्रकृति को नहीं। परन्तु हाइडेगर का यह मत अज्ञेयवाद नहीं है क्योंकि उसने भय में Nothing के ज्ञान की संभावना को माना है। हाइडेगर ने यथार्थ ही कहा है कि व्यक्ति पूर्ण का ज्ञान कभी नहीं पा सकता। परन्तु उसका नथिंग सद्वस्तु का केवल निषेधात्मक वर्णन है। वह शून्य

---

१६. वही, पृष्ठ ३३१

नहीं है क्योंकि वह सत का निरोध नहीं करता यद्यपि वह शुद्ध और निर्गुण है। हाइडेगर के अनुसार सत न तो बुद्धिहीन सत्तामात्र है और न ही बुद्धिग्राह्य विश्व, न तो सत्ता का आधार है और न ही ईश्वर। उसका प्रत्ययों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। वह "नथिंग" है, समस्त सत्ता का आदि और अन्त। परन्तु सत का इस प्रकार का सिद्धान्त संसार को चित्र विचित्र अनेकता की व्याख्या नहीं करता। अपनी समस्त विविधता के साथ व्यक्ति सत्ता किस प्रकार "नथिंग" में उत्पन्न होती है यह दर्शन की मौलिक समस्या है जिसे हाइडेगर ने अज्ञेय माना है। परन्तु इस प्रकार का अज्ञेयवाद उचित नहीं है। "नथिंग" एक सीमा है। वह हाइडेगर की 'फिनामिनॉलॉजी' की प्रणाली के परे है। सत कुछ नहीं भी है और सब कुछ भी क्योंकि "......पूर्ण 'कुछ नहीं' से कुछ नहीं आ सकता, कुछ प्रतीतिमात्र भी नहीं, एक भ्रम भी नहीं।"[१७] ज्ञान अज्ञान का विरोध नहीं करता बल्कि उसमें से होकर विकसित होता है। मान लिया कि, जैसा हाइडेगर ने लिखा है, कि हमारा युग धर्म और दर्शन के पश्चात् का समय है तथापि यदि वह एक आरोहण अथवा विकास भी है तो उसे इनका निषेध नहीं करना चाहिये। आध्यात्मिकता को धर्म तथा दर्शन दोनों को ही सन्तुष्ट करना चाहिये।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, श्री अरविन्द के अनुसार अज्ञान एक विभाजक ज्ञान है जो कि अनेक की आधारभूत एकता को भुला देता है। इस प्रकार का अज्ञान स्पष्ट ही सच्चिदानन्द में आधारित नहीं हो सकता जोकि सांगोपांग और अविभाज्य तथा पूर्ण है। "पूर्ण ब्रह्म अपनी पूर्णता में अज्ञान का स्रोत नहीं हो सकता क्योंकि उसकी पूर्णता स्वभावतया ही सम्पूर्ण चेतना है।"[१८] अतः अज्ञान न तो मौलिक और न आदिम है। माया, यदि वह उस चिरतंन की चेतना की एक मौलिक शक्ति है, तो स्वयं अज्ञान नहीं हो सकती बल्कि आत्म ज्ञान और सर्वज्ञान की एक परात्पर और सार्वजनीन शक्ति होनी चाहिये। अज्ञान केवल एक तुच्छ, एकांगी और आपेक्षिक तथा गौण क्रिया हो सकता है। नाही अज्ञान अनेक का स्वभाव हो सकता है क्योंकि द्वैतभाव मानसिक और भौतिक के बाह्य स्तर का ही गुण है। अपनी पूर्णता में अथवा अनेक की प्रत्येक आत्मा में अनेक एक अथवा अन्य के विषय में अनजान नहीं हो सकता। अतः अज्ञान न तो एक का स्वभाव है और न अनेक का क्योंकि दोनों ही समान रूप से सत हैं। वह मानसिक स्तर पर निरपेक्ष एकाग्रता का फल है।

एक अन्य प्रसिद्ध अस्तित्ववादी जीन पॉल सार्त्र अनेक में इस प्रकार की एकता की समस्त सम्भावनाओं का निषेध करता है। मानव ईश्वर बनने की आकांक्षा करता है परन्तु सिद्धान्त रूप से ईश्वर स्वयं आत्म-विरोधी है क्योंकि Pour-

१७. वही, पृष्ठ ३३३
१८. वही, पृष्ठ ३५०

Soi और En-Soi की किसी Pour-Soi-En-Soi में वास्तविक एकता असम्भव है। जैसा कि सार्त्र ने कहा है "इस संसार में प्रत्येक मानव सत्ता उसी समय उसके अपने 'पोर सोइ' को किसी एन-सोइ-पोर-सोइ में रूपान्तरित करने का फल है और स्वयं सत के पूर्ण के रूप में संसार को एक मौलिक गुण की अनेकता में अपनाने की योजना है। संसार में प्रत्येक मानव सत्ता एक उद्वेग है क्योंकि वह सत को पाने के लिये स्वयं को खोने की योजना है और उसी क्रिया में वह एन-सोइ बनाती है जोकि स्वयं अपना आधार होने के कारण नश्वरता से बच जाती है, जिसको धर्म ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार मानव का आवेग ईसा से विपरीत है क्योंकि ईश्वर की उत्पत्ति के हेतु मानव अपने को मानव के रूप में खो देता है। परन्तु ईश्वर का विचार आत्मविरोधी है और हम अपने को व्यर्थ ही खोते हैं। मानव एक व्यर्थ का आवेग है।"[१९] इस प्रकार सार्त्र के अनुसार मानव तत्व रूप में पूर्ण शान्ति पाने की वृथा ही आशा करता है। व्यक्तिगत अस्तित्व पर जोर देने में अस्तित्ववाद बहुधा अनेक की आधारभूत एकता की विवेचना करने में निष्फल होने के कारण एकजीववाद (Solipcism) में पड़ जाता है। सार्त्र के अनुसार अन्य आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान असम्भव है क्योंकि यह तभी सम्भव है जबकि चेतना का वस्तु से तादात्म्य हो सके परन्तु तब न तो चेतना रहेगी और न ही ज्ञान की सम्भावना। यह इस मौलिक धारणा के कारण है कि चेतना सदैव ही किसी वस्तु की चेतना होती है और तादात्म्य के द्वारा ज्ञान असम्भव है। इस प्रकार विषयी अपने विषयों के अतिरिक्त और कुछ नहीं जान सकता। अतः एकजीववाद अवश्यम्भावी है। सार्त्र ने यह संकेत करके एकजीववाद में से मार्ग दिखाने की चेष्टा की है कि मैं दूसरे को एक विषयी के रूप में जानता हूँ जबकि वह मुझे एक वस्तु के रूप में जानता है। परन्तु स्वयं वस्तु को ज्ञान ही किस प्रकार हो सकता है? जबकि मैं यह जानता हूँ कि कोई अन्य मुझे एक विषय के रूप में जानता है तब मैं स्वयं विषयी हो जाता हूँ और तब उस मैं को अन्य विषयी जान ही किस प्रकार सकता है? फिर दूसरे का मुझे विषय रूप में जानना भी मेरे अपने अनुभव पर आधारित एक अनुमान मात्र है अथवा अधिकाधिक एक सम्भावना मात्र है। एकजीववाद का एकमात्र हल अनेक के अन्तर्गत एकता को पहचानना है। तादात्म्य के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मा अन्य आत्मा को विषयी के रूप में ही जानती है। आत्मा पूर्णतया जाग्रत अवस्था में स्वयं का अन्य आत्माओं से तादात्म्य कर सकती है जोकि सभी भेदों का निरीक्षण करती और लेखा जोखा रखती तथा उनका उत्क्रमण भी करती है।

इस प्रकार अज्ञान के उद्गम को शक्ति की एक पृथक् गति पर क्रिया करते हुए चेतना शक्ति के तपस की आत्म-विस्मृत एकाग्रता में खोजना चाहिये। मन

---

१९. ब्लैकहम, एच० जे० : सिक्स ऐक्जिसटेन्शियलिस्ट थिंकर्स, पृष्ठ १४२

पृथकता की एक दीवार बनाता है जोकि प्रत्येक रूप में चेतना को उसकी अपनी सम्पूर्ण आत्मा, अन्य शरीरस्थ चेतनाओं और विश्वगत पुरुष के ज्ञान से वंचित रखती है। अज्ञान का आधार न तो आत्मा है न ईश्वर और न प्रकृति। नाही वह सम्पूर्ण प्रकृति ही है बल्कि वह स्वयं उसकी मौलिक पूर्णता से एक विकास है। वह न तो सच्चिदानन्द में उठती है और न अतिमानस में बल्कि केवल मन में उठती है क्योंकि केवल मन ही एकता का विभाजन करता और उसको विस्मरण करता है।

सप्तांग अज्ञान से सप्तांग ज्ञान की ओर

श्री अरविन्द के अनुसार अज्ञान सप्तांग अर्थात् सात रूप वाला है। प्रथम और सबसे अधिक आधारभूत है भौतिक अज्ञान जिसके कारण हम निरपेक्ष के वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं और या तो सत या संभूति को ही पूर्ण सद्वस्तु मानने लगते हैं। दूसरा है विश्वगत अज्ञान जिसके कारण हम संभूति को ही विश्व का वास्तविक रूप मान लेते हैं और उसकी पृष्ठभूमि में कार्य करने वाले सत् को भूल जाते हैं। तीसरा है अहंकारी अज्ञान जिसके कारण हम अहंकार का आत्मा से तादात्म्य करते हैं और अपनी सार्वभौम प्रकृति को भूल जाते हैं। चौथा है कालात्मक अज्ञान जिसके कारण हम आत्मा के अमर स्वरूप को भूलकर अपने वर्तमान थोड़ से जीवन को ही सब कुछ मान लेते हैं। यह दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक अज्ञान के कारण और भी संकुचित हो जाता है क्योंकि उससे हम बाह्य प्रकृति पर एकाग्र होकर उसके ऊपर और नीचे के चेतना के स्तरों को भूल जाते हैं। इसके अतिरिक्त संरचना सम्बन्धी अज्ञान भी है जिसके कारण हम अपने सर्वांग-पूर्ण पुरुष को भूल जाते हैं और शरीर, प्राण अथवा मन अथवा इनमें से किन्हीं दो को सम्पूर्ण मानव मान लेते हैं। ये सब छः प्रकार के अज्ञान सातवें व्यवहारिक अज्ञान की ओर ले जाते हैं जोकि इस संसार में हमारे समस्त भूल, पाप, मिथ्यात्व और दुःख के लिये उत्तरदायी है। इससे व्यक्तियों में और समाजों में सब प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये मानव को इन सातों रूपों के अज्ञान से छुटकारा पाना चाहिये। उसको निरपेक्ष, विश्व, आत्मा, आत्मा की संभूति अधोचेतन और अतिचेतन स्तर का स्वरूप, पूर्ण पुरुष की पेंचीली प्रकृति और अन्त में हमारे विचार, संकल्प और कर्म का सही उपयोग जानना चाहिये। इस प्रकार पूर्ण ज्ञान अनिवार्य रूप से समस्त प्रकृति की आत्मा के सत्य में पूर्णता और रूपान्तरण की ओर ले जाता है।"[२०]

सत्य और असत्य

एक और अनेक के सत्य को एक साथ देखने वाले पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित

---

२०. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४४०-४२

होकर मन वस्तुओं को बाधाओं से मुक्त और एक सामञ्जस्यमय पूर्ण में व्यवस्थित देखता है। परन्तु मानसिक स्तर पर इस प्रकार का अनुभव यथार्थ न होकर केवल आदर्श मात्र है और जब तक मानव विचार तक सीमित रहता है तब तक पूर्ण में सामञ्जस्य केवल एक आस्था मात्र है यद्यपि यह आस्था तर्क विरुद्ध नहीं है क्योंकि वह बुद्धि से निम्न नहीं बल्कि अति मानस के स्तर पर है। जैसे ही मानव मानसिक स्तर का उत्क्रमण करता है यह आस्था एक निश्चय बन जाती है। वास्तविक सामंजस्य विचारों की मानसिक व्यवस्था न होकर पूर्ण अनुभव की एक यथार्थ स्थिति है। संभवतया अपने मानसिक स्तर पर मानव को इस प्रकार की अवस्था के साक्षात्कार की असंभाव्यता को मानना ही चाहिये परन्तु इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि जैसे-जैसे वह अनुभव के क्षेत्र में आगे बढ़ता है वैसे-वैसे वह उसको अधिकाधिक प्राप्त करता जाता है। पूर्ण का यह सर्वांग अनुभव ही समस्त सत्य की कसौटी है। वह सम्पूर्ण सत्य है और प्रत्येक सत्य उस पूर्ण में ही सत्य है। मानवीय निर्णय तभी भ्रमपूर्ण होता है जबकि मनुष्य किसी विशेष अंश को पूर्ण से पृथक करके देखता है। प्रत्येक सत्य अपने प्रसंग में निश्चय ही सत्य है परन्तु वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है और न ही निरपेक्ष सत्य है। मनुष्य के निर्णयों के सत्य का निर्णय पूर्ण अनुभव के निरपेक्ष सत्य में उनके सामंजस्य से किया जाता है। श्री अरविन्द के सत्य के सिद्धान्त के विवेचन से पूर्व यहाँ पर इस समस्या पर कुछ विशेष सिद्धान्तों की समीचीनता का विवेचन किया जायेगा। इससे दो प्रयोजन सिद्ध होंगे। जहाँ एक ओर इससे दूसरों की सीमायें ज्ञात होंगी वहाँ इससे श्री अरविन्द के मत को समझने में भी सहायता मिलगी।

निरपेक्ष अनुभव के रूप में सत्य

ब्रैडले के अनुसार सत्य अविरोध अथवा सामंजस्य में है। विचार हमको सद्वस्तु का केवल आंशिक ज्ञान ही दे सकता है। "सत्य" जैसा कि ब्रैडले ने लिखा है "सापेक्ष होना चाहिये।"[२१] अतः कोई भी निर्णय निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं है। "प्रत्येक सत्य इस प्रकार सत्य है कि अन्त में समस्त सत्य मिथ्या हैं।"[२२] केवल निरपेक्ष ही सत्य है और समस्त सापेक्ष सत्य मिथ्या है। परन्तु अन्य स्थान पर ब्रैडले ने लिखा है "कोई भी सत्य ऐसा सत्य नहीं होगा जो पूर्णतया सत्य हो जैसे कि कोई भी भूल ऐसी नहीं होगी जो नितान्त मिथ्या हो।"[२३] सत्य और असत्य दोनों ही में मात्रा का भेद है। यहाँ पर ब्रैडले ने दो प्रकार के विचार

२१. ब्रैडले, एफ० एच० : एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ ४७६

२२. वही

२३. वही, पृष्ठ ३२०-२१

दिखलाये हैं। एक ओर वह अनेक की सत्ता को स्थिर रखना चाहता है और दूसरी ओर उन्हें असत्य कहकर छोड़ देता है। "जैसे-तैसे" (Some How) कहकर समझाने से यह समस्या हल नहीं होती।

यह सिद्धान्त जैनों के स्यादवाद से भिन्न है और उससे कुछ उत्तम भी है। स्यादवाद का यह मत उचित है कि प्रत्येक मानवीय निर्णय अपने दृष्टिकोण से सत्य की एक सीमित झांकी पर निर्भर होने के कारण अंशतः सत्य है। परन्तु पूर्ण केवल बाह्य रूप से अंशों का समूह मात्र नहीं है। हाथी और अंधों के प्रसिद्ध दृष्टान्त में यह ध्यान देने की बात है कि हाथी केवल कान, सूँड़, पैर, दुम इत्यादि का योग न होकर एक सर्वांग पूर्ण है जिसके अंग अन्तरंग रूप से परस्पर संबन्धित हैं। यदि जोकिम के शब्दों में कहा जाए तो वह एक ऐसा "रूप है जोकि अपनी सामग्री में पूर्णतया घुसा हुआ है।"[२४] निरपेक्षवादियों ने यह ठीक ही माना है कि सत्य निरपेक्ष पर निर्भर है जोकि एक गत्यात्मक पूर्ण है और जोकि एकमात्र सत्य है परन्तु वास्तविक अनुभव पर आधारित न होने के कारण यह सिद्धान्त अव्यवहारिक बन जाता है। शिलर (Schiller) ने ठीक ही लिखा है कि वह विशुद्ध रूप में आदर्श है और इस कारण मूर्त तथ्यों पर लागू नहीं होता। परन्तु फिर सत्य का अनुरूपतावादी सिद्धान्त (Correspondence theory) अथवा व्यवहारिक मूल्य (Pragmatic value) का सिद्धान्त कोई विकल्प नहीं हैं। सामंजस्य अवश्य ही सभी सत्य की कसौटी है परन्तु मानसिक सामंजस्य का आधार सर्वांग अनुभव होना चाहिये जोकि सभी प्रकार के अनुभवों के लिये स्थान पाता है।

व्यवहारिक और मानवीय सत्य

निरपेक्षवादियों के विपरीत व्यवहारवादी 'सत्य' शब्द को सद्वस्तु के अर्थों में प्रयोग न करके जीवन में कार्य करने वाले ज्ञान का एक विशेषण मात्र मानते हैं। जैसा कि पीअर्स (Pierce) ने लिखा है "मान लिया कि कोई विचार अथवा विश्वास सत्य है तो उसके सत्य होने से किसी के यथार्थ जीवन में क्या मूर्त अन्तर पड़ेगा ?"[२५] व्यवहारवादियों के हाथ में हाथ मिलाकर भाववादी (Positivists) तथा मानववादी (Humanists) प्रोटेगोरस के "Homo Mensura" के सिद्धांत का समर्थन करते हैं। मानव सभी वस्तुओं की कसौटी है। सत्य कोई यथार्थ अथवा सत्तात्मक मूल्य नहीं है बल्कि तात्विक रूप में मानवीय है। वह मानव के लिये सत्य है। जैसा कि जेम्स ने लिखा है "किसी विचार का सत्य उसका कोई स्थिर गुण नहीं है। विचार सत्य होता है। वह सत्य बन जाता है, वह

---

२४. जोकिम : द नेचर ऑव ट्रुथ, पृष्ठ ७७

२५. पीयर्स : प्रैग्मैटिज्म, पृष्ठ २००

घटनाओं द्वारा सत्य बना दिया जाता है। उसकी प्रामाणिकता वास्तव में एक घटना अथवा उसकी अपनी प्रामाणिकता को जाँचने की प्रक्रिया है।"[२६] इस प्रकार तार्किक अनुरूपता नहीं बल्कि उपयोग और मानवीय व्याख्या ही सत्य की कसौटी हैं। शिलर ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि गणित के सत्य भी सापेक्ष हैं। शिलर के अनुसार लन्दन के कुछ वर्ग वास्तव में गोलाकार हैं। इस प्रकार निरपेक्ष सत्य जैसी कोई वस्तु नहीं है। सभी सत्य केवल संभाव्य ही हैं। "विचार" जैसा कि डिवी ने लिखा है "सत् के अनुभवपूर्व परम गुणों के अनुरूप मन के आन्तरिक गुण नहीं हैं नाही वे इन्द्रिय जगत पर सदैव के लिये एक बार थोपे हुए अनुभवपूर्व वर्गीकरण ही हैं उस अनुभव के पूर्व जो कि उन्हें संभव बनाते हैं।"[२७] सत्य शुभ की जाति का मूल्य है। उसका उद्गम उपयोग में है। शिलर के अनुसार "वास्तव में सत्य तो यह है कि विचारों की यथार्थ अनुरूपता और एकमात्र अनुरूपता जोकि तर्क शुद्ध कही जा सकती है उनके किसी विचारक के हित और प्रयोजन के प्रसंग में होने से उत्पन्न होती है।"[२८]

इस प्रकार समस्त सत्य तात्विक रूप में मानव से सम्बन्धित है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि समस्त सत्य मानवीय है और अपनी उपयोगिता पर निर्भर है। व्यवहारिक मूल्य के परे सत्य का एक यथार्थ मूल्य भी है जोकि उसके तत्व को निर्माण करता है। जैसा कि श्री अरविन्द ने संकेत किया है "परम सत्य का एक अपना नियम है जो कि सभी मानदण्ड से परे है।"[२९] पूर्णतया मानव बनने के लिये मानव का उत्क्रमण करने की आवश्यकता है। मानव नहीं बल्कि अतिमानव ही सत्य का लक्ष्य है। पूर्ण होने के लिये निम्न को उच्च स्तर के लिये उत्क्रमण करना चाहिये जहाँ पहुँच कर ही वह पूर्ण हो सकता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "सब कुछ जानने के लिये हमें उसकी ओर दृष्टि फेरनी चाहिए जोकि सबके परे है। उसको जानने से शेष सबका ज्ञान हो जाता है।"[३०] शिलर का मत है कि वास्तविक सत्य केवल सत्य के अधिकार को प्रमाणित करने से ही ज्ञात होता है यद्यपि यह सत्य पुनः एक अन्य सत्य के प्रमाणित होने का अधिकार है क्योंकि प्रमाणित करने की प्रक्रिया कभी भी अन्तिम नहीं होती। जैसा कि वह कहता है "हम सत्य की परिभाषा (१) बाह्य रूप में एक तर्कगत मूल्य के नाते (२) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक ज्ञान सम्बन्धी प्रयोजन की सिद्धि के रूप में (३) भौतिक रूप से एक ऐसा सत्य का अधिकार जो कार्य करता है और लाभदायक है,

---

२६. वही, पृष्ठ २०१

२७. डिवी : द क्वेस्ट फॉर सर्टेन्टी, पृष्ठ १६०

२८. शिलर : लॉजिक फ़ॉर यूज़, पृष्ठ १३६

२९. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ३८६

३०. श्री अरविन्द : मदर इण्डिया, अगस्त १९५२, पृष्ठ ८

(४) व्यवहारिक रूप में उसको सत्य समझने के परिणामों पर आधारित तत्व के रूप में कर सकते हैं।"[३१] यह सत्य अस्थाई, सापेक्ष, प्रगतिशील और व्यवहारिक है। वह एक प्रतीति (Phenomenal) सत्य है। परन्तु यदि हम शिलर की व्यवहारिक सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य सिद्धान्तों की आलोचना को देखें तो हम प्रतीतिमात्र और दार्शनिक सत्य में गड़बड़ी पाते हैं। प्रतीतिमात्र व्यवहारिक सत्य हमारे दैनिक जीवन में निश्चय ही मूल्यवान् है। परन्तु दर्शन एक ऐसे सत्य की खोज करता है जोकि चिरंतन, निरपेक्ष और सर्वांग है। स्पष्ट है कि ऐसा सत्य तर्कगत न होकर आध्यात्मिक है। उसकी कसौटी सर्वांग अनुभव है।

विषय परक सत्य

कीर्केगार्ड के अनुसार सत्य विषयी परक (Subjectivity) है। जैसा कि वह कहता है "···· एक अस्तित्वमय व्यक्ति के लिए एक शुद्ध विचार का दर्शन एक मृततृष्णा मात्र है यदि खोजा गया सत्य कुछ ऐसा है जिसमें अस्तित्व हो सके।"[३२] इस प्रकार ज्ञान का उपयुक्त विषय व्यक्ति का अपना अस्तित्व है। वह अन्य वस्तुओं से वहीं तक सम्बन्धित है जहाँ तक वे उसके अपने क्षेत्र में आती हैं। विषयी में विचार "व्यक्तिगत सम्बन्ध की प्रकृति पर निर्देशित होता है यदि इस सम्बन्ध का प्रकार ही सत्य में हो, व्यक्ति सत्य में है चाहे वह जो कुछ सत्य नहीं है उससे भी इस प्रकार सम्बन्धित हो।"[३३] इस प्रकार सच तो यह है कि मानव अपने अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जान सकता। जैसा कि कीर्केगार्ड ने बतलाया है एक आदमी के लिये "उसका अपना सत् ही उसके विचार का प्रथम और अन्तिम विषय है जिससे कि उसको शेष सभी वस्तुएँ जाँचनी हैं।"[३४]

अस्तित्ववादी अर्थों में लेने से यह दृष्टिकोण एकजीववाद की ओर ले जाता है। इसमें ईश्वर और विश्व के समस्त अपरोक्ष ज्ञान का निरोध किया गया है। हमारा संसार का ज्ञान केवल एक सम्भावना मात्र है। ईश्वर के लिये आग्रह में कोई विषय सम्बन्धी निश्चितता नहीं है। कीर्केगार्ड, सत्य ही सोचता है कि "समस्त ज्ञान केवल विषयीपरक है।"[३५] परन्तु यह आत्मिक चेतना ईश्वर और

---

३१. शिलर : लॉजिक फ़ॉर यूज़, पृष्ठ १५३

३२. कीर्केगार्ड एस : कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफ़िक पोस्टस्क्रिप्ट, पृष्ठ २७५

३३. वही, पृष्ठ १७८

३४. वही, पृष्ठ १७

३५. "वास्तव में हमारे पास वस्तु जगत को जानने का अपनी आत्मा चेतना के अतिरिक्त कोई साधन नहीं में जिसकी बाह्य इन्द्रियाँ स्वयं केवल साधन मात्र हैं, क्योंकि संसार केवल उसकी ही नहीं बल्कि उसमें ही दिखाई पड़ता है और वैसा ही हमारे लिये है।"

—श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४३४

विश्व से एक है और उनको तादात्म्य जनित ज्ञान से जान सकती है। विषयी मात्र के ज्ञान को सत्य मानने वाला सिद्धान्त सच्ची आत्मा को विषयी समझने से अपनी कठिनाइयों को दूर कर सकता है। कीर्कगार्ड ने अधिकाधिक अन्तर्मुखता पर ठीक ही जोर दिया है परन्तु वह उस गहराई तक नहीं जाता जहाँ पर यथार्थ आत्मा वस्तुओं और ईश्वर से एक है। ज्ञान सदैव आत्मा का ही ज्ञान है परन्तु सीमाओं के सतत विस्तार से और अन्त में प्रच्छन्न (Subliminal) स्तर के टूटने से हम उसमें विश्वगत और परात्पर दोनों को ही जानते हैं। "उसके पीछे सत्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही सोचना है और अपनी सामर्थ्य के अनुसार स्वयं ही जानना है परन्तु उसका निर्णय केवल उस अवस्था में प्रामाणिक हो सकता है जबकि वह सदैव एक बृहद्तर ज्ञान को सीखने को तत्पर रहकर उसकी ओर खुला रहे।"[३६] कीर्कगार्ड का एक पूर्ण क्रिया के स्थान पर प्रयासमात्र के रूप में असीम के प्रति आवेग का विचार तादाम्यजनित ज्ञान के निरोध के कारण ज्ञान के सीमित करने पर निर्भर है। ईश्वर कोई आदर्श प्रत्ययमात्र नहीं बल्कि चरम सद्वस्तु है। वह हमारे अपने व्यक्तित्व का सार है। "हम दिव्य सत्ता को जानते हैं और दिव्य बन जाते हैं क्योंकि हम अपनी गुप्त प्रकृति में पहले से ही वही हैं।"[३७] कीर्कगार्ड ने ठीक ही कहा है कि सत्य तर्क का विषय नहीं है। उसको जीवन में उतारना होगा और इस प्रकार परोक्ष रूप से एक शान्त और स्थिर संवाद के रूप में विकीर्ण करना होगा। परन्तु जीवित रहने का अर्थ है अनुभव करना और जितना ही गहन अनुभव होगा उतना ही उत्कृष्ट जीवन और सत्य की ओर विकास। अतः जीवन का तर्कसंगत लक्ष्य और अनुभव की चरम परिणति सर्वांग, पूर्ण निरपेक्ष ही है।[३८]

विषयपरक सत्य (Truth as Objectivity)

आत्ममूलक सत्य के सिद्धान्त के विरुद्ध, अनुभववादी, भाववादी, जड़वादी और यथार्थवादी दार्शनिकों का विचार है कि विषयकता ही सत्य की कसौटी है। विवेचनात्मक वस्तुवादियों (Critical Realists) के अनुसार सत्य और असत्य को इस प्रकार समझाया जा सकता है, "जब हम एक विषय को जानते हैं तब हम ज्ञान की प्रक्रिया से स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाली किसी सद्वस्तु पर किसी 'तत्व' एक गुण अथवा गुणों के समूह का आरोप कर रहे हैं और क्योंकि सत्य इस तत्व

३६. वही, पृष्ठ ४३५

३७. श्री अरविन्द : द सिन्थेसिस ऑव योग, पृष्ठ २

३८. "वह सब व्यक्तियों से परे व्यक्ति है, समस्त आत्माओं का गृह और देश वह सत्य जिसकी कि अन्य सत्य केवल अपूर्ण छाया मात्र हैं।"

श्री अरविन्द : लैटर्स, फर्स्ट सीरीज़, पृष्ठ ८३

का इस सद्‌वस्तु के यथार्थ स्वभाव से तादाम्य है, अतः असत्य का अर्थ इस प्रकार के सामंजस्य की कमी और एक काल्पनिक स्वभाव का आरोप है जिसको कि हमने गलती से यथार्थ समझ लिया है अथवा जो एक सद्‌वस्तु पर सही के स्थान पर एक मिथ्या स्वभाव का आरोप है।"[३९]

निरपेक्षवादियों के विरुद्ध विवेचनात्मक वस्तुवादियों का मत है कि सद्‌वस्तु की पूर्ण व्यवस्था से पृथक उसके एक पहलू अथवा भाग के विषय में भी निर्णय हो सकता है और सद्‌वस्तु से अनुरूपता के अनुसार यह निर्णय पूर्णतया सत्य अथवा असत्य हो सकता है। परन्तु जैसा कि कान्ट ने अन्तिम रूप से दिखला दिया है मानव अपनी इन्द्रियों के द्वारा वस्तु को उसके यथार्थ रूप में नहीं जान सकता और इस कारण सत्य का अनुरूपता का सिद्धान्त ठीक नहीं है। इस प्रकार रसेल का इन्द्रिय जन्य प्रदत्तों (Sense data) का दर्शन आत्मवाद (Subjectivism) में समाप्त होता है। विषय परक सत्य का सिद्धान्त एक सामान्य बुद्धि का दृष्टि-कोण है और इसी में उसकी शक्ति है। जैसा कि जार्ज सान्टायना ने तर्क किया है, "आप किसी पूर्ण संशयवादी अथवा आदर्शवादी के लिये वस्तुवाद को सिद्ध नहीं कर सकते, परन्तु आप एक ईमानदार व्यक्ति को यह दिखला सकते हैं कि वह एक पूर्ण संशयवादी अथवा आदर्शवादी नहीं है बल्कि हृदय से वस्तुवादी ही है। जब तक वह जीवित है उसके यथार्थ दर्शन को उसके जीवन की धारणाओं को नष्ट नहीं बल्कि पूर्ण करना चाहिये।"[४०] परन्तु दर्शन सामान्य बुद्धि मात्र नहीं है। उसको जीवन के बाह्य विस्तार से अधिक गहरे पैठना चाहिये और निरपेक्ष सत्ता में उसके यथार्थ आध्यात्मिक महत्व को प्राप्त करना चाहिये।

सर्वांग अनुभव के रूप में सत्य

श्री अरविन्द के अनुसार सत्य सच्चिदानन्द का सर्वांग अनुभव है। वह पूर्ण अनुभव है जोकि अन्य सभी अनुभवों को आत्मसात करता और उनकी व्याख्या करता है "सार्वभौम सत्य एक सार्वभौम चेतना का वस्तुओं का ज्ञान है जिसमें वस्तुयें उनका यथार्थ सत्य और परस्पर तथा दिव्य सत्ता से सच्चे सम्बन्धों में देखी जाती हैं।"[४१] प्रत्येक सत्य इस सार्वभौम सत्य का अंश है। प्रत्येक प्रकार का अज्ञान इस सार्वभौम अज्ञान से निकलता है। प्रत्येक ज्ञान इस निरपेक्ष ज्ञान का अंश है।[४२] प्रत्येक विशेष सत्य पूर्ण में सत्य है। पूर्ण से अतिरिक्त और पृथक्

---

३९. जार्ज सान्टायना : द एसेज़ ऑन क्रिटिकल रीयलिज्म, पृष्ठ ११७-१८

४० वही, पृष्ठ १८३-८४

४१. श्री अरविन्द : द रिडिल ऑव दिस वर्ल्ड, पृष्ठ ६७

४२. "जब हम अज्ञेय में प्रवेश कर जाते हैं तब यह सब अन्य ज्ञान प्रामाणिक बन जाता है। जब हम सभी रूपों को रूपहीन में बलिदान कर चुकते हैं तब सभी रूप एक साथ ही उपेक्षणीय और अतिशय मूल्यवान बन जाते हैं।"

श्री अरविन्द : मदर इण्डिया, अगस्त १९५२, पृष्ठ १९

करके लेने पर वह असत्य है क्योंकि यही विभाजनकारी ज्ञान ही अज्ञान है। जैसा कि श्री अरविन्द ने दिलीपकुमार राय को अपने पत्र में लिखा था, "वस्तुओं को सतत और पूर्णतया देखने के लिये उनको सब ओर से देखना है। एक बार फिर, मुझे पीछे कार्य करती हुई शक्तियों को ही देखना है। मैं बाह्य विस्तार में अन्धा होकर नहीं जाना चाहता।"[४३]

मानसिक पूर्ण में प्रत्यय की समीचीनता पर जोर देने में सत्य का सामंजस्य का सिद्धान्त (Coherence Theory) सत्य है। दूसरी ओर प्रत्यय के तथ्य के अनुकूल होने की आवश्यकता पर जोर देने में अनुरूपता का सिद्धान्त (Correspondence theory) भी उतना ही सत्य है क्योंकि उसके बिना केवल समीचीनता सत्य की कसौटी नहीं है। प्रत्यय और विचार परस्पर अनुकूल होने चाहिए और इनमें से किसी को भी सत्य समझना एकांगी मत है। जिस प्रकार तथ्य शक्ति में उसी प्रकार विचार चेतना में सत्य का साक्षात्कार हैं। दोनों ही समान रूप से अनिवार्य हैं और स्वयं में तथा एक दूसरे में सार्थक हैं। कोई भी अपने पूरक से घृणा अथवा उसकी अवहेलना नहीं कर सकता। व्यवहारवाद ने सत्य की व्यवहारिक सांसारिक उपादेयता और उसकी मानवीय व्याख्या पर ठीक ही बल दिया है। दूसरी ओर आदर्शवाद ने सत्य के परम शुभ और आध्यात्मिक मूल्य से सम्बन्ध पर ठीक ही जोर दिया है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "स्वयं में आदर्शवादी और व्यवहारवादी, सृजनकारी आत्मा और कार्यकारी शक्ति का सामंजस्य करने से मनुष्य पूर्णता के और भी निकट जा पहुंचता है।"[४४] इस प्रकार ज्ञान सद्वस्तु का सर्वांग अनुभव है और सत्य है सर्वांगपूर्ण ज्ञान में प्रत्यय की सानुकूलता।

४३. दिलीप कुमार राय : एमंग द ग्रेट, पृष्ठ ३१५

४४. श्री अरविन्द : आइडियल एण्ड प्रोग्रेस, पृष्ठ ६

३

दार्शनिक प्रणालियाँ

"जिस ज्ञान की ओर हम जाना चाहते हैं उसकी स्थिति का वर्णन उस साधन को निश्चित करता है जिसको हम प्रयोग करेंगे।" —श्री अरविन्द[1]

अब प्रश्न यह है कि सर्वांग ज्ञान और सर्वांग सत्य को हम किस प्रकार पा सकते हैं। दर्शन अनुभव पर आधारित है। जितना ही अधिक सर्वांग अनुभव होगा उस पर आधारित दर्शन भी उतना ही पूर्ण होगा। सर्वांग अनुभव हमारे किसी विशेष अंग का नहीं बल्कि सम्पूर्ण सत्ता का अनुभव है। अतः सद्वस्तु का उसकी सम्पूर्णता में साक्षात्कार करने की एक प्रणाली भी उतनी ही आवश्यक है जितना कि उसको बुद्धि-ग्राह्य बनाने के लिए एक उपयुक्त तर्क। दार्शनिक सोचता ही नहीं बल्कि विकसित भी होता है। जहाँ तक भारतीय परम्परा का सम्बन्ध है दर्शन केवल जिज्ञासा मात्र नहीं बल्कि साक्षात्कार हैं। प्रत्यय अनुभव को दूसरों तक पहुंचाने के साधन हैं। यदि ज्ञान के क्षेत्र के विस्तार के साथ उनका विकास नहीं होता तो दर्शन सार्वभौम होने के लक्ष्य से पीछे रह जाता है। केवल तर्कगत समीचीनता ही आध्यात्मिक निश्चितता की कसौटी नहीं है। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है "जिसको मानस 'होना चाहिये' सोचता है वह 'होगा' की कसौटी होना आवश्यक नहीं।"[2] परन्तु इससे हमें भाषा और तर्क के महत्व की अवहेलना करने का अधिकार नहीं मिलता। श्री अरविन्द के अनुसार "एक ऐसी भाषा उत्पन्न करनी है जो कि संवेगात्मक और स्पष्ट इंगितों के वाहन के रूप में, विशेष और जीवित प्रतिमाओं को लेते हुए एक साथ ही संबोधि रूप से आध्यात्मिक एवं तत्वदर्शी रूप से कवित्वमय हो।"[3]

अतः दार्शनिक के सन्मुख सद्वस्तु का साक्षात्कार करने की एक प्रणाली और

---

१. लैटर्स ऑफ श्री अरविन्द ऑन द मदर, पृष्ठ ८७

२. श्री अरविन्द : लैटर्स ऑन द मदर, पृष्ठ ८७

३. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, पृष्ठ ४३

सर्वांग अनुभव की व्याख्या करने योग्य एक तर्क विकसित करने का कार्य है। इस प्रकार की प्रणाली का संकेत ज्ञान की प्रकृति से मिलता है जिसकी विवेचना पिछले अध्याय में की जा चुकी है। प्रस्तुत अध्याय में विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों का मूल्यांकन किया जायेगा और अन्त में श्री अरविन्द के विचार के प्रकाश में दर्शन की एक सच्ची प्रणाली विकसित करने की चेष्टा की जायेगी।

परम्परागत प्रणालियाँ : गणितीय प्रणाली

आधुनिक योरोपीय दर्शन में बुद्धिवाद (Rationalism) का गणितीय प्रणाली में उदय हुआ। देकार्ते ने इस बात पर जोर दिया कि जबकि मूल सिद्धान्त आन्तरिक प्रत्ययों से मिलते हैं, अन्य सत्य उनसे गणितीय निगमन के द्वारा निकाले जाने चाहियें और उसमें किसी भी ऐन्द्रिक अनुभव अथवा कल्पना को हस्तक्षेप न करने देना चाहिये। स्पिनोजा ने मौलिक प्रत्ययों की व्याख्या से प्रारम्भ करके, उनसे उप-सिद्धान्त बनाये तथा ज्यामितीय निगमन की प्रणाली से सिद्धान्त और सामान्य नियम निकाले। लाइबनित्ज ने, जो स्वयं गणितज्ञ था, अपने चिद्बिन्दुवाद की खाइयों को भरने के लिये अनेक यांत्रिक नियम बनाये परन्तु यह प्रयोग अधिक सफल नहीं हुआ। कारण यह है कि दर्शन गणितीय नियमों की कठोर व्यवस्था नहीं बल्कि यथार्थ अनुभव पर आधारित तथ्यों और मूल्यों की एक व्याख्या है। ईश्वर और संसार के सम्बन्ध का प्रमेय और उसके सिद्धान्त के सम्बन्ध से तादात्म्य, जैसा कि आलोचकों ने संकेत किया है, कारण और अनुपात (Ratio) के अन्तर के सम्बन्ध में गम्भीर भूल पर आधारित है। आध्यात्मशास्त्र में कार्यकारण के नियम नैयायिक तर्क से भिन्न हैं। बुद्धिवादियों की प्रणाली से दर्शन अपनी समस्त समृद्धि, नमनीयता और मूर्तता खोकर कठोर, अमूर्त और गतिहीन हो गया। दर्शन गणित के आधीन कर दिया गया। दोनों का अन्तर बिल्कुल भुला दिया गया।

परन्तु बुद्धिवादियों के विरूद्ध, अनुभववादी (Empiricist) दार्शनिक प्रणाली भी उतनी ही एकांगी है। ह्यूम का अज्ञेयवाद अनुभववादी दार्शनिक प्रणाली की तार्किक चरम परिणति था। छिन्न-भिन्न अनुभव पर आधारित अनुभवात्मक सामान्य नियम केवल विज्ञान के संभाव्य विकल्प हो सकते हैं आध्यात्मशास्त्र की निश्चित मान्यतायें नहीं।[४] इन्द्रियाँ केवल पृथक्-पृथक् अनुभव द्वारा ही जान सकती हैं जो कि किसी प्रकार भी जोड़ने से मौलिक वस्तु तक नहीं पहुँच सकते। प्रणालियाँ खोज के विषय के अनुरूप होनी चाहियें।

---

४. "जब तक हम स्वयं को ऐन्द्रिक प्रमाण और भौतिक चेतना तक सीमित रखते हैं, तब तक भौतिक संसार और उसकी प्रतीतियों के अतिरिक्त हम कुछ नहीं सोच सकते, कुछ नहीं जान सकते।"

—श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग १, पृष्ठ ७२

सर्वातिशायी (Transcendental) प्रणाली

कान्ट के दर्शन की विशेषता ज्ञान की दशाओं की समीक्षा है। उसने ज्ञान के उद्गम और परिधि, उसके साधन और सीमाओं, उसके अस्तित्व और प्रामाणिकता के आधार की खोज की। ज्ञान की अनुभवपूर्व दशाओं की खोज के लिये कान्ट ने शुद्ध बुद्धि की परीक्षा की समीक्षा प्रणाली अपनयी। यह प्रणाली इन्द्रिय-शक्ति (Sensibility) और प्रज्ञा (Understanding) के विश्लेषण पर आधारित है। मानव का समस्त ज्ञान इन्द्रियों से प्रारम्भ होता, वहाँ से प्रज्ञा पर पहुँचता और बुद्धि में समाप्त होता है। अपने सर्वातिशायी एनालिटिक (Analytic) और डायलेक्टिक (Dialectic) में कान्ट ने इन्द्रिय शक्ति के रूप और प्रज्ञा की संज्ञाओं (Categories) का पता लगाया है जिसके परे सभी कुछ अज्ञेय हैं।

ये प्रत्यय शुद्ध बुद्धि को सन्तुष्ट कर सकते हैं परन्तु जैसा कि श्री अरविन्द ने संकेत किया है "जब तक वह अनुभव नहीं बनता तब तक प्रत्येक प्रत्यय हमारे लिये अपूर्ण और हमारी प्रकृति के एक अंग के लिये लगभग असत्य है।"[५] दर्शन समीक्षा भी है और साक्षात्कार भी। पूर्णतया लाभदायक होने के लिये अतिशायी प्रणाली को ऐसी अन्तरंग प्रणाली का सहयोग मिलना चाहिये जैसी की बर्गसाँ की है। "...बुद्धि के प्रत्ययों में कोई बाध्य करने वाली शक्ति नहीं है। हमें सत्ता को अपने मानसिक प्रत्ययों से नहीं बल्कि जो कुछ हम अस्तित्व में देखते हैं उससे जाँचना चाहिये।"[६] इस प्रणाली का महत्व बुद्धि की सीमायें और आध्यात्म-शास्त्र के अनुभवपूर्व तत्व दिखलाने में है। परन्तु बुद्धि की सीमायें ही तो ज्ञान की सीमायें नही हैं। "कान्ट एक अध्यात्मशास्त्रीय रीति से यह तर्क करता है कि आध्यात्मशास्त्र सम्भव नहीं है।"[७] उसने ज्ञान को केवल इन्द्रिय और बुद्धि तक सीमित कर दिया है परन्तु आध्यात्मशास्त्र के मूलाधार न तो आस्था के विषय हैं और न नीतिशास्त्र की मान्यतायें। आस्था जब तक साक्षात्कार पर आधारित न हो तब तक वह दर्शन अथवा धर्म के लिये कोई सुदृढ़ आधार नहीं उपस्थित करती। बुद्धि प्रतीतिमात्र के लिये नियम बना सकती है परन्तु स्वयं सद्वस्तु के लिये नहीं। सद्वस्तु ज्ञान के सिद्धान्त पर निर्भर नहीं है। जैसा कि बर्गसाँ ने लिखा है "मैं कहाँ तक जा सकता हूं इसके लिये मैं केवल एक ही मार्ग देखता हूं और वह है जाने के द्वारा।"[८] सर्वातिशायी विश्लेषण के परिणाम सद्वस्तु की प्रकृति को निश्चित नहीं करते। "आध्यात्मशास्त्र" जैसा कि डब्लू० टी० मार्विन ने

---

५. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ७४

६. वही, पृष्ठ ६२

७. फ़ाल्केनबर्ग : हिस्ट्री ऑव माडर्न फिलासफ़ी, पृष्ठ ३४०

८. बर्गसाँ : माइण्ड एण्ड एनर्जी, पृष्ठ २

लिखा है "तार्किक रूप से ज्ञान के सिद्धान्त से पहले है और न तो अपनी समस्याओं के लिये और न उनके सुलभाव के लिये ही इस विज्ञान का विशेष आभारी है।"[९] दर्शन का आधार आध्यात्मिक साक्षात्कार में है और ज्ञान में वास्तव में सहायक होने के लिये बुद्धि को इन अनुभवों की विश्वसनीय व्याख्या करनी चाहिये। दर्शन परम 'क्यों' की व्याख्या नहीं कर सकता परन्तु परम तत्व का वर्णन करने का उसका कर्तव्य निश्चय ही अनिवार्य है। मानव की किसी विशेष मानसिक प्रक्रिया द्वारा ज्ञात सद्वस्तु निश्चय ही एकांगी होगी। इसका विकल्प विभिन्न प्रत्ययों के अनुभव को जोड़ना मात्र नहीं बल्कि एक सर्वांग संबोधि ज्ञान है जो कि हमारी समग्र सत्ता को सन्तुष्ट करता है।

द्वन्द्वात्मक (Dialectical) प्रणाली

बुद्धिवाद जिसको कि कान्ट के नीतिवाद ने कुछ समय के लिये सीमित कर दिया था, हेगेल के दर्शन में फिर से निरपेक्ष होकर प्रकट हुआ। हेगेल के लिये सम्पूर्ण सत्ता विचार का साक्षात्कार है और समस्त संभूति जगत उस विचार का विकास। इस प्रकार प्रकृति का विचार से तादात्म्य कर दिया गया और द्वन्द्वात्मक विधि दर्शन की प्रणाली बन गई। अमूर्त विचारात्मक प्रज्ञा और रहस्यमय संबोधि दोनों का ही परित्याग कर दिया गया। यह संकेत किया गया कि जबकि प्रथम केवल प्रतीतिमात्र में ही सीमित रहता है द्वितीय एक छलांग मार कर निरपेक्ष सत्ता का सर्वोच्च ज्ञान पाना चाहता है। हेगेल के अनुसार सच्चे दर्शन का साधन मूर्त प्रत्ययों की शक्ति के रूप में बुद्धि है। यह मूर्त प्रत्यय अपने विरोधी का तिरस्कार नहीं करता बल्कि उसको आत्मसात कर लेता है। कान्ट का समीक्षात्मक दर्शन और शेलिंग का संबोधिवाद हेगेल के द्वन्द्वात्मक विधान में समन्वित हो जाता है। बुद्धि न तो विरोधी को उत्पन्न करती है और न उसको निषेध करती है। यहाँ पर न तो सर्वातिशायी प्रणाली के समान विरोधियों की एकता असंभव ही है और न मौलिक है जैसा कि शेलिंग के संबोधिवाद में है। विकास के द्वारा विचार विरोधियों का तादात्म्य करता है। इस प्रकार सद्वस्तु तथा दर्शन दोनों ही प्रत्ययों की व्यवस्था हैं जिनमें से प्रत्येक अपने अनुगामी में आत्मसात हो जाता है जैसे कि वह अपने पूर्वगामी द्वारा उत्पन्न होता है। द्वन्द्वात्मक विकास का प्रेरक तत्व उस विरोध में है जो कि उसमें अन्तःस्थ है। इस विरोध का एक साथ ही बहिष्कार भी होना चाहिये और संरक्षण भी। यह प्रत्ययों की गति के कारण बन पड़ता है। वाद से प्रतिवाद होता है और फिर दोनों मिल जाते हैं, यह संवाद पुनः एक वाद बन जाता है, जिसका प्रतिवाद होता है और फिर संवाद, इस प्रकार यह प्रक्रिया निरपेक्ष प्रत्यय पर पहुँचने तक चलती रहती है।

---

९. मार्विन, डब्लू० टी० : द न्यू रीअलिज्म, पृष्ठ ५०

इटालियन दार्शनिक बेनेडेट्टो क्रोचे ने हेगेल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली के उन प्रत्ययों पर प्रयोग करने के विरुद्ध एक यथार्थ आलोचना की जो कि विपरीत न होकर केवल विभिन्न हैं। इस प्रकार धर्म कला का प्रतिवाद नहीं है और न ही दर्शन इन दोनों का संवाद है। अमूर्त हो अथवा मूर्त, विचार सद्वस्तु की एक अवस्थिति मात्र है और इस कारण तर्क और प्रकृति का तादात्म्य पूर्ण के स्थान पर अंश की प्रतिष्ठा है। सद्वस्तु को "रक्तहीन वर्गों के साँचों" की कठोर व्यवस्था में ढालने का प्रयास उसको छिन्न-भिन्न करने और स्थिर तथा अस्वाभाविक बनाने की चेष्टा है। प्रत्यय सद्वस्तु के स्वभाव को निश्चित नहीं करता बल्कि स्वयं सद्वस्तु पर प्रत्यय का स्वरूप निर्भर है। दर्शन में द्वन्द्वात्मक प्रणाली का मूल दोष सद्वस्तु पर एक बाह्य व्यवस्था लादने का प्रयत्न है। सद्वस्तु का साक्षात्कार करने के स्थान पर उसको विचार की प्रगति के एक पूर्व निश्चित ढांचे में बलपूर्वक बैठाने का प्रयत्न किया गया। बुद्धिवाद के समस्त दोष इस प्रणाली में स्वाभावतया ही उपस्थित हैं। निरपेक्ष सत्ता को जानने के लिये सर्वप्रथम हमें अपनी समग्र सत्ता से उस तक पहुँचने का प्रयास करना होगा और केवल उसका साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् ही उसका वर्णन करने अथवा उसकी व्याख्या करने के लिये बुद्धि का हस्तक्षेप हो सकता है। तर्कशास्त्र आध्यात्मशास्त्र पर आधारित है और आध्यात्मशास्त्र अनुभव पर। अतः तर्क नहीं बल्कि अनुभव ही सद्वस्तु के स्वभाव को निश्चित करता है।

तार्किक विश्लेषण की प्रणाली

विश्लेषणवादी सम्प्रदाय अथवा तार्किक भाववादियों(Logical Positivists) के अनुसार दर्शन का सही कार्य "वैज्ञानिकों के कथनों का विश्लेषण करना" "उनके प्रकार और सम्बन्धों का अध्ययन करना और इन कथनों के अंगों के रूप में शब्दों और इन कथनों की व्यवस्थाओं के रूप में सिद्धान्तों का विश्लेषण करना है।"[१०] "विज्ञान का तर्क" जैसा कि कार्नप विज्ञान की भाषा सम्बन्धी अभिव्यक्ति के विश्लेषण को कहते हैं, तार्किक वाक्य रचना प्रणाली तथा प्रतीकशास्त्र (Symantics) में बंटा हुआ है। तार्किक वाक्य रचना प्रणाली मिश्रित और संयुक्त वाक्यों का साधारण वाक्यों में और साधारण वाक्यों का उनको बनाने वाले शब्दों में विश्लेषण करती है और शब्दों को सार्थक वाक्यों में बांधने के नियम पता लगाती है। वह हमको विभिन्न विज्ञानों की आधारभूत मान्यताओं और उनके तार्किक अन्तर्सम्बन्धों को समझाने के योग्य बनाती है। प्रतीकशास्त्र भाषा की अभिव्यक्ति और उससे सम्बन्धित वस्तुओं के सम्बन्धों पर विचार

---

१०. कार्नप : लॉजिकल फाउन्डेशन ऑव दि यूनिटी ऑव साइन्स, इन्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑव यूनिफाइड साइन्स, भाग १, अंक १।

करता है। वह यह प्रकट करता है कि दो अथवा अधिक शब्द एकार्थी हैं और कि अर्थ के तादात्म्य के आधार पर एक वर्णन दूसरे वर्णन के समान हो जाता है। विटगेन्सटाइन के अनुसार "दर्शन का उद्देश्य विचार का तार्किक स्पष्टीकरण है। दर्शन सिद्धान्त नहीं बल्कि क्रिया है। एक दार्शनिक ग्रन्थ में अवश्य ही स्पष्टीकरण होते हैं। दर्शन का परिणाम अनेक "दार्शनिक सिद्धान्त" नहीं बल्कि उन सिद्धान्तों को स्पष्ट करना है।"[११] इस प्रकार तार्किक भाववादी दर्शन को तार्किक विश्लेषण के द्वारा विज्ञान के परिणामों के स्पष्टीकरण, व्याख्या और सामंजस्य का कार्य सौंपते हैं।

तार्किक विश्लेषण की यह प्रणाली आध्यात्मशास्त्र की अनेक समस्याओं को दूर करने में बहुत ही लाभदायक है। परन्तु अनुभव की सुदृढ़ आधारशिला को छोड़ कर वह केवल अमूर्त छायाओं की ओर ही ले जाता है। अपने अनुभव के प्रसंग से पृथक् की हुई भाषा और समस्त मूर्त सा'र को निकालकर प्रत्यय, मूर्त सद्वस्तु का सही रूप नहीं उपस्थित कर सकते। एक बार तार्किक विश्लेषण की प्रणाली को एकमात्र प्रणाली मान लेने पर समस्त आध्यात्मशास्त्र निश्चित रूप से अर्थहीन बन जाता है। परन्तु आध्यात्मशास्त्र, न केवल प्रकृति अथवा ज्ञान के आध्यात्मशास्त्र के रूप में बल्कि स्वयं सद्वस्तु के आध्यात्मशात्र के रूप में भी संभव है। दर्शन को समस्त आध्यात्मिक खोज से वंचित करना न तो तर्कपूर्ण है और न ही वैज्ञानिक है। तार्किक भाववादियों के 'अर्थ' का अर्थ ही स्पष्ट नहीं है। इसमें अनुभव का क्षेत्र अनुचित रूप से सीमित कर दिया गया है और प्रामाणिकता का अर्थ अस्पष्ट ही रह जाता है। "प्रत्येक विषय में" जैसा कि श्री अरविन्द ने इंगित किया है "समझना, भेद करना तथा जाँचना अत्यन्त आवश्यक है परन्तु आत्मगत और अतिभौतिक को जाँचने की उससे एक भिन्न प्रणाली होनी चाहिये जो कि हम भौतिक अथवा बाह्य वस्तुओं में सफलतापूर्वक लागू करते हैं।"[१२] आध्यात्मशास्त्र के सत्य, सर्वांग सत्य का ज्ञान केवल तादात्म्य के द्वारा अनुभव से ही जाँचा जा सकता है। तार्किक भाववाद बुद्धि के परे सब कुछ अछूता छोड़ देता है। परम् सद्वस्तु जानने की जिज्ञासा भी उतनी ही मौलिक है जितनी कि प्रतीति मात्र को जानने की जिज्ञासा। अतः आध्यात्मशास्त्र का परित्याग अवैज्ञानिक और तर्कहीन होने के अर्थों में भाववाद- विरुद्ध है।

ऐतिहासिक प्रणाली

हेगेल और क्रोचे ने ऐतिहासिक का आध्यात्मिक से तादात्म्य किया है। प्रो० कालिंगवुड के अनुसार "सभी आध्यात्मशास्त्रीय प्रश्न ऐतिहासिक प्रश्न हैं।"[१३]

---

११. विटगेन्सटाइन : ट्रैक्टेटस लॉजिको पॉलिटिकस, पृष्ठ ११२
१२. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४३४
१३. कॉलिगवुड, आर० जी० : एन एसे ऑन मैटाफिजिक्स, पृष्ठ ४६

हेगेल और क्रोचे ने द्वन्द्वात्मक प्रणाली अपनायी। प्रो० कालिंगवुड ने दूसरी और *ऐतिहासिक प्रणाली का प्रयोग किया। उसके अनुसार तत्वदर्शन (Metaphysics)* का प्रयोजन साधारण विज्ञान में अन्तःस्थ पूर्वमान्यताओं की खोज करना है।"[१४] तत्व दर्शन की प्रणाली वही है जो कि विज्ञान की है। इस प्रकार तत्व दर्शन की मान्यतायें केवल अपने प्रसंग में ही सत्य हैं। प्रत्येक तत्व दर्शन का दार्शनिक कथन किसी एक विशेष प्रसंग से सम्बधित होता है। तत्व दर्शन विज्ञान की किसी भी शाखा की विभिन्न अवस्थाओं में उसकी निरपेक्ष मान्यताओं का वर्णन करता है। जैसे-जैसे विज्ञान का इतिहास बदलता है वैसे-वैसे तत्व दर्शन भी बदलता है।

परन्तु, इस प्रकार की प्रणाली तत्व दर्शन को परम सत्य की समस्त खोज से वंचित कर देती है। तत्व दर्शन का इतिहास से तादात्म्य निरपेक्ष पूर्व-मान्यताओं को ज्ञात सिद्धान्तों से मिला देना है। वह उत्पत्ति और प्रामाणिकता का अन्तर न समझने की भारी भूल है। कालिंगवुड ने सर्वातिशायी प्रणाली के परिणामों को सर्वथा भुला दिया है। तार्किक भाववादियों और प्रो० कालिंगवुड ने इस *बात पर ठीक ही जोर दिया है कि तत्व दर्शन तथ्यों पर आधारित होना* चाहिये परन्तु वे तथ्यों के क्षेत्र को विज्ञान तक ही सीमित करने में भूल करते हैं।[१५] तत्व दर्शन मूल्यों तथा तथ्यों दोनों की ही व्यवस्था करता है। केवल निरपेक्ष पूर्वमान्यताओं की खोज दर्शन अथवा विज्ञान किसी में भी लाभदायक नहीं है। अपना नाम सार्थक करने के लिये दर्शन को सर्वांग सत्य की खोज करना चाहिये। ग्लाउकन के इस प्रश्न पर कि "सच्चे दार्शनिक कौन है?" सुकरात ने उत्तर दिया था कि "वे जो कि सत्य की झांकी के प्रेमी हैं।" जिस ज्ञान से वे प्रेम करते हैं वह इस प्रकार का है "जो कि उनको उत्पत्ति और विचार से परिवर्तित न होने वाली शाश्वत प्रकृति के दर्शन कराता है।"[१६]

विश्लेषण और संश्लेषण

वस्तुवादी विशेषतया विश्लेषण पर जोर देते हैं और प्रत्ययवादी संश्लेषण

---

१४. "तत्व दर्शन यह ज्ञात करने का प्रयत्न है कि इस अथवा उस व्यक्ति समूह ने, इस अथवा उस अवसर या अवसरों के समूह पर, इस अथवा उस विचार के बीच किन निरपेक्ष पूर्व मान्यताओं को माना था।"—वही, पृष्ठ ४७

१५. दर्शन "सत के सिद्धान्तों और मौलिक सद्वस्तुओं को उसकी प्रक्रियाओं और उन प्रक्रियाओं से निकलने वाली प्रतीतियों से भिन्न रूप में निश्चित करने का एक प्रयास है।"

—श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४५६

१६. प्लेटो : रिपब्लिक, चतुर्थ पुस्तक, पृष्ठ ४८५

पर। निरपेक्षवादियों ने विश्लेषण प्रणाली के विरुद्ध घोर तर्क किये हैं। ब्रैडले ने लिखा है "...परन्तु इन्द्रियों का पर्दा धोखाधड़ी और ठगी है यदि वह परमाणुओं की कुछ रंगहीन गति, अग्राह्य अभूत छायाओं के कुछ प्रेततुल्य बाने अथवा रक्तहीन वर्गों की कुछ अमानवीय लीला को छिपा लेता है। इस प्रकार के परिणामों पर खिंच आने पर भी हम उनको आत्मसात नहीं कर सकते। हमारे सिद्धान्त सत्य हो सकते हैं परन्तु वे सद्वस्तु नहीं हैं। वे उससे अधिक पूर्ण नहीं बनाते, जो कि हमारी आस्था बनाती है, जितना कि मानव लोथड़ों का कोई छिन्न-भिन्न विश्लेषण वह उष्ण तथा प्राणमय सौन्दर्य है जिसको कि हमारे हृदय सुखदायक पाते हैं।"[१७] बर्गसाँ के अनुसार "दर्शन पूर्ण में पुनः डूब जाने का एक प्रयत्न मात्र हो सकता है।"[१८] ब्रैडले और बर्गसाँ के इस विचार के विरुद्ध इ० जी० स्पाल्डिंग "जानने की एक प्रणाली" के रूप में विश्लेषण का समर्थन करता है "जो कि उन वस्तुओं या अंशों का पता लगाती है जो कि बिल्कुल उसी अर्थ में यथार्थ हैं जिसमें कि वे पूर्ण जिनका विश्लेषण किया जाता है।"[१९] वह रूपात्मक अर्थात् प्रत्ययवादी और प्रयोगात्मक अर्थात् भौतिक विश्लेषण में भेद करता है और संकेत करता है कि जबकि पिछला वास्तव में सद्वस्तु को छिन्न-भिन्न कर देता है पहला नहीं। जैसा कि एक आलोचक ने ब्रैडले के विरुद्ध कहा है "हम अपने सन्मुख संबोधि द्वारा उपस्थित गति का अमूर्त तत्वों में विश्लेषण कर सकते हैं परन्तु उस अवस्था में हमें यह याद रखना चाहिये कि इनमें से प्रत्येक तत्व एक एकांगी दृष्टिकोण है, एक सीमा जो कि हमने स्वयं निर्धारित की है ताकि विश्लेषण और खोज में सरलता हो सके और जो किसी यथार्थ विभाजन के अनुरूप नहीं है।"[२०]

परन्तु वस्तुवादी एवं प्रत्ययवादी दोनों एक सी ही भूल करते है। दर्शन में विश्लेषण को सब कुछ मान लेना उतना ही एकांगी है जितना कि उसका पूर्ण बहिष्कार। विश्लेषण और पृथक्करण के बिना अनुभव एक गहरी खाई में आँखें मूँद कर कूदने के समान है। वह सद्वस्तु को एक अस्पष्ट पूर्ण और एक मृतक एकता के रूप में पाता है। दूसरी ओर शुद्ध विश्लेषण अनुभव के परिवर्तनशील और छिन्न-भिन्न टुकड़ों के मध्य की एकता को खो देता है। साक्षात्कार के अतिरिक्त अनुभव का प्रत्ययों में वर्णन करना भी दार्शनिक का उतना ही आवश्यक कर्तव्य है। जबकि प्रथम समग्र सत्ता के द्वारा पहुँचने से ही संभव है दूसरे में आवश्यक रूप से विश्लेषण रहता है। स्पाल्डिंग के साथ यह माना जा

१७. ब्रैडले : लॉजिक, पृष्ठ ५९१

१८. बर्गसाँ : क्रीयेटिव एवाल्यूशन, पृष्ठ २०२

१९. स्पाल्डिंग, ई० जी० : द न्यू रियलिज्म, पृष्ठ १५५

२०. एलिओटा, एस० : आइडिलिस्टिक रीएक्शन अगेन्स्ट साइन्स, पृष्ठ १०७

सकता है कि विश्लेषण का पूर्णतया बहिष्कार नहीं किया जा सकता चाहे कुछ अवस्थाओं में उसे छोड़ भी देना पड़े।

परन्तु वस्तुवादी दार्शनिक प्रत्ययवाद के आधारभूत प्रत्ययों के वास्तविक अर्थों को समझने में असफल रहे हैं। विश्व को एक चेतन पूर्ण समझने के प्रत्ययवादी दृष्टि-कोण का प्रतिवाद करने के लिये पिटकिन के प्रयोगात्मक जीवशास्त्र और शल्य चिकित्सा से उदाहरण आध्यात्मिक अनुभव की प्रामाणिकता को व्यर्थ सिद्ध करने के लिये भाषा की कठिनाइयों का दुरुपयोग करने का एक उदाहरण है। उत्पत्ति प्रामाणिकता को निश्चित नहीं करती। भाषा की कठिनाइयाँ अनुभव की प्रामाणिकता के विरुद्ध कोई तर्क नहीं है। परन्तु दूसरी ओर प्रत्ययवादियों को, एक जीवित पूर्ण के रूप में विश्व के आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर, समस्त बाह्य सम्बन्धों का बहिष्कार करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि व्यक्ति केवल निरपेक्ष सत्ता के एक अंश के रूप में ही सत्य नहीं है बल्कि उस परमपूर्ण के अन्तर्गत स्वयं एक पूर्ण है।

श्री अरविन्द का सर्वांगवादी सिद्धान्त

ज्ञान में बुद्धि का भाग

श्री अरविन्द के अनुसार "मानसिक कल्पना के इस समस्त श्रम की उपयोगिता मानव मस्तिष्क को शिक्षित करने और उसके सन्मुख किसी परात्पर और परम का विचार रखने में है जिसकी ओर उसको अवश्य ही घूमना चाहिये। परन्तु बौद्धिक तर्क उसकी ओर केवल अस्पष्ट संकेत कर सकता है, भटकते हुये अनुभव कर सकता अथवा उसके यहाँ प्रादुर्भाव के परस्पर विरोधी और एकांगी पहलुओं की ओर संकेत करने की चेष्टा कर सकता है, वह उसमें प्रविष्ट होकर उसको जान नहीं सकता।"[२१] बुद्धि अपने निर्णयों में किसी अन्तिम निश्चय पर नहीं पहुँच सकती क्योंकि वह न तो मूल तक जा सकती है और न पूर्ण को पा सकती है। न ही वह जीवन को गतिशील शक्ति ही दे सकती है। विचार, चाहे वह ऐन्द्रिक दोष, इच्छा, पुराने साहचर्य और बौद्धिक पक्षपात से कितना भी मुक्त हो, केवल तभी प्रभावोत्पादक होता है जबकि उसके साथ दिव्यदृष्टि, साक्षात्कार और अनुभव होता है। तर्क नहीं बल्कि केवल एक उच्चतर संबोधि ज्ञान ही निम्न संबोधि का निर्णायक हो सकता है। यह निश्चित है कि अन्ततोगत्वा तर्क और अनुभव का सामंजस्य होना चाहिये। परन्तु उस सामंजस्य को प्राप्त करने के लिये तर्क ही को गतिशील होना चाहिये, मस्तिष्क को ही आत्म-

---

२१. श्री अरविन्द : द रिडिल आँव दिस वर्ल्ड, पृष्ठ २४

समर्पण करना चाहिये। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "तर्क, अन्ततः मस्तिष्क का एक सन्तुलित नृत्य ही है और कुछ नहीं।"[२२]

बुद्धि के दोष वास्तव में बहुत अधिक हैं, उदाहरणार्थ उसका सन्देह की ओर झुकाव, उसका बुद्धेत्तर तत्वों को जांचने का दंभ, उसका अतिभौतिक की भौतिक के द्वारा व्याख्या करने का प्रयत्न और अन्त में उसकी उच्चतर और आध्यात्मिक के भौतिकी प्रमाण की माँग। परन्तु ये तथा अन्य दोष केवल साधारण अप्रकाशित वद्धि के हैं जो कि साक्षात्कार से निदेशित नहीं है। जिस प्रकार से असंयमित और अपरिमार्जित प्राण शक्ति के स्वाभाविक दोष स्वयं प्राणशक्ति के मूल्य के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं हैं उसी प्रकार बुद्धि की असफलतायें हमको बुद्धि मात्र का ही परित्याग करने का अधिकार नहीं देतीं। सर्वांग सत्य के जिज्ञासु को वास्तव में मानसिक प्रस्तावों और बौद्धिक परिणामों को साक्षात्कार समझ लेने के विरुद्ध सावधान रहना चाहिये। फिर मानस का अशान्ति जो कि चैत्य तत्व की स्वाभाविक क्रिया में विघ्न उपस्थित करती है और यथार्थ प्रकाशमान ज्ञान के अवतरण को पीछे हटाती है अथवा मानव मस्तिष्क को पूर्णतया छूने से पूर्व अथवा तत्काल ही बिगाड़ देती है, सतत प्रयत्न द्वारा संयमित की जानी चाहिये। "परन्तु" जैसा कि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "यदि बुद्धि समर्पित, मुक्त, शान्त और उन्मुख है तब कोई कारण नहीं है कि वह क्यों प्रकाश के पाने का साधन अथवा आध्यात्मिक अवस्थाओं के अनुभव और एक आन्तरिक परिवर्तन की पूर्णता में सहायक न बन जाए।"[२३] यदि प्राणात्मक और भौतिक माध्यम से प्रकाश पाया जा सकता है तो कोई कारण नहीं कि क्यों न वह विचार शील मस्तिष्क के द्वारा पाया जा सके। आवश्यक बात यह है कि विचार को साक्षात्कार का साथी बनाया जा सके। मानस शिक्षित एवं उच्चतर सत्य को प्राप्त करने के लिये प्रकाशमान होना चाहिए। निम्न अथवा बाह्य की ओर क्रिया के अतिरिक्त बुद्धि के उर्ध्वोन्मुख एवं अन्तर्मुखी चक्षु भी हैं और एक अधिक ज्योतिर्मय शक्ति भी जो कि उसको गुप्त असीम शक्तियों से ज्ञान प्राप्त करने में सहायता करती है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "बुद्धि स्वयं हमको मूर्त आध्यात्मिक सद्वस्तु के संसर्ग में लाने योग्य नहीं है परन्तु वह आत्मा के सत्य को एक मानसिक रूप में ढालकर सहायता दे सकती है जो कि उसकी मानस से व्याख्या करती है तथा एक और भी अधिक प्रत्यक्ष खोज में लगाई जा सकती है, यह सहायता विशेष महत्व की है।"[२४] यह दुर्भाग्य का विषय है कि बौद्धिक प्रत्ययों में अनुवाद किये जाने पर गुप्त सत्य छिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी आदर्श बन जाते हैं। हमें उनको किसी भी प्रकार के सामंजस्य में लाने में सब प्रकार की कठि-

२२. श्री अरविन्द : लैटर्स, सैकिण्ड सीरीज, पृष्ठ २४८

२३. श्री अरविन्द : लाइट्स ऑन योग, पृष्ठ ३७

२४. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २ पृष्ठ ७१३

नाइयाँ पड़ती हैं क्योंकि हमारे जीवन के प्रत्यय एक प्रकार की प्रयोगात्मक और अनुभववादी खोज से आगे बढ़ते हैं। परन्तु जैसे-जैसे बुद्धि लम्ब रूप में और बहुमुखी प्रगति करती है आन्तरिक और बाह्य जीवन विस्तार और गहराई में आगे बढ़ता है, आत्मज्ञान एवं आत्मसाक्षात्कार की नवीन संभावनायें खुल जाती हैं और आध्यात्मिक चेतना में जागरण और भी अधिक निश्चित हो जाता है। वह आध्यात्मिक जागृति के लिये एक प्रकार का आधार प्रस्तुत करता है। श्री अरविन्द के अनुसार, "बुद्धि सर्वोच्च प्रकाश नहीं है और फिर भी वह सदैव ही एक आवश्यक प्रकाशवाहक है और जब तक उसको उसके अधिकार नहीं मिलते और हमारी प्रथम निम्न मूल प्रवृत्तियों, आवेगों, तीव्र पक्षपातों, अपरिष्कृत विश्वासों तथा अन्ध पूर्व-निर्णयों को परखने और शुद्ध करने की आज्ञा नहीं मिलती तब तक हम एक वृहद्तर अन्तरंग प्रकाश के पूर्ण अनावरण के लिये बिल्कुल प्रस्तुत नहीं हैं।"[२५]

असीम का तर्क

"जो कुछ हमारी सीमित बुद्धि के लिये जादू है वह असीम की तर्क है।"[२६] परम् सद्वस्तु बौद्धिक तर्क से आगमन अथवा निगमन के द्वारा नहीं जानी जा सकती जो कि नाम और रूप के तत्वों के विचार से बढ़ता है और उसको अपना मानदण्ड बना लेता है। एक अबोध अहं-ज्ञान, सम्पूर्ण-ज्ञान की गतियों का अनुसरण नहीं कर सकता।"[२७] जैसे-जैसे वस्तुयें और भी गहन होती जाती हैं, जैसे-जैसे विकास की शृंखला उठती है, प्रक्रिया और भी अनिश्चित होती जाती है, जैसे-जैसे सद्वस्तु की व्यवस्था परिवर्तित होती है वैसे-वैसे उस पर लागू होने वाले प्रत्यय, नाप जोख और मानदण्ड भी बदलते हैं। भौतिक जगत् के नियम अभौतिक पर लागू नहीं होते। जीवन के नियम मानव मस्तिष्क की व्याख्या करने में अपर्याप्त हैं। फिर सीमित असीम का और विभाज्य, अविभाज्य का विवेचन नहीं कर सकता। हमारे तर्क के मानदण्ड अपने क्षेत्र में सुचारु हो सकते हैं परन्तु अन्य क्षेत्रों में लागू करने पर वे कार्य नहीं करते। बुद्धि निम्नतर और उच्चर स्तरों से व्यवहार करने में कठिनता अनुभव करती है। अबाधित स्वयं को असीम और सीमित में बाँध देता है। अपरिवर्तनीय एक सतत् परिवर्तन और असंख्य भेद स्वीकार कर लेता है। आत्मा की एक प्रकृति है और फिर भी वह अपनी प्रकृति से परे है। एक, असंख्य अनेक बन जाता है और निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व का सृजन एवं संरक्षण करता और स्वयं भी एक व्यक्ति है। सत संभूति में परिवर्तित हो जाता है परन्तु फिर भी वह सदैव स्वयं जैसा और अपनी संभूति

२५. श्री अरविन्द : एवाल्यूशन, पृष्ठ २६

२६. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २ पृष्ठ ४२

२७. वही, पृष्ठ ४०

से पृथक् रहता है। व्यक्ति सार्वभौम बन जाता है और सार्वभौम व्यक्ति ब्रह्म एक साथ ही निर्गुण भी है और असीम गुणों के योग्य भी, कार्यों का स्वामी और कर्ता है परन्तु फिर भी एक अकर्ता और प्रकृति के कार्यों का एक मौन साक्षी है। ये सभी निर्णय परस्पर विरोधी हैं।

परन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि असीम के कार्य तर्कहीन हैं? "असीम की विश्व-प्रक्रिया और सनातन की काल-प्रक्रिया को यथार्थ रूप में समझने के लिए" जैसा कि, श्री अरविन्द ने लिखा है, "चेतना को इस सीमित बुद्धि और सीमित अनुभव से एक वृहत्तर तर्क आध्यात्मिक अनुभव की ओर जाना चाहिए जोकि असीम की चेतना के सम्पर्क में और असीम के तर्क के अनुकूल हों जोकि स्वयं सत् का तर्क है और उसकी स्वयं अपनी सद्वस्तुओं की आत्म प्रक्रिया से उठता है, एक ऐसा तर्क जिसका क्रम विचारों की सीढ़ियाँ नहीं बल्कि अस्तित्व की श्रेणियाँ हैं।"[२८] सूक्ष्मतम और विराट दोनों ही निर्बन्ध हैं परन्तु बुद्धिहीन चमत्कार नहीं हैं। सद्वस्तु के प्रत्येक स्तर का एक अपना विशेष तर्क है। असीम के कार्यों में भी एक तर्क है क्योंकि वहाँ अव्यर्थ रूप के देखे जाने वाले और सक्रिय संश्लेषण और सम्बन्ध हैं। परन्तु वह एक आध्यात्मिक अथवा अतिमानसिक तर्क है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "वह एक वृहत्तर बुद्धि है, एक वृहत्तर तर्क क्योंकि वह अपनी क्रियाओं में अधिक विस्तृत, सूक्ष्म और गहन है। वह उन समस्त तत्वों को देखता है जिनको पकड़ने में हमारा निरीक्षण असफल होता है, वह उनसे ऐसे परिणाम निकालता है जिनकी न तो हमारा निगमन और न आगमन ही आशा करता है क्योंकि हमारे निर्णयों और अनुमानों की नींव बहुत संक्षिप्त है और वे व्यर्थ होने और बिखर जाने योग्य हैं।"[२९] असीम का तर्क हमारे सीमित तर्क का विरोधी है क्योंकि वह असीम, पूर्ण तथा तत्व को ग्रहण करता है जबकि हमारा सीमित तर्क न्यूनाधिक अंशों और नाम रूपों तक सीमित है।

दार्शनिक प्रणालियों पर अपनी पुस्तक में प्रो० कॉलिंगवुड ने दार्शनिक विषयों पर लागू करने के लिये परम्परागत तर्क को परिवर्तन करने की चेष्टा करके दर्शन की बड़ी सेवा की है। यदि अनुभववादी विज्ञानों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये एक आगमनात्मक तर्कशास्त्र है और यदि सामाजिक विज्ञानों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये निगमन से मिले हुये आगमनात्मक तर्क के अनेक स्तर हैं तो दर्शन की माँगों की पूर्ति करने के लिये भी एक विशिष्ट तर्कशास्त्र होना चाहिये। परन्तु अपने बौद्धिक और इतिहास सम्बन्धी पक्षपात के कारण कॉलिंगवुड दर्शन के एक सच्चे तर्क पर आने में असफल रहता है। दर्शन, जैसा कि विलियम जेम्स ने कहा है, केवल व्यवस्थित रूप से सोचने

---

२८. वही, पृष्ठ २२०

२९. वही, पृष्ठ ४२

का एक असाधारण रूप से सतत् प्रयत्न ही नहीं है, बल्कि वह मुख्य रूप से और सब कहीं सदवस्तु को जानने का एक सतत् प्रयत्न है। दर्शन का तर्क सद्वस्तु के सर्वांग ज्ञान पर आधारित होना चाहिये। तर्क को नवीन अनुभवों की व्याख्या करने के लिये परिवर्तित होना चाहिये। नवीन तथ्यों की व्याख्या करने के लिये नवीन नियम और नवीन वर्गों की आवश्यकता है। जबकि दो और दो मिलकर चार होते हैं, असीम और असीम मिलकर असीम ही बनता है। गीता के अनुसार "वह वस्तुओं में अविभाज्य रहता है परन्तु ऐसे मानो कि विभाजित हो।" असीम के गणित में सभी विभक्तियों और विभिन्नताओं में एक अन्तरंग एकता रहती है। उपनिषद कहते हैं—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते॥[३०]

अर्थात् वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निकलता है परन्तु पूर्ण ही बच जाता है। असीम अपने सत्व, सार्वभौम और व्यक्तिगत सभी रूपों में यथार्थ है। एक और अनेक निरपेक्ष सत्ता के मौलिक पहलू हैं। एकता में एक विभिन्नता और समृद्धि है। यह सब पूर्णतया तर्कपूर्ण है। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "...यदि सीमित एकता और समानता की एक कठोर एकरसता ही होती तो बुद्धि और तर्क के लिये कोई स्थान नहीं था क्योंकि तर्क सम्बन्धों के सही प्रत्यक्षीकरण में है। बुद्धि का सर्वोच्च कार्य अनेक, विरोधी और विभिन्न को जोड़ने में और एक करने वाली, एक सारपदार्थ, एक नियम और संयोजक अव्यक्त सद्वस्तु की खोज है।"[३१]

अद्वैत वेदान्त के मूल सिद्धान्त के अनुसार सद्वस्तु एक, निर्वैयक्तिक, निर्बन्ध अप्रगट, निःसंग, विभु, स्थिर और अंशहीन है। अतः अनेक व्यक्तिगत, बंधा हुआ, प्रगट, सम्बन्धित, परिवर्तनशील और वह जोकि अंशों से सम्बन्धित है, परम अर्थों में अयथार्थ, मिथ्या और अस्तित्वहीन है। जैसा कि शंकर ने स्याद्वाद के विरुद्ध तर्क किया है, एक ही वस्तु एक ही समय में अनेक रूपात्मक नहीं हो सकती। (नैकस्मिन्न संभवात्)। चूंकि प्रकृति और पराप्रकृति के स्वभाव में अन्तर है इसलिये वे एक ही सद्वस्तु पर लागू नहीं हो सकतीं। निरपेक्ष सत्ता असीम है और इस कारण उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसा कि स्पिनोजा ने कहा है "एक गुण का आरोप दूसरे का निषेध है।" परन्तु यदि निरपेक्ष के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता तो तत्व दर्शन ही असंभव है। सीमित मस्तिष्क की निर्विकल्प सत्ता को सविकल्पता एक विरोधाभास सा प्रतीत

३०. बृहदारण्यक उपनिषद्, १,४,१०

३१. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ५६

होता है। 'परन्तु' जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "यह विरोध मिट जाता है जबकि हम यह समझ लेते हैं कि निर्विकल्पता अपने यथार्थ अर्थों में निषेधात्मक नहीं है, असीम पर सामर्थ्यहीनता का आरोप नहीं है, बल्कि भावात्मक है, अपने स्वयं के संकल्पों के बन्धन से अपने में एक स्वतन्त्रता है और साथ ही जो कुछ वह स्वयं नहीं है ऐसी किसी भी वस्तु के समस्त बाह्य संकल्पों से स्वतन्त्रता है क्योंकि इस प्रकार की अनात्मा के अस्तित्व में आने की कोई यथार्थ संभावना नहीं है।"[३२] दैवी सत्ता की ओर जाने वाला मार्ग केवल निषेधात्मक ही नहीं है। उपनिषद असीम के विषय में नेति नेति के एक नकारात्मक तर्क और इति इति के एक सकारात्मक तर्क दोनों का ही प्रयोग करते हैं। सभी प्रकार के स्वीकारात्मक निर्णय निरपेक्ष सत्ता में गतिहीनता अथवा क्रियात्मकता का समर्थन करते हैं। सब प्रकार के नकार उस स्थिरता अथवा क्रियात्मकता में उसकी स्वतंत्रता के स्वीकार हैं। एक केवल नकारात्मक दृष्टिकोण शून्यवाद अथवा अज्ञेयवाद की ओर ले जाता है। निरपेक्ष के विषय में कोई भी विधेय अपने विरोधी की संभावना का निषेध नहीं करता क्योंकि असीम के विषय में प्रत्येक विधेय एक "तार्किक चिद्बिन्दु" है जिसमें झरोखे नहीं हैं। असीम अपनी समस्त अवस्थितियों में पूर्ण है। निरपेक्ष सत्ता एक साथ ही सब कुछ है और कुछ भी नहीं। उसमें कोई नकार नहीं क्योंकि वह तो निषेध है अथवा जैसा कि एखार्ट ने कहा है "नकार का नकार है।" ब्रैडले इन दो दृष्टिकोणों के बीच घूमता है कि जो कुछ भी है वह सब कुछ सद्वस्तु में होना चाहिये और कि निरपेक्ष समस्त सम्बन्धों से परे है। परस्पर विरुद्ध होते हुये भी ये दो प्रवृत्तियाँ सद्वस्तु की केवल दो अवस्थितियों का प्रतिनिधित्व करती हैं,[३३] जिनको ब्रैडले 'हमारी ओर' का दृष्टिकोण और "विश्व की ओर" का दृष्टिकोण कहता है। यह देखते हुये कि यहाँ पर अनुभव व्यभिचार के नियम से नहीं समझाया जा सकता जिसका कि ब्रैडले ने अपने ग्रन्थ 'एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी' की प्रथम पुस्तक में प्रचुरता से प्रयोग किया है, ब्रैडले, निरपेक्ष सत्ता के अपने वर्णन में तर्कहीन "जैसे तैसे" (Somchow) का प्रयोग करता है। आलोचकों ने यह ठीक ही पूछा है कि यदि "जैसे तैसे" निरपेक्ष के विषय में सत्य है तो फिर प्रतीतियों के विषय में सत्य क्यों नही है ? तत्व दर्शन में केवल आस्था अथवा अनुभव से कोई भी तर्क प्रमाणित नहीं हो सकता क्योंकि तत्व दर्शन का अनुभव

---

३२. वही, पृष्ठ ४६

३३. "सभी स्वीकार का निषेध केवल उसी सद्वस्तु के एक वृहत्तर स्वीकार की ओर ले जाने के लिये होता है। सभी विरोध परस्पर विरुद्ध पक्षों में एक सत्य को पहचानने और संघर्ष के मार्ग से उनकी पारस्परिक एकता को आत्मसात करने के लिये ही एक दूसरे का विरोध करते है।"
—श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, प्रथम भाग, पृष्ठ ४१

से तार्किक नहीं बल्कि सत्तात्मक सम्बन्ध है। तत्व दर्शन में स्थान पाने के लिये साक्षात्कार का अपना तार्किक कारण होना चाहिये। असीम के कार्यों की व्याख्या करने में सीमित के तर्क की असमर्थता समस्त तत्व दर्शन को "मिथ्या कारणों की खोज" कह कर छोड़ देने का कोई तर्क नहीं है ना ही वह हमें असीम के कार्यों को तर्कहीन अथवा केवल आस्था पर आधारित ठहराने का अधिकार देती है। तर्क ही तर्क को काट सकता है। जहाँ पर हमारा तर्क असफल होता है वहाँ हमको असीम के तर्क का सहारा लेना चाहिये। जैसा कि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "असीम सत्ता की चेतना हमारी मानसिक चेतना और ऐन्द्रिक चेतना से भिन्न है, वह अधिक महान् और महत है क्योंकि वह उसको अपने कार्य के निम्न अंगों के रूप में सम्मिलित कर लेती है और असीम सत्ता का तर्क हमारे अपने बौद्धिक तर्क से भिन्न है। गौण तथ्यों से निकले हुये विचारों और शब्दों से सम्बन्ध रखने वाले हमारे मानसिक दृष्टिकोण के लिये जो कुछ असंगत विरोधी तत्व हैं उनको वह असीम सत्ता अपनें महान् मौलिक सत के तथ्यों में सुसंगत कर देती है।"[३४] तत्व दर्शन में असीम के कार्यों की व्याख्या करने के लिये हमें आस्था नहीं बल्कि असीम के तर्क का सहारा लेना चाहिये। ब्रैडले ने ठीक ही कहा है कि निरपेक्ष के विषय में विरोधी मित्र बन जाते हैं।[३५] यहाँ यह कहा जा सकता है कि क्योंकि निरपेक्ष सत्ता में ये विभिन्न तत्व असंगत नहीं रह पाते अतः असीम के कार्य पूर्णतया तर्कपूर्ण हैं। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है "जिन्हें हमारा मानस विरोधी के रूप में देखता है वे ही असीम चेतना के लिये विरोधी न होकर पूरक हैं।"[३६]

जैसे-जैसे सद्वस्तु का स्तर बदलता है वैसे-वैसे उसके अनुभव का वर्णन करने वाले प्रत्यय भी बदलने चाहियें। विज्ञान के सामान्य प्रत्ययों अथवा गणित के सापेक्षिक प्रत्ययों के द्वारा आध्यात्मिक अनुभव की व्याख्याएं स्वभावतः ही अपर्याप्त है।[३७] असीम के तर्क के आध्यात्मिक अनुभव पर आधारित अपने प्रत्यय हैं। श्री अरविन्द ने इस प्रकार के अनेक प्रत्यय विकसित किये हैं यथा Subconscient (अवचेतन), Overmind (अधिमानस), Supermind (अतिमानस),

---

३४. वही, पृष्ठ १०१

३५. चर्च, आर० डब्लू० : ब्रैडलेज डायालेक्टिक, पृष्ठ २४

३६. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ २१६

३७. "जो कुछ देशकाल में विभाजित है उसके निरीक्षण पर आधारित एक नियम अविभाज्य की सत्ता और कार्यों पर विश्वासपूर्वक लागू नहीं किया जा सकता। न केवल यह कि वह देश कालातीत असीम पर लागू नहीं किया जा सकता बल्कि वह एक-असीम अथवा देश-असीम पर भी नहीं लागू हो सकता है।"

—श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४१

Intuitive mind (बोधिमय मानस) और Illumined mind (ज्ञान प्रदीप्त मानस) इत्यादि। जैसे-जैसे दार्शनिक अपने अनुभव में आगे बढ़ता है उसको उसकी व्याख्या करने के लिये नवीन प्रत्यय विकसित करने चाहियें। जैसे-जैसे दार्शनिक अपने अनुभव में गहरे पैठता है वैसे-वैसे प्रत्यय भी विकसित होते है और अधिक समृद्ध अर्थों और बृहत्तर तत्वों में परिपक्व होते हैं।

संबोधि प्रणाली

"ईश्वर और विश्व की आध्यात्मिक झांकी", जैसा कि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "केवल प्रत्ययवादी नहीं है ना ही मुख्य रूप से अथवा मूल रूप से प्रत्ययवादी है। वह प्रत्यक्ष अनुभव है और इतना यथार्थ, स्पष्ट, निकट, सतत, प्रभावशाली और अन्तरंग है जितना कि मानस के लिये उसका प्रतिमाओं, वस्तुओं और व्यक्तियों का ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष और अनुभव।"[३८] 'स्व' का ज्ञान स्वगत ही हो सकता है। परम सद्वस्तु, प्रत्यक्ष संपर्क के द्वारा एक प्रकार के संबोधि (Intuitive) ज्ञान द्वारा ही जानी जा सकती है। कभी-कभी तर्क के आधीन होने पर भी संबोधि ज्ञान सदैव ही दर्शन में ज्ञान के प्रामाणिक श्रोतों में से माना गया है परन्तु उसकी यथार्थ प्रकृति बहुधा भुला दी गई है।

प्रारम्भिक पाश्चात्य अनुभववादियों ने संबोधि ज्ञान का ऐन्द्रिक अनुभव से तादात्म्य कर दिया। क्रोचे ने 'मानसिक प्रतिमाओं के रूप में संवेदना' कहकर संबोधि ज्ञान की व्याख्या की। पश्चिम में सर्वप्रथम ब्रैडले ने एक पूर्ण के अनुभव के रूप में संबोधि की प्रकृति को पहचाना। उसने इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव पर आधारित प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में अनुभववादियों की संबोधि ज्ञान की व्याख्या का तिरस्कार किया। ब्रैडले तथा स्पिनोजा दोनों के लिये संबोधि एक मूर्त व्यवस्था के रूप में सद्वस्तु का ज्ञान है जो कि केवल सार्वभौम पहलू में ही नहीं बल्कि उसकी अद्वितीय विलक्षणता और वैयक्तिकता में भी है। ब्रैडले के अनुसार सहज अनुभव में "हम जो कुछ पता लगा पाते हैं वह एक पूर्ण होता है जिसमें पृथक्करण किया जा सकता है परन्तु जिसमें विभाजन नहीं रहते।"[३९] इस प्रकार संबोधि एक पूर्ण अनुभव है। श्री अरविन्द के अनुसार "...सर्वोच्च बोधिमय ज्ञान वस्तुओं को पूर्ण में, देखता है, विस्तार और वृहदाकार में केवल अविभाज्य पूर्ण के पहलुओं के रूप में, देखता है। उसकी प्रवृत्ति ज्ञान के सहज सामंजस्य और एकता की ओर रहती है।"[४०]

शंकर के अनुसार संबोधि ज्ञान "ज्ञाता का ज्ञान" (दृष्टुर्दृष्टिः) है। वह ब्रह्म

---

३८. श्री अरविन्द : एसेज ऑन गीता, भाग २, पृष्ठ १३४

३९. ब्रैडले, एफ० एच० : एपीयरेन्स एण्ड रीलियटी, पृष्ठ १२८

४०. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग १ पृष्ठ ८४



की खोज का अन्तिम परिणाम है और खोज का विषय एक प्राप्त पदार्थ है।[४१] वह क्रिया नहीं है बल्कि स्वयं ज्ञान ही है।[४२] वह भेद रहित और एक रस है जिसका तत्व, यदि इस प्रकार कहा जा सके तो "निर्गुणोगुणी" है। जैसा कि ब्रैडले ने कहा है "मैं इस परिणाम पर पहुंचता हूं कि मेरे लिये अनुभव वही है जोकि सद्वस्तु है।"[४३] सर्वोच्च कालातीत स्थिति में, जहाँ पर कि चेतना सत् से एक होती है, ज्ञान की कोई प्रक्रिया नहीं है। वह न तो ज्ञान की क्रिया है न निरीक्षण बल्कि यह आन्तरिक आभास है कि आत्मा ही सब कुछ है और सब कुछ आत्मा है। यह उस आत्मा की स्वाभाविक चेतना है जो प्रत्येक वस्तु है और सब कुछ है। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "...यह समस्त ज्ञान, अन्तरंग, स्वतः सिद्ध, स्वाभाविक, ज्ञान के किसी कार्य विचार अथवा क्रिया की आवश्यकता के बिना रहता है क्योंकि ज्ञान यहाँ पर एक कार्य नहीं है बल्कि एक शुद्ध, सतत् और अन्तरंग दशा है।"[४४]

श्री अरविन्द के अनुसार प्रकृति में ज्ञान की चार प्रणालियाँ हैं, तादात्म्य द्वारा ज्ञान, निकट प्रत्यक्ष सम्बन्ध द्वारा ज्ञान, विभाजनकारी प्रत्यक्ष सम्बन्ध द्वारा ज्ञान, अप्रत्यक्ष सम्बन्ध द्वारा एक पूर्णतया विभाजनकारी ज्ञान। तादात्म्य द्वारा ज्ञान हमारी अपनी सारभूत सत्ता का प्रत्यक्ष ज्ञान है।[४५] वह अन्य किसी तत्व के बिना ही आत्मा का ज्ञान है। दूसरी ओर वस्तुओं का ज्ञान एक पूर्णतया विभाजनकारी और अप्रत्यक्ष सम्बन्ध पर आधारित ज्ञान है। इस प्रकार का ज्ञान हमें कुछ नहीं बतला सकता जब तक कि वह बुद्धि के हस्तक्षेप के साथ इन्द्रिय, मानस, प्राण और प्रत्यक्षकारी मानस के संबोधि ज्ञान से सहारा न पाये। एक सर्वांग ज्ञान प्राप्त करने के लिये सीमित ससीम को असीमित ससीम अथवा असीम बन जाना चाहिये। अप्रत्यक्ष सम्बन्ध के द्वारा ज्ञान को जैनों के केवल-ज्ञान के समान तादात्म्य ज्ञान में समाप्त होने वाले एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध द्वारा ज्ञान का सहारा अवश्य मिलना चाहिये। विश्व को पूर्णतया जानने के लिये हमें पहले आत्मा को जानना चाहिये क्योंकि जैसा कि श्री अरविन्द ने संकेत किया है "...चेतना विषयी और विषय दोनों में एक है।"[४६]

सर्वांग ज्ञान सब कुछ आत्मा में, सब में आत्मा और आत्मा को सब कुछ

---

४१. "अनुभवावसानत्वाद्भूत वस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्म ज्ञानस्य" —शांकर भाष्य

४२ "ननु ज्ञानम नाम मानसी क्रिया।" —शांकर भाष्य १, १, ४

४३. ब्रैडले, एफ० एच : एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ १२

४४. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ३०५

४५. "जानना तादात्म्य करना, परत्व को दूर करना है।"
—जैन्टाइली : द थ्योरी ऑव माइन्ड एज प्योर एक्ट, पृष्ठ १३

४६. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ २९९

मानते हुए, सम्मिलन, अन्तर्वास और तादात्म्य का त्रिविध ज्ञान है। यह ज्ञान तभी सम्भव है जबकि प्रच्छन्न (Subliminal) सत्ता की सीमाएँ टूट जाती हैं और मानव विश्व चेतना से एक हो जाता है। जिस प्रकार से हमारी बाह्य प्रकृति विश्व प्रकृति से शरीर द्वारा पृथक् है उसी प्रकार एक अधिक भीने आवरण से प्रच्छन्न पुरुष विश्व पुरुष से मानस, प्राण और सूक्ष्म भौतिक कोष द्वारा पृथक् है। परन्तु प्रच्छन्न पुरुष के चारों ओर एक वृत्ताकार चेतना (Circumconscient) है जिसके द्वारा वह संसार का स्पर्श ग्रहण करता है और उसको जान सकता है। वृत्ताकार चेतना अपरिमित रूप से विस्तृत हो सकती है जब तक कि वह विश्व सत्ता से स्वयं का ऐक्य और तादात्म्य न कर ले और स्वयं का सार्वभौम तथा समस्त सत्ता से एक रूप न अनुभव करे। केवल तभी विश्व सत्ता का अस्तित्व एक आस्था बन पाता है। परन्तु प्रच्छन्न पुरुष में हम केवल एक वृहत्तर ज्ञान को ही पाते हैं, अतिमानसिक स्तरों पर रहने वाले पूर्ण एवं मौलिक ज्ञान को नहीं पाते जो कि अतिचेतन क्षेत्रों में ही रहता है।

संबोधि तादात्म्य द्वारा ज्ञान के अधिक निकट चेतना की एक शक्ति है। परन्तु उसके मिथ्या अर्थ निकाले जाने और अन्य मानसिक तत्वों से मिल जाने का भय है। संबोधि ज्ञान प्राणात्मक, भौतिक और मानसिक इत्यादि विभिन्न स्तरों के अनुरूप पृथक्-पृथक् होता है। बर्गसाँ का संबोधि ज्ञान प्राणात्मक स्तर के अनुरूप है।[४७] अचेतन जड़ पदार्थ तक अपने एक विशेष संबोधि द्वारा कार्य करता है। विकास के प्रत्येक स्तर पर यह संबोधि उस स्तर के लिये आवश्यक रूप ग्रहण करके सृजनकारी शक्ति को सहारा देता और सहज आवश्यकताओं पर बल देता हैं। मानसिक स्तर पर भी बुद्धि सदैव आस्था नामक संबोधि से निर्देशित होती है। अतः श्री अरविन्द के शब्दों में, "संबोधि ज्ञान वस्तुओं के आदि, उनके मध्य और उनके अन्त में भी उपस्थित रहता है।"[४८]

ब्रैडले ने बुद्धि से उच्च और निम्न संबोधि में महत्वपूर्ण भेद किया है। उनके अनुसार "बुद्धेतर संबोधि में, हमें एक पूर्ण का अनुभव होता है। इस पूर्ण में विविधता है और दूसरी ओर वह सम्बन्धों से छिन्न-भिन्न नहीं हुआ है।" ब्रैडले कहता है कि "ऐसा अनुभव हमको एक पूर्ण अनुभव का सामान्य आभास देता है जहाँ पर संकल्प, विचार और अनुभूति सभी एक बार पुनः एक हो सकें।"[४९] इसी प्रकार ब्रैडले का उच्चतर संबोधि, निम्न सहज अनुभव पर

---

४७. "सम्बोधि से मेरा तात्पर्य मूल प्रवृत्ति से है जो कि तटस्थ, आत्म-चेतन, अपने विषय पर मनन करने और अपरिमित रूप से विस्तृत होने के योग्य बन गई है।"

—बर्गसाँ : क्रीयेटिव एवाल्यूशन, पृष्ठ १८६

४८. श्री अरविन्द : लैटर्स, फ़र्स्ट सीरीज, पृष्ठ ५

४९. ब्रैडले, एफ० एच० : एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी पृष्ठ १४१

आधारित एक कल्पनामात्र है। ब्रैडले यहाँ पर दो भिन्न-भिन्न प्रकार के संबोधि को मिला देता है जिनमें एक बाह्य समानता के अतिरिक्त और कुछ भी समान नहीं है। आध्यात्मिक संबोधि एक ऐसा ज्ञान है जोकि मानसिक, प्राणात्मक और भौतिक सभी संबोधि से भिन्न है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "आध्यात्मिक संबोधि सदैव ही भेदवादी बुद्धि से अधिक ज्योतिर्मय निर्देशक है और आध्यात्मिक संबोधि हमें न केवल बुद्धि के द्वारा बल्कि हमारी शेष सत्ता के द्वारा हृदय और प्राण के द्वारा भी निर्देश देता है।"[५०] मानसिक, प्राणात्मक और भौतिक संबोधि बुद्धि के द्वारा परखे जा सकते हैं परन्तु आध्यात्मिक संबोधि उसकी परिधि से परे है। एक अर्थ में पहले को संबोधि कह ही नहीं सकते क्योंकि उसमें केवल बुद्धि की ही सत्ता है जिसके लिये प्रत्यक्ष प्रमाण का कोई आन्तरिक साधन नहीं है।

अतिमानसिक स्तर पर संबोधि शुद्ध होता है परन्तु मानसिक, प्राणात्मक और भौतिक में उसके अवरोहण से वह मिश्रित एवं छिन्न-भिन्न हो जाता है। जब हमारी चेतना पुनः अतिमानसिक स्तर पर आरोहण करती है तब हम इस मौलिक और स्वाभाविक संबोधि को पाते हैं जहाँ पर कि बुद्धि केवल निरीक्षण कर सकती है क्योंकि एक संबोधि केवल एक अन्य उच्चतर संबोधि से ही जाँचा और पूर्ण किया जा सकता है। संबोधि में चार प्रकार की शक्तियाँ होती हैं अर्थात् एक ज्ञान देने वाले सत्य को देखने की शक्ति, एक प्रेरक शक्ति, एक सत्य-स्पर्श की शक्ति और एक सत्य से सत्य के यथार्थ सम्बन्ध में वास्तविक और स्वाभाविक भेद करने की शक्ति, इस प्रकार के संबोधि को बुद्धि की सहायता की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह स्वयं बुद्धि के सभी कार्य कर सकता है। वह ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेद से परे है। वह आध्यात्मिक संबोधि है।

श्री अरविन्द की सर्वांग दार्शनिक प्रणाली

श्री अरविन्द के अनुसार "हमारे ज्ञान की प्रणालियाँ ज्ञेय के अनुरूप होनी चाहिएँ।"[५१] इन्द्रियों के साक्ष्य पर आधारित एक भौतिक प्रणाली अवश्य ही वस्तुओं के बाह्य पहलुओं पर अटक जायेगी। वह सद्वस्तु की एक अन्तरंग झाँकी नहीं दे सकती। आत्मा केवल आत्मा में ही जानी जा सकती है। विषयी को विषय के रूप में जानना तार्किक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही रीति से असंभव है। एक गणितीय प्रणाली हमें केवल मानसिक सम्बन्धों के विषय में बतलायेगी। वह सद्वस्तु की आध्यात्मिक स्थिति के विषय में नहीं बतला सकती। एक फिनोमिनोलॉजिकल (Phenomenological) प्रणाली केवल प्रतीतियों के

५०. श्री अरविन्द : द सिन्थेसिस ऑव योग, पृष्ठ ६६०

५१. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४३

क्षेत्र में प्रामाणिक है। एक सर्वातिशायी प्रणाली केवल संबोधि के अनुष्ठान-पूर्व रूपों और प्रज्ञा के वर्गों तक ही पहुंच सकती है। एक द्वन्द्वात्मक प्रणाली हमको मानसिक गति की प्रक्रिया ही देगी। केवल एक प्रत्यक्ष संबोधिजनक प्रणाली ही सद्वस्तु की प्रत्यक्ष झांकी दे सकती है।[५२]

परन्तु बुद्धि और संबोधि केवल अज्ञान के क्षेत्र में ही परस्पर विरुद्ध हैं। दूसरी ओर ज्ञान में वे एक दूसरे को सम्मिलित और पोषित करते हैं। जैसा कि बर्गसाँ ने लिखा है, "तर्क संबोधि को सिद्ध करने के हेतु आवश्यक है, इसलिये भी आवश्यक है कि संबोधि स्वयं को प्रत्ययों के रूप में तोड़ सके और अन्य व्यक्तियों तक पहुंचाया जा सके।"[५३] जब तक इन्द्रियों, बाह्य संस्कारों और विश्लेषणात्मक प्रणाली का बुद्धि पर अधिकार है, वह संबोधि की नकार और आध्यात्मिक अनुभव में बाधक है। परन्तु शुद्ध, संयमित और प्रदीप्त होने पर वह अतिमानसिक अनुभवों को भी प्रत्ययों में प्रगट करती और आध्यात्मिक अनुभव को सर्वसुलभ बनाती है। आध्यात्मिक ज्ञान में बुद्धि सहायता करती है, बुद्धि बाधक हो सकती है और पुनः सहायक भी बन सकती है।

श्री अरविन्द के अनुसार "वस्तुओं को नियमित और पूर्ण रूप से देखना मानस के लिये संभव नहीं है परन्तु वह विश्वातीत अतिमानस का स्वभाव ही है। परन्तु परम सद्वस्तु की एक अतिमानसिक दिव्य झाँकी, एक आध्यात्मिक संबोधि, बुद्धि, संबोधि और अनुभव सभी को सन्तुष्ट करता है क्योंकि सद्वस्तु को हमारी समग्र सत्ता को सन्तुष्ट करना चाहिये। दर्शन का इतिहास तत्व दर्शन की समस्त समस्याओं को सुलझाने के महत्व का दावा करती हुई मानव की विभिन्न शक्तियों में संघर्ष के विवरण से भरा पड़ा है। बुद्धि, संकल्प, प्राण, संबोधि, संवेग और प्रत्यक्ष सभी ने समय-समय पर सभी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया परन्तु उससे केवल अन्य के पक्ष में प्रतिक्रिया ही हुई। इस प्रकार दर्शन बुद्धिवाद से अनुभववाद, संकल्पवाद, रोमांसवाद और रहस्यवाद पर आया। इन समस्त शक्तियों को एक पूर्ण में बांधकर आगे बढ़ने वाली आत्मा की द्वन्द्वात्मक गति की एक सर्वांगपूर्ण झांकी ही आध्यात्मिक समस्याओं के सुलझाने में हमें कुछ यथार्थ प्रकृति की ओर ले जा सकती है। हमारी समग्र सत्ता के अनुभव के एक तर्कपूर्ण विवेचन पर आधारित दर्शन ही एकमात्र स्वनामधन्य दर्शन है। इस प्रकार का दर्शन केवल एक सर्वांग प्रणाली से ही पाया जा सकता है। दर्शन में परस्पर विरोधी विचारों के मूल में आधारभूत दोष एक विशेष प्रकार के

---

५२. "यदि ज्ञान के साधन अप्रत्यक्ष और अपूर्ण हैं तो प्राप्त किया हुआ ज्ञान भी अप्रत्यक्ष और अपूर्ण होगा।"— श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृष्ठ २५८

५३. बर्गसाँ : क्रीयेटिव एवाल्यूशन, पृष्ठ २५७

५४. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृष्ठ १६३

अनुभव पर जोर देना है। दूसरी ओर एक आध्यत्मिक संबोधि सभी प्रकार की संबोधि की व्याख्या करता है। श्री अरविन्द के अनुसार, "जैसे विज्ञान में वैसे ही आध्यात्मिक विचार में वह परम एवं सामान्य हल सर्वोत्तम है जो कि सभी को सम्मिलित करता और उनकी व्याख्या करता है ताकि अनुभव का प्रत्येक सत्य पूर्ण में अपना स्थान ग्रहण करे।"[५५] एक परम अनुभूति जो कि निम्न का परित्याग करती अथवा शांकर दर्शन के समान निम्न अनुभव का अतिक्रमण करती है, दर्शन में अपना स्थान रखती है। परन्तु सद्वस्तु को सर्वांग रूप में जानने के लिये, एक सर्वांग अनुभव की आवश्यकता है जो कि निम्नतम अनुभव को भी छोड़ता नहीं बल्कि परिपूर्ण करता, नकारता नहीं बल्कि स्वीकार करता, त्यागता नहीं बल्कि रूपान्तरित कर देता है। ऐसा ही है सच्चा आध्यात्मिक (Spiritual) अनुभव। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "आध्यात्मिक संबोधि सदैव ही सद्वस्तु का ग्रहण करता है। वह आध्यात्मिक साक्षात्कार का ज्योतिर्मय अग्रदूत अथवा प्रदीप्तकारी प्रकाश है। वह उसे देखता है जिसे पाने को हमारी सत्ता की अन्य शक्तियाँ सघर्ष कर रही हैं। वह हृदय और जीवन का अमूर्त्त प्रतिनिधित्व करने वाले दृढ़ सत्य पर पहुंचता है एक सत्य जो कि स्वयं न तो अन्तःस्थ रूप में अमूर्त्त और न बाह्य रूप में मूर्त्त है बल्कि कुछ अन्य है जिसके लिये ये उसके हमारे लिये मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति के केवल दो पहलू हैं।'[५६] आध्यत्मिक संबोधि, भौतिक, प्राणात्मक एवं मानसिक साधनों द्वारा प्राप्त अनुभव का बहिष्कार नहीं करता। जबकि ये सब एक विशेष अनुभव को दूसरे से पृथक् करते हैं, आध्योत्मिक संबोधि सभी को सम्मिलित कर लेता है। वह मानव की समग्र सत्ता के द्वारा ज्ञान है। वह एक प्रत्यक्ष दर्शन है, एक प्रामाणिक दर्शन, एक विस्तृत और संबोधिमय दर्शन।

परन्तु सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है सर्वांग योग। श्री अरविन्द के लिये ज्ञान और सत्ता में कोई गहरी खाई नहीं है। अतः दैवी सत्ता को जानने के लिये दार्शनिक को स्वयं दैवी बन जाना चाहिये "क्योंकि" जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "यदि हमें उस ज्ञान की महान् शक्ति पर शासन करना है और केवल समय-समय पर ही उसके सम्पर्क में आना नहीं है, तो हमारे ज्ञान और कर्म की प्रणालियाँ और साधन निश्चय ही हमारी चेतना की प्रकृति के अनुरूप होने चाहिये और चेतना ही परिवर्तित होनी चाहिये।"[५७] बौद्धिक ज्ञान पूर्णतया विभाजनकारी ज्ञान है। संबोधि केवल एक आंशिक झांकी है। यौगिक ज्ञान अथवा दिव्य दृष्टि सत्य से प्रारम्भ करती है और उसको प्रत्यक्ष रूप से जानती है और इस

---

५५. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ २११
५६. श्री अरविन्द : द सिन्थेसिस ऑव योग, पृष्ठ ६६३
५७. श्री अरविन्द : द सिन्थेसिस ऑव योग, पृष्ठ ५६२

कारण उसका सत्य स्वयंसिद्ध और निरपेक्ष है। स्मृति, कल्पना, निरीक्षण, तुलना, भेद, उपमा और तर्क तथा मानसिक ज्ञान के अन्य साधन दिव्य साक्षात्कार में सत्य के प्रत्यक्ष संबोधि ज्ञान में परिवर्तित हो जाते हैं। श्री अरविन्द का दर्शन सर्वांग योग के द्वारा उनके अनुभव की एक तर्कपूर्ण बौद्धिक व्याख्या है। आध्यात्मिक संबोधि केवल योग में ही अपनी पूर्णता में प्रकट होता है और उससे सर्वांग ज्ञान प्राप्त होता है। यौगिक ज्ञान दैवी सत्ता का प्रामाणिक ज्ञान है। इस योग का इस शोध प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। योग दर्शन की प्रणाली भी है और चरम परिणति भी है। ज्ञान के पश्चात् संकल्प होना ही चाहिये। दर्शन निश्चय ही योग की ओर जाना चाहिये यद्यपि योग के पूर्व दर्शन अपरिहार्य नहीं है। यह कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि एक संर्वांग दर्शन के लिये एक सर्वांग योग अत्यावश्यक है क्योंकि वह सर्वांग अनुभव पर आधारित है। एक प्रकार से परम सद्वस्तु के सभी सिद्धान्त दैवी सत्ता से किसी न किसी प्रकार से योग पर आधारित हैं और जितना ही पूर्ण योग होगा उतना ही पूर्ण अनुभव होगा तथा वैसा ही पूर्ण उस पर आधारित दर्शन होगा। यदि दर्शन को केवल संवित शास्त्र (Epistemology) तक ही सीमित नहीं रहना है तो वह समग्र सत्ता द्वारा सम्पादित ज्ञान पर आधारित होना चाहिये। श्री अरविन्द का योग इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की प्रणाली है। वह रहस्यवाद से अधिक है क्योंकि रहस्यवाद में समग्रता नहीं होती। उसमें रहस्यवादी स्थिति समग्र सत्ता की एक स्वाभाविक स्थिति बन जाती है।

इस प्रकार दर्शन में श्री अरविन्द की सर्वांग प्रणाली में सर्वांग योग पर आधारित असीम का तर्क और आध्यात्मिक सबोधि है। वह स्वभावतया ही अन्य सभी प्रणालियों को ग्रहण कर लेता, उनकी सीमाओं का निर्देश करता और उनको योग के आधीन कर देता है। स्पष्ट है कि वह कोई कठोर प्रक्रिया नहीं है। उसमें साधक की सामर्थ्य और अवस्था के अनुसार व्यक्तिगत भेद के लिये पर्याप्त स्थान है। वह अपने विषय के अनुरूप एक गतिशील, सर्वग्राही और सतत विकासमान प्रणाली है। यह दर्शन में एक उदार दृष्टिकोण की ओर ले जाता है। श्री अरविन्द के शब्दों में 'अतः हमारी व्यवस्था में कट्टरता के बिना दृढ़ता और अन्य व्यवस्थाओं के प्रति निर्बलता के बिना सहिष्णुता हमारा बौद्धिक दृष्टिकोण होना चाहिये।'[५८] यह सर्वांग प्रणाली ही श्री अरविन्द के सर्वांग दर्शन का आधार है।

---

५८. श्री अरविन्द : द एडवेन्ट, भाग ११, अंक २, पृष्ठ २२

४

निरपेक्ष और ईश्वर

"वह ब्रह्म है, सब कुछ अपनी उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति से चेतनापूर्वक उत्पन्न करता और धारण करता है, चेतनापूर्वक, बुद्धि मानस, जीवन और इन्द्रिय तथा भौतिक सत्ता की वस्तु विषयक प्रतीतियों की एक प्रकृति में समस्त वस्तुयें बन जाता है। जीव उस सनातन की उस आध्यात्मिक प्रकृति में उसकी शाश्वत अनेकता, चेतन आत्मशक्ति के अनेक केन्द्रों से उसका आत्मदर्शन है। ईश्वर, प्रकृति और जीव सत्ता के तीन रूप हैं और ये तीनों एक ही सत हैं।"[१]

निरपेक्ष की ओर प्रेरणा

मानव के ज्ञान की अपरिमित विविधता, आत्मा, विश्व और ईश्वर के तीन मुख्य वर्गों में रखी जा सकती है। इनमें से किसी को भी जानने लिये शेष दो का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है। इस प्रकार चेतन अथवा अचेतन रूप में मानव इस त्रिविध सत्ता की एकता को खोजता है। पूर्ण तक पहुँचे बिना विचार कभी नहीं रुक सकता। दर्शन सभी विविधताओं की व्याख्या करने के लिये पर्याप्त एक सर्वांग सत्य पर पहुँचने का प्रयत्न है।

विश्व, आत्मा और ईश्वर को बिना कुछ छोड़े हुए एक सूत्र में बाँधने वाला विश्व रूप ही हमारी समग्र सत्ता को संतुष्ट कर सकता है जो कि बौद्धिक, प्राणात्मक अथवा भौतिक प्रत्येक भाग के व्यक्तिगत संतोष के लिये एक आवश्यक शर्त है। आत्मा जिसको कि मानव अत्यन्त सहज रूप में जानता है सदैव आत्म-निर्भरता की चेष्टा करती है परन्तु उसकी ईश्वर और संसार से एकता बिना यह संभव नहीं है। पुन: जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है वैसे-वैसे मानव उस सद्वस्तु ईश्वर की ओर अधिकाधिक जाग्रत होता जाता है जिसके ज्ञान के बिना आत्मा और विश्व का ज्ञान अपूर्ण रह जाता है।

---

१. श्री अरविन्द : एसेज ऑन गीता, सैकिण्ड सीरीज, पृष्ठ ५७

इस एकता की ओर मानव नकारात्मक और स्वीकारात्मक दोनों ही रूप से बढ़ा है। इसमें उसको इनमें से कोई एक, दो अथवा सभी का निषेध करना पड़ा है। आत्मगत प्रत्ययवाद, भौतिकवाद और सर्वेश्वरवाद क्रमशः आत्मा, विश्व और ईश्वर को मानते तथा अन्य दो का निषेध करते हैं। शून्यवाद सबके एक पूर्ण निषेध के द्वारा सबको एक असीम शून्य में एक करने की चेष्टा है। वह समस्या को यह दिखलाकर सुलझाने का प्रयत्न है कि वह कोई समस्या ही नहीं है।

ये सुलझाव स्वभावतया ही अपर्याप्त हैं। सच्ची एकता किसी भी पहलू को विच्छिन्न करने अथवा दबाने से नहीं पाई जा सकती। व्यक्ति और विश्व दोनों को ही एक निरपेक्ष सत्ता, वस्तुओं के एक परम सत्य की आवश्यकता है जिसकी एकता में सभी स्वीकार और सम्मिलित किये जायें और कोई भी छोड़ा अथवा खोया न जाय। इस प्रकार एकता पर पहुँचने के लिये हमें एक परम पर पहुँचना चाहिये जिसकी ओर सभी प्रेरित हैं अथवा एक पूर्ण पर पहुँचना चाहिये जिसके बिना किसी का भी अस्तित्व नहीं है।

परन्तु ऐसी निरपेक्ष सत्ता विश्व अथवा व्यक्ति के निषेध से नहीं पाई जा सकती क्योंकि इस प्रकार उनकी समस्या अछूती ही रह जायेगी और हमारी समग्र सत्ता सन्तुष्ट नहीं हो सकती। ऐसा निरपेक्ष, निरपेक्ष ही नहीं है क्योंकि वह बहुत कुछ अपने क्षेत्र से बाहर छोड़ देता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसका अस्तित्व आत्मा अथवा विश्व पर निर्भर है। निरपेक्ष स्वतः पूर्ण है परन्तु तो भी ये उससे पृथक् नहीं किये जा सकते क्योंकि उसको जानने के लिये आत्मा और विश्व का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जब मानव निरपेक्ष की ओर जगत के द्वारा बढ़ता है तभी वह उससे यथार्थ ऐक्य पा सकता है और उसको स्वयं में और विश्व में धारण कर सकता है। मानव स्वार्थ से परार्थ और दोनों से आध्यात्मवाद की ओर बढ़ता है। मानव और प्रकृति ईश्वर में और ईश्वर से एक हैं।[२]

मानव मस्तिष्क को यह समझने में कठिनाई हो सकती है कि निरपेक्ष एक ही साथ अन्तःस्थ और अतिशायी, विभु और अणु, एक और अनेक कैसे हो सकता है। परन्तु यह एक विशुद्ध बौद्धिक समस्या है। दूसरी ओर निरपेक्ष के विषयों में मानसिक तर्क नहीं बल्कि सर्वांग अनुभव ही अन्तिम कसौटी है। निरपेक्ष की प्रकृति की विलक्षणता को समझाने के लिये शंकर उसको अनिर्वचनीय कहकर सन्तोष कर लेता है, ब्रैडले "जैसे-तैसे" का सहारा लेता है और लाइबनित्ज पूर्व-

---

२. "क्योंकि जो कुछ हमारा मानसिक ज्ञान, ऐंद्रिक ज्ञान, और अतीन्द्रिय दृष्टि खोज रही है वह सर्वाधिक सर्वाङ्ग रूप से ईश्वर, मानव और प्रकृति तथा जो कुछ प्रकृति में है उस सब की एकता में ही पाया जा सकता है।"

—श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४९७

स्थापित-सामंजस्य (Pre-established Harmony) का पल्ला पकड़ता है। परन्तु वह दैवी चेतना के सर्वांग अनुभव और स्वयं असीम के तर्क के बिना नहीं समझाई जा सकती। नागार्जुन और ब्रैडले ने अज्ञेयवाद मान लिया। परन्तु अज्ञेयवाद को हमारी परम गति मानने के लिये बुद्धि के पास कोई तर्क नहीं है। बुद्धि के अतिरिक्त कुछ ऐसे साधन भी हैं जो कि हमें दैवी सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव देते हैं। निरपेक्ष का ज्ञान एक पूर्ण आत्म-ज्ञान, पूर्ण विश्व-ज्ञान और पूर्ण ईश्वर-ज्ञान की ओर ले जाता है। निरपेक्ष में ईश्वर, आत्मा और विश्व की एक चेतन एकता के द्वारा मानव इन सबके आधार में चेतन-शक्ति को पहचानता है। परन्तु यह कोई बाह्य एकता नहीं है। ईश्वर स्वयं निरपेक्ष है। वह आत्मा और विश्व की सार रूप एकता है जो इन दोनों का अतिक्रमण करती है।

अरस्तू का द्वैतवाद

सांख्य के समान अरस्तू विश्व से परे और विश्वमय, रूप और तत्व, चेतन और अचेतन, बीज और विकास में द्वैत स्थापित करता है। सांख्य के पुरुष के समान अरस्तू का आदि चालक (Prime Mover) समस्त जड़ तत्वों से मुक्त, अविभक्त एक शुद्ध और चेतन आत्मा है। परन्तु सांख्य के विरुद्ध अरस्तू में यह देखने की बुद्धि थी कि इस प्रकार का सत एक ही हो सकता है यद्यपि रामानुज के साथ वह ईश्वर और जड़ पदार्थ के मध्यस्थ आत्माओं को मानता है। समस्त वस्तुओं की गति प्रथम गति की नकल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फिर, सांख्य के समान अरस्तू ईश्वर को संसार का सृष्टा और शासक मानने वाले प्लेटो के विचार को नहीं मानता। इस प्रकार का विचार उसके स्वभाव के विरुद्ध है। ईश्वर पूर्ण बुद्धि और संसार के समस्त सौन्दर्य और व्यवस्था का शाश्वत कारण है यद्यपि हम उसको अस्थिर नहीं मान सकते। आदि-चालक पारमेनाइडीज के गतिहीन सत के समान स्थिर है।

परन्तु गतिहीन पूर्णता का यह विचार 'वस्तुओं के तर्क' पर आधारित है। दूसरी ओर ईश्वर पूर्ण परन्तु गतिमान है क्योंकि उस पर किसी भी असंभावना का आरोप करना उसको सीमित करना है। जबकि स्पिनोजा ईश्वर का संसार से तादात्म्य कर देता है, अरस्तू ईश्वर और जगत के मौलिक भेद को मानता है। 'मैटाफिजिक्स' में उसने लिखा है कि समस्त गति संभावना से यथार्थ की ओर होने के कारण, ईश्वर सबसे बाहर के नक्षत्र समूह से परे है। ईश्वर संसार का भौतिक नहीं बल्कि रूपात्मक कारण है।

परन्तु गति में सम्बन्ध आवश्यक है और सम्बन्ध में एक समान आधार, अथवा जैसा कि ब्रैडले ने संकेत किया है, एक पूर्ण आवश्यक है जिसमें कि सम्बन्धित तत्व मिलते हैं। एक कठोर द्वैतवाद सम्बन्ध अथवा परिवर्तन की व्याख्या

नहीं कर सकता और इस कारण समस्त सृष्टि को असंभव बना देता है। ईश्वर का देववादी (Deistic) सिद्धान्त न तो दर्शन और न धर्म में ही काम दे सकता है। द्वैतवाद पूर्ण में अवस्थित द्वैत होना चाहिये। द्वैतता एकता में समाप्त होनी चाहिये। सांख्य के पुरुष और प्रकृति के समान अरस्तू के ईश्वर और जड़ पदार्थ को एक तीसरे तत्व की आवश्यकता है जो कि दोनों में अन्तःस्थ होते हुये भी उनका अतिक्रमण करता है। स्पिनोजा ईश्वर में गुणों का निषेध करता है अरस्तू उसमें एकता, आध्यात्मिकता, आत्मचेतनता और आनन्द के गुण पाता है। स्पिनोजा का ईश्वर विश्व रूप है, अरस्तू का ईश्वर व्यक्ति है। आदिचालक का विचार "विचार का विचार" है। उसका आनन्द निर्बाध आत्मचिन्तन में है। वह संसार पर केवल अपनी सत्ता मात्र से कार्य करता है। परन्तु ईश्वर के इस प्रकार के स्वरूप की प्रतिमा में अत्यधिक मानवीय तत्व है। विश्व से बाहर और विश्व में, ईश्वर दोनों ही प्रकार समान रूप से सत्य और असत्य है क्योंकि ईश्वर अन्तःस्थ भी है और अतिशायी भी। निरपेक्ष न तो व्यक्ति है न विश्व, न सगुण है न निर्गुण, न वैयक्तिक है न निर्वैयक्तिक।

शंकर का अद्वैतवाद

शंकर ने निरपेक्ष के अस्तित्व के दो प्रमाण दिये हैं—एक तो शब्द-व्युत्पत्ति वाचक और दूसरा मनोवैज्ञानिक। ब्रह्म शब्द बृह धातु से निकला है जिसका अर्थ है अतिशयता।[३] इससे ब्रह्म में शाश्वतता, शुद्धता, बुद्धिमत्ता इत्यादि गुण आ सकते हैं। तत्पश्चात शंकर ब्रह्म को सिद्ध करने के लिये एक दूसरा प्रमाण देता है जिसको डॉयसन ने 'मनोवैज्ञानिक' कहा है। शंकर ने कहा है कि "और सबकी आत्मा होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व सर्वविदित है।"[४] ब्रह्म नित्य, विभु, सनातन, अपरिवर्तनीय, अविभाजित, स्वयं ज्योतिस्वरूप और देश काल से परे है। उसमें कोई सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत भेद नहीं है। वह मन से परे हैं परन्तु असत नहीं है। वह निर्गुण है। ब्रह्म सत है क्योंकि वह असत नहीं है, चित है क्योंकि अचित नहीं है आनन्द है क्योंकि निरानन्द नहीं है। वह अनावरित विकसित, व्यक्त, उदित, प्रस्फुटित अथवा परिवर्तित नहीं होता क्योंकि वह स्वयं परिपूर्ण है। वह एक रस है और जड़ प्रकृति से परे है। इस प्रकार स्पिनोजा के परम तत्व के समान शंकर का ब्रह्म भी अव्यक्त और निर्गुण है। निरपेक्ष न तो किसी एक विकल्प और न विकल्प समूह से सीमित किया जा सकता है। निर्विकल्प होने के कारण निरपेक्ष का इस प्रकार के नकारों से यथार्थ वर्णन किया जा सकता है यथा अविचलित नित्य आत्मा, निर्गुण, सनातन, विशुद्ध, एक सत्ता और निर्वैयक्तिक इत्यादि। परन्तु दूसरी ओर वह समस्त विकल्पों का सार

३. वृद्धि कर्मा हि वृहतिरति शायने वर्तते। —भामति, पृष्ठ १, २

४. सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्व प्रसिद्धिः। —शांकरभाष्य, पृष्ठ १

और श्रोत है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म असीम गुण सहित नित्य है, एक है जो कि अनेक है असीम व्यक्ति है जो कि सभी व्यक्तियों का उद्गम और आधार है। वह सृष्टि का ईश और समस्त कर्मों का अधिष्ठाता है। ये स्वीकार उन नकारों के अनुरूप ही हैं जो पीछे दिये गये हैं। फिर ब्रह्म में स्वगत भेद है और जीव तथा जड़ उसके अंश हैं। सत, चित और आनन्द ब्रह्म को एक चरित्र और व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वोच्च व्यक्तित्व है।

इस प्रकार रामानुज और शंकर के ब्रह्म के वर्णन परस्पर विरुद्ध हैं। परन्तु दोनों ही समान रूप से एकांगी हैं। दोनों ने ही निरपेक्ष की एक अवस्थिति को पूर्ण सद्वस्तु मान लिया है। अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के आदि श्रोत उपनिषदों ने निरपेक्ष का इति-इति और नेति-नेति दोनों विधियों से वर्णन किया है। सर्वांग ब्रह्म अज्ञेय होते हुये भी ज्ञान, निर्विकल्प होते हुये भी सविकल्प, सगुण और निर्गुण, अन्तःस्थ और सर्वातिशायी, व्यक्तिगत और निर्वैयक्तिक है।

हेगेल का सर्व प्रत्ययवाद

हेगेल के अनुसार निरपेक्ष सद्वस्तु आत्मा अथवा विचार है और तर्क तथा प्रकृति उसके दो रूप हैं। विचार एक बार तर्क, फिर प्रकृति और अन्त में आत्मा के रूप में नहीं चलता। वह केवल आत्मा के रूप में रहता है, जो कि एकमात्र पूर्ण है जिससे तर्क और प्रकृति दोनों ही पृथक् किये हुये हैं। ईश्वर संसार का सृष्टा है। आत्मा के रूप में वह स्वयं को अभिव्यक्त करता है। विश्व के बिना ईश्वर, ईश्वर नहीं होगा। हेगेल द्वारा प्रयुक्त शब्दावली से यह प्रतीत होता है कि विश्व का जीवन निरपेक्ष आत्म चेतना की प्रक्रिया में सम्मिलित है। ईश्वर नक्षत्रों के परे कोई आत्मा नहीं है। वह सभी आत्माओं में आत्मा है।

इन्द्रिय और प्रज्ञा के द्वैत को निकालकर हेगेल कान्ट के अमूर्त तर्क के आगे बढ़ा परन्तु सर्वांग अनुभव के आधार के बिना उसका निरपेक्ष एक तार्किक रचना मात्र प्रतीत होता है। वह हमारे बौद्धिक पहलू को सन्तुष्ट करता है परन्तु समग्र सत्ता को सन्तोष नहीं देता। तार्किक प्रत्यय निश्चय ही खोखले सांचे नहीं हैं और बौद्धिक रचनायें सद्वस्तु के अनुरूप हो सकती हैं परन्तु अनुभव के आधार के बिना निरपेक्ष के विषय में मूर्त अथवा अमूर्त सभी तर्क व्यर्थ हैं। हेगेल का निरपेक्ष दर्शन असीम के तर्क के सीमित के तर्क से तादात्म्य से निकला है। दैवी विचार, यदि इस प्रकार कहना ठीक है तो, हमारे अपने विचार से एक रूप कर दिया गया है और निरपेक्ष विभिन्न क्षेत्रों में मानव के कार्यों की अभिव्यक्ति मात्र है। अनुभव में किसी आधार के बिना द्वन्द्वात्मक विकास ईश्वरीय सत्ता का विकास नहीं बल्कि उसके विषय में मानव के बिचार का विकास है। दर्शन विचार की अवहेलना नहीं कर सकता परन्तु निरपेक्ष के ज्ञान में तर्क को अनुभव के आधीन

होना चाहिये।

हेगेल ईश्वर को निरपेक्ष सद्वस्तु मानता है चाहे वह सद्वस्तु कुछ भी क्यों न हो। समस्त वर्ग (Categories), तर्क की समस्त व्यवस्था निरपेक्ष प्रत्यय का तत्व है। परन्तु फिर भी हेगेल की परम सद्वस्तु केवल एक बौद्धिक कल्पना मात्र है। इस प्रकार के ईश्वर के अस्तित्व में शंका करना असंभव है क्योंकि उसको न मानना समस्त सत्ता का निषेध करना है। परन्तु वही तर्क जो कि इस प्रकार के ईश्वर के अस्तित्व को अपरिहार्य बना देते हैं उसको बिल्कुल सन्देहात्मक भी बना देते हैं क्योंकि वे हमें उसके विषय में कुछ नहीं बतलाते। इसी कारण 'आत्माओं के एक समाज' के रूप में निरपेक्ष के हेगेलीय प्रत्यय का अनुसरण करके मैक्टेगार्ट निरीश्वरवाद पर आता है। हेगेल की 'फिलासफी ऑव रिलीजन' से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके अनुसार ईश्वर के स्वभाव का सत्य Holy Ghost के राज्य में पाया जा सकता है और वह एक व्यक्ति नहीं बल्कि समाज ज्ञात होता है। इस प्रकार का ईश्वर धर्म तथा दर्शन की मांगों को सन्तुष्ट नहीं करता क्योंकि दर्शन के निरपेक्ष को मानव, विश्व और ईश्वर, व्यक्तित्व, सामान्य तत्व और सार तत्व को अवश्य ही एक सूत्र में बाँधना चाहिये जबकि धर्म एक साकार ईश्वर को चाहता है जिससे सक्षात्कार हो सके। वर्गों के मृतक सांचों में जीवित गति फूंकने की हेगेल की महत्ता के बावजूद भी उसका निरपेक्ष प्रत्यय, तादात्म्य द्वारा अनुभूत सद्वस्तु से पूर्णतया भिन्न है। यदि तार्किक प्रक्रिया का अर्थ एक ऐसी व्यवस्था की खोज है जो कि हमें विश्व की 'आत्मा' का ज्ञान दे तो वह न तो इन्द्रियों, न प्रज्ञा और न इन दोनों पर बल्कि निरपेक्ष के एक सर्वांग अनुभव पर आधारित होनी चाहिये। विचार और आत्मा के तादात्म्य से केवल एक स्थिर विश्व रूप ही पाया जा सकता है। हेगेल का एक निरपेक्ष दर्शन पर पहुंचने का दावा यथार्थ दार्शनिक प्रवृत्ति के विरुद्ध है।

अनुभूतिजन्य (Sentient) अनुभव के रूप में निरपेक्ष

ब्रैडले सीमित वस्तुओं के विरुद्ध चलकर निरपेक्ष पर पहुँचता है। सद्वस्तु में प्रतीतियों के निषेध से ही यह स्पष्ट है कि सद्वस्तु प्रतीतियों की सीमाओं से मुक्त होनी चाहिये। ब्रैडले के शब्दों में "परम सद्वस्तु इस प्रकार की है कि वह स्वयं का विरोध नहीं करती।"[5] निरपेक्ष अव्यभिचारी है। निरपेक्ष एक है क्योंकि अनेक सद्वस्तु बिना विरोध के नहीं रह सकती। निरपेक्ष एक सामंजस्य में समस्त भेदों को आत्मसात कर लेता है।[6] अतः "सत व्यक्ति है"[7] वह "मूर्त्त

५. ब्रैडले, एफ० एच० : एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ १२०

६. वही, पृष्ठ १२५

७. वही, पृष्ठ ४०७

विभु" भी कहा जा सकता है अर्थात् एक ऐसा सार्वभौम तत्व जो कि समस्त मूर्त्त वस्तुओं की विविधताओं को सम्मिलित कर लेता है। ब्रैडले ने आगे लिखा है कि "सद्वस्तु अनुभूतिजन्य अनुभव है।"[८] उसके अनुसार "इस प्रकार के अनुभव में हम टुकड़े नहीं पाते" बल्कि "जो कुछ हम पाते हैं वह एक पूर्ण होता है जिसमें अन्तर किया जा सकता है परन्तु जिसमें भेद नही रहता।"[९] ब्रैंडले के निरपेक्ष को केवल विचार अथवा बुद्धि को ही नहीं बल्कि समग्र सत्ता को सन्तुष्ट करना है क्यों कि उसक अनुसार बुद्धि को पूर्णतया सन्तुष्ट करने के लिये आध्यात्मशास्त्र को "हमारी सत्ता के सभी पहलुओं का विचार करना चाहिये।"[१०] इस प्रकार निरपेक्ष "सुख का एक सन्तुलन"[११] है। वह पूर्णतया शुभ भी है।[१२] अन्त में, नि-पेक्ष न तो एक आत्मचेतन आत्मा है और न व्यक्ति। आत्मत्व और व्यक्तित्व सीमितता के चिह्न हैं। जैसा कि ब्रैडले ने लिखा है, "निश्चय ही निरपेक्ष केवल वैयक्तिक नहीं है। वह वैयक्तिक नहीं है क्योंकि वह वैयक्तिक भी है तथा और भी कुछ है एक शब्द में वह अति वैयक्तिक है।"[१३]

प्रत्येक वस्तु को सम्बन्धों और फिर प्रतीतिमात्र तक लाते हुये ब्रैडले स्वभावतः ही किसी निरपेक्ष पूर्ण में उसकी सत्ता का अनुभव करता है। इस प्रकार निरपेक्ष प्रतीतियों के विरोध से जाना गया। परन्तु निरपेक्ष सत्ता के विषय में तार्किक सानुकूलता की मांग उचित नहीं है क्योंकि निरपेक्ष अतिमानसिक है। निरपेक्ष का तर्क प्रतीतियों के तर्क से भिन्न है। ब्रैडले मानता है कि निरपेक्ष में विरोधी, विभिन्न अथवा पूरक बन जाते हैं परन्तु तब यह समझना कठिन है कि ब्रैडले ने किस अर्थ में तार्किक सानुकूलता की मांग की है। ब्रैडले ने यह ठीक ही देख लिया कि निरपेक्ष के विषय में अव्यभिचार का नियम लागू नहीं होता और इस कारण उसने उसकी मूल प्रवृत्तिजन्य आस्था, "जैसे तैसे" के तर्क से व्याख्या की है। परन्तु वह "कैसे" को इसलिये नहीं समझ पाया क्योंकि उसकी सम्पूर्ण प्रणाली कृत्रिम है और अनुभव से नहीं प्रारम्भ होती। ब्रैडले का निरपेक्ष अनुभव निम्न सहज ज्ञान पर आधारित एक कल्पना मात्र है। अनुभूतिजन्य अनुभव के रूप में निरपेक्ष की व्याख्या के द्वारा वह दो अत्यधिक भिन्न अनुभवों, अनुभूतिजन्य एवं आध्यात्मिक को मिला देता है। पुनः ब्रैडले ने निरपेक्ष को सत्य ही मूर्त्त सत्ता की समस्त विविधता को आत्मसात करने वाला माना है परन्तु फिर उसने निरपेक्ष की समान रूप से आवश्यक अव्यक्त और अतिशायी अवस्थिति पर

---

८. वही, पृष्ठ १२७
९. वही, पृष्ठ १२८
१०. वही, पृष्ठ १३०
११. वही, पृष्ठ ४०६
१२. वही, पृष्ठ ४३३
१३. वही, पृष्ठ ४७१

आवश्यक बल नहीं दिया है। सर्वांग निरपेक्ष एक भी है और अनेक भी, वैयक्तिक भी है और सार्वभौम भी, अन्तःस्थ है और अतिशायी भी तथा व्यक्तिगत और निर्वैयक्तिक भी है। ब्रैडले का निरपेक्ष न तो बुद्धि और न सत्ता के दूसरे भागों को ही सन्तुष्ट करता है।

निरपेक्ष और व्यक्तित्व

शंकर के अनुसार निरपेक्ष निर्वैयक्तिक है। सर्वोच्च व्यक्ति के रूप में साकार ब्रह्म को वह ईश्वर कहता है। ईश्वर सर्वव्यापी है और प्रत्येक वस्तु को अपने में रखता है। ब्रह्म विषयी और विषय से परे, सहज और आत्मनिर्भर है। जब उसको विषयी से सम्बन्धित विषय और संसार में सत के सिद्धान्त के रूप में लिया जाता है तब वह ईश्वर कहलाता है। ईश्वर आत्म-चेतन व्यक्तित्व है। निरपेक्ष शुद्ध चेतना है। परन्तु क्योंकि समस्त सृष्टि प्रतीतिमात्र है अतः ईश्वर भी एक प्रपञ्चात्मक सत्य है। रामानुज और हेगेल के साथ शंकर अनात्मा को व्यक्तित्व का एक अवयव मानता है। इस प्रकार ईश्वर ब्रह्म के समान कालातीत नहीं है बल्कि परिवर्तन और काल को भी सम्मिलित कर लेता है। ईश्वर साकार है ब्रह्म निराकार है।

परन्तु ईश्वर और ब्रह्म में इस प्रकार का तीव्र भेद उचित नहीं है। यदि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है तो विषय और विषयी कोई भी उसके बाहर नहीं हो सकते। आत्म चेतना शुद्ध चेतना की केवल एक दूसरी अवस्था है। साकार ईश्वर निराकार ब्रह्म का आकार है। परिवर्तन, काल और सृष्टि के अनुभव की व्याख्या करने के लिये शंकर सृष्टा और साकार ईश्वर को ले आता है। परन्तु क्योंकि उसने ब्रह्म को अपरिवर्तनीय, निराकार, कालातीत और निर्वैयक्तिक माना है अतः उसने ईश्वर तथा विश्व दोनों ही प्रपञ्चमात्र ठहराये हैं। इस प्रकार शंकर अद्वैत ईश्वर और ब्रह्म, सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार, के द्वैत की खाई को भरने में असफल है। परन्तु निरपेक्ष को अपनी सत्ता से बाहर कुछ नहीं छोड़ना चाहिये। प्रत्येक चरम द्वैत विचार की विशुद्ध बौद्धिक प्रणाली पर आधारित है।

व्यक्तित्व साधारणतया कुछ विशेष गुणों, रूपों और शक्तियों इत्यादि पर आधारित सीमितता समझा जाता है। इस अर्थ में ही ब्रैडले निरपेक्ष में व्यक्तित्व का निषेध करता है। व्यक्तित्व विविध गुणों का एक संयुक्त पूर्ण है। इस प्रकार का दृष्टिकोण उस तात्विक व्यक्तित्व को भूल जाता है जो कि विभिन्न व्यक्तित्व ग्रहण करके भी एक, सत और नित्य रहता है। निरपेक्ष पर लागू किये हुये उच्चतर विधेय अधिक व्यापक भी होते हैं और इस कारण निम्न स्तरों का निषेध नहीं करते। निरपेक्ष अतिवैयक्तिक है, इस कारण नहीं कि वह वैयक्तिक नहीं है बल्कि क्योंकि वह वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक दोनों है।

दूसरी ओर व्यक्तित्ववादियों और एकेश्वरवादियों ने व्यक्तित्व को एक दूसरे अर्थ में लिया है। रामानुज के अनुसार परम सद्वस्तु ईश्वर में हमें संकल्प, सीमितता, भेद तथा अन्यत्व भी मिलता है जो कि साथ ही साथ एक में घुलित, सम्मिलित और एकत्रित हो जाता है। सीमितता स्वयं असीम में ही है। ब्रह्म में स्वगत भेद हैं और वह चिदचिद् विशिष्ट है। सत, चिद और आनन्द के गुण ब्रह्म को एक चरित्र और व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। ब्रह्म सर्वज्ञ है और सबको प्रत्यक्ष संबोधि के द्वारा जानता है। व्यक्तित्व में योजना बनाने और उसको कार्यान्वित करने की शक्ति सम्मिलित है। ईश्वर एक पूर्ण व्यक्ति है क्योंकि वह आत्मनिर्भर और आत्म-विभक्त है। यह दृष्टिकोण शंकर के निर्वैयक्तिक ब्रह्म से पूर्णतया विरुद्ध है यद्यपि दोनों एक ही आधार पर ईश्वर में व्यक्तित्व मानते हैं। अन्तर केवल यह है कि जबकि शंकर के लिये ईश्वर प्रपञ्चात्मक है रामानुज के लिये वह पूर्णतया सत है। ईश्वर आधार और नियन्ता है। रामानुज और शंकर दोनों ही तादात्म्य के तर्क (Logic of Identity) में विश्वास करते हैं परन्तु रामानुज के लिये तादात्म्य का अर्थ है 'अपृथक् सिद्धि'। यहां तादात्म्य विभिन्नताओं का निषेध नहीं करता। परन्तु फिर रामानुज के सिद्धान्त में रहस्यमय अनुभूति के लिये कोई स्थान नहीं है जोकि समान रूप से प्रामाणिक है। कोई भी दृष्टिकोण "पूर्ण सत्य तक नहीं पहुंचता यदि वह आत्मा परमात्मा की तात्विक एकता अथवा उनकी पूर्ण एकता की सामर्थ्य का निषेध करता है अथवा आत्मा के दैवी एकता में प्रेम के द्वारा, चेतना की एकता के द्वारा अथवा अस्तित्व में अस्तित्व के मिलन के द्वारा विलीन होने के परम अनुभव के अन्तरंग सत्य की अवहेलना करता है।"[१४]

नैतिक, धार्मिक और सौन्दर्य सम्बन्धी मूल्यों के लिये स्थान पाने में रामानुज के एकेश्वरवाद का बड़ा महत्व है। वह विचार और सद्वस्तु, प्रपञ्च और तत्व के बीच की खाई को भरता है परन्तु व्यक्तिगत और निर्वैयक्तिक के बीच के अन्तर को वैसा ही छोड़ देता है। प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ज्ञान न होने के कारण ही निर्वैयक्तिक निरपेक्ष का निषेध करना अनुचित है क्योंकि सर्वातिशायी स्वतः सिद्ध है और केवल सहज संबोधि में ही प्राप्त होता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "दैवी सत्ता सच्चिदानन्द एक ही साथ निर्वैयक्तिक भी है और वैयक्तिक भी; वह एक सत्ता है और समस्त सत्यों, शक्तियों और सत्ताओं का श्रोत और आधार है। परन्तु वह एक सर्वातिशायी चेतन सत भी है और सर्व पुरुष भी जिसके कि समस्त चेतन प्राणी आत्माएँ और व्यक्तित्व हैं क्योंकि वह उनकी सर्वोच्च आत्मा और अन्तःकरण में उपस्थित है।"[१५]

---

१४. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४५१

१५. वही, पृष्ठ ४५०

ईश्वर का प्रत्यय

ब्रैडले के अनुसार "यदि आप निरपेक्ष का ईश्वर से तादात्म्य कर लेते हैं तो वह धर्म का ईश्वर नहीं है। यदि फिर आप उन्हें पृथक् कर देते हैं तो ईश्वर पूर्ण में एक सीमित तत्व बन जाता है।"[१६] मानव एक निर्वैयक्तिक निराकार की उपासना नहीं कर सकता। धार्मिक संवेग साक्षात्कार के लिये एक वैयक्तिक ईश्वर चाहता है। शंकर और ब्रैडले दोनों ने ही ईश्वर और निरपेक्ष में यथार्थ ही अन्तर किया है। परन्तु वे दोनों यह नहीं देख पाते हैं कि ये एक ही सद्वस्तु की केवल दो भिन्न अवस्थितियाँ हैं। धर्म और दर्शन, जैसा कि उपनिषदीय दृष्टाओं ने अनुभव किया, एक ही सत्य को भिन्न-भिन्न मार्गों से खोजते हैं।

ईश्वर केवल सद्वस्तुओं की व्यवस्था में सर्वोच्च, चिद्‌बिन्दु का चिद्‌बिन्दु (Monas Monadum), सामान्यों में प्रथम (Primus Inter Pares) ही नहीं बल्कि सर्वग्राही भी है। बहुतत्ववादी दार्शनिक ईश्वर को हमसे अपरिमित रूप में श्रेष्ठ एक परिमिति व्यक्ति बना देते हैं। प्रो० हौवीसन के लिये ईश्वर आत्माओं का एक दैवी केन्द्र है जो कि पारमार्थिक दृष्टि से सत है और ईश्वर के साथ ही अस्तित्वमय है। रैशडल ने निरपेक्ष और ईश्वर में अन्तर किया है और ईश्वर को ससीम तथा अन्य आत्माओं से सीमित माना है। इस प्रकार सद्वस्तु "व्यक्तियों की एक बिरादरी" अथवा डॉ० मैक्टेगार्ट के शब्दों में "एक समाज" है। रैशडल की ईश्वर की "आत्माओं में से एक" के रूप में व्याख्या न्याय के ईश्वर के समान है जो कि एक व्यक्ति है। नैयायिकों का ईश्वर सत, चित और आनन्द सहित एक वैयक्तिक सत् है। शंकर के ईश्वर के विरुद्ध न्याय का ईश्वर विश्व से परे है और विश्व का भौतिक कारण नहीं है। शंकर न्याय के अनुमान सहित ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने वाले सभी तर्कों का खण्डन करता है और उसको श्रुति के प्रमाण पर आधारित मानता है। कान्ट ने आस्था को स्थान देने के लिये बुद्धि को सीमित किया परन्तु आध्यात्मिक मूल्य रखने के लिये आस्था साक्षात्कार पर आधारित होनी चाहिये जिसका कि श्रुति एक लेखा जोखा है। ईश्वर व्यक्ति भी है और सार्वभौम भी, अन्तःस्थ भी है और सर्वातिशायी भी, वैयक्तिक है परन्तु फिर भी असीम है।

इस प्रकार तार्किक दृष्टिकोण से शंकर का ईश्वर का प्रत्यय न्याय से अधिक समीचीन है परन्तु एक व्यावहारिक मान्यता होने के कारण वह अधिक उत्तम नहीं है। देकार्ते का कारणवादी तर्क (Causal Argument), चाहे उसकी तार्किक समीचीनता कुछ भी हो ईश्वर के स्वभाव के विषय में एक महत्वपूर्ण बात बतलाता है। यदि विश्व एक अनुत्तरदायित्वपूर्ण ईश्वर की सनक की सृष्टि नहीं है, यदि

१६. ब्रैडले, एफ० एच० : एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ ३९५

हम स्वप्नों से नहीं बने हैं तो प्रत्यय अथवा प्रथम सिद्धान्त सद्वस्तु के अनुरूप होने चाहिये। जैसा कि अलैक्जैण्डर ने संकेत किया है, "अन्त में सभी विषयों में वस्तुओं के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया ही हमारे लिये ज्ञान के विषय के रूप में वस्तुओं का पता लगाती है।"[१७] प्रथम सिद्धान्तों का सत्य दर्शन की आवश्यक मान्यता है। ब्रैडले का यह समझना यथार्थ ही है कि धर्म सद्वस्तु का हमारी सत्ता के प्रत्येक पहलू से साक्षात्कार करने का प्रयत्न है और कि दर्शन बुद्धि को सन्तुष्ट करता है। परन्तु यदि सत्ता के अन्य पहलुओं को सन्तुष्ट किये बिना बुद्धि नहीं हो सकती तो दर्शन एक ऐसे निरपेक्ष से कैसे सन्तुष्ट हो सकता है जो कि धार्मिक संवेग को सन्तुष्ट नहीं करता। जैसे बुद्धि निरपेक्ष के विषय में संकेत देती है उसी प्रकार धार्मिक अनुभव ईश्वर के स्वभाव को निर्धारित करता है। परन्तु सद्वस्तु की दर्शन और धर्म को सन्तुष्ट करने वाली एक सर्वांग झाँकी पर पहुँचने के लिये दोनों का ही सामंजस्य होना चाहिये।

अलैक्जैण्डर एक आदर्श अस्तित्वहीन देवता (Deity) के रूप में ईश्वर की एक विशेष कल्पना उपस्थित करता है। "संसार अपने असीमत्व में असीम देवता की ओर जाता है अथवा उसको गर्भ में धारण करता है परन्तु असीम देवता का कोई अस्तित्व नहीं है।"[१८] ईश्वर यथार्थ नहीं बल्कि आदर्श है, केवल उसकी ओर प्रेरणा यथार्थ है। अलैक्जैण्डर के अनुसार "धार्मिक चेतना का ईश्वर एक यथार्थ असीम देवता की ओर एक प्रेरणा सहित सम्पूर्ण विश्व है।"[१९] ईश्वर की इस प्रकार की कल्पना स्पष्ट ही अनुभववादी और भौतिकवादी पक्षपात है। अलैक्जैण्डर का ईश्वर सदैव ही आदर्श है और यथार्थ होने पर वह एक ईश्वर नहीं रहता क्योंकि तब प्रेरणा देवता के देवता की ओर होती है। परन्तु ऐसा ईश्वर हमको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। किसी वस्तु को कम से कम अस्तित्वमय तो माना ही जाता है। अन्सलेम का आध्यात्मवादी तर्क (Ontological Argument) यथार्थ ही संकेत करता है कि ईश्वर होने के लिये, ईश्वर का अस्तित्व अत्यावश्यक है। निम्न स्तर के प्राणियों से मानव की क्रियाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि मानव केवल परिणाम मात्र नहीं है बल्कि नव्योत्क्रान्ति है। मानव में प्रकृति आत्म-चेतन हो जाती है। मानव एकमात्र बौद्धिक प्राणी नहीं है बल्कि वह एकमात्र धार्मिक प्राणी भी है और इस कारण धर्म का ईश्वर केवल भौतिक देश-काल का परिणाम नहीं हो सकता।

अलैक्जैण्डर के समान बर्गसाँ भी ईश्वर को एक विकासमान सत्ता मानता है। जड़ और चेतना के अन्तर्गत एक तत्व है जिसमें दो प्रवृत्तियाँ हैं। बर्गसाँ उसको "शुद्ध संकल्प" के रूप में चैतन्य मानता है, शुद्ध प्रवृत्ति जिससे कि हमारी

---

१७. अलैग्जैण्डर, स्पेस टाइम एण्ड डीटी, भाग २, पृष्ठ ३८०

१८. वही, पृष्ठ ३६५

१९. वही, पृष्ठ ३६२

संकुचित चेतना और जड़ पदार्थ के प्रत्यक्ष निकलते हैं। यह शुद्ध क्रिया का सिद्धान्त विश्व में समस्त सृष्टि का श्रोत तथा केन्द्र है। अतः बर्गसाँ उसको ईश्वर कहता है। बर्गसाँ के शब्दों में, "इस प्रकार से परिभाषित ईश्वर में पहले से ही बना कुछ नहीं है। वह अविच्छिन्न जीवन, कर्म और स्वातन्त्र्य है।"[२०] ईश्वर प्राणात्मक तत्व, विश्व प्राण (Elan Vital), गतिमान और जीवित है।

परन्तु शक्ति है तो सत भी है। जैसा कि कान्ट ने संकेत किया है समस्त प्रपञ्च तत्व पर आधारित है। बर्गसाँ का विश्व-प्राण और पारमेनाइडीज़ का सत एक ही सदवस्तु की दो स्थितियाँ हैं। संकल्प और प्रवृत्ति किसी सत का संकल्प और प्रवृत्ति होनी चाहिये। ईश्वर सत भी है और संभूति भी। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है, "गति का विचार ही स्थिरता की शक्ति को लिये रहता है और किसी सत्ता की क्रिया के रूप में प्रगट होता है। क्रियात्मक शक्ति का प्रत्यय ही अपने साथ निष्क्रिय शक्ति का विचार लिये रहता है और एक निरपेक्ष शक्ति जो कि सक्रिय नहीं है एक और सहज निरपेक्ष सत्ता है।"[२१]

व्हाइटहैड ने ईश्वर की प्रकृति को दो अर्थों में समझाया है आदिम (Primordial) और परिमाणात्मक (Consequent) विश्व का आदि और अन्त। ईश्वर विश्व का सृष्टा, पालक और विनाशक है। जगत न केवल उससे निकलता है बल्कि उसी में लौट भी जाता है। व्हाइटहैड के अनुसार विश्व का विकास ईश्वर का विकास है। विश्व ईश्वर के सहज अनुभव में नित्य और अपरिवर्तनीय रूप में रहता है। धार्मिक अर्थों में, जैसा कि व्हाइटहैड ने समझाया है, इस प्रकार ईश्वर संसार को अमर कर देता अथवा विनाश से बचाता है। परन्तु फिर "न तो ईश्वर और न संसार ही एक स्थिर पूर्णता पर पहुँचते हैं। दोनों ही एक परम आध्यात्मिक आधार, नवीनता में एक रचनात्मक प्रगति के वश में हैं। उनमें से प्रत्येक, ईश्वर और विश्व, एक दूसरे के लिये नवीनता का साधन हैं।"[२२] इस प्रकार ईश्वर निरपेक्ष नहीं है। ईश्वर और विश्व दोनों ही रचनात्मकता (Creativity) के नियम के अधीन हैं। ईश्वर ससीम और साकार है।

संसार का अनुभव करते हुए एक यथार्थ सत्ता के रूप में ईश्वर एक व्यक्ति और एक उद्देश्य तथा प्रयोजन को प्राप्त करने के लिये एक विषयी है। फिर ईश्वर मानव को विनाश से बचाने के लिये एक कृपालु साथी है क्योंकि वह प्रत्येक यथार्थ सत्ता (Actual entity) को अपने अनुभव में ले लेता है। वह "संसार का कवि" है क्योंकि संसार की रचना, ईश्वर द्वारा जगत की संभावनाओं की झांकी का परिणाम है। वह समस्त सृष्टि के पीछे एक अन्तर्मुख निर्देशक और

२.० बर्गसाँ : क्रीएटिव एवाल्यूशन, पृष्ठ २६२

२१. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृष्ठ ९१

२२. व्हाइटहैड, ए० एन० : प्रॉसेस एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ ४९३-९४

नियन्त्रणकारी शक्ति है। वह "मूर्त्तता (Concretion) का नियम" है। "संसार का समस्त सामंजस्य, व्यवस्था और प्रगतिशील क्रम उसी के कारण है।" वह संसार को बाँधने वाला तत्व है।

ईश्वर अन्तःस्थ भी है और सर्वातिशायी भी है। वह जगत से पूर्व आदिम यथार्थ सत्ता है। ईश्वर के आदिम और परिणामात्मक स्वरूप की कल्पनाएँ सांख्य के प्रकृति और पुरुष के समान हैं। अन्तर केवल यह है कि व्हाइटहैड उनको ईश्वर की दो अवस्थायें मानकर उनके बीच की खाई भर देता है। परन्तु फिर भी विश्व का ईश्वर के विकास के साथ विकास व्हाइटहैड के दर्शन में एक अवशिष्ट द्वैत प्रदर्शित करता है। अभिव्यक्ति की विभिन्नतायें एकसूत्रता के नियम का उन्मूलन नहीं करती। पारमार्थिक सद्वस्तु के सभी विभाजन केवल संवित-शास्त्र सम्बन्धी उपाय हैं। प्रत्यय सम्बन्धी विभाजन अनुभव की एकता को प्रभावित नहीं करता। विश्व और ईश्वर एक और अनेक, विवर्तन और निवर्तन व्यक्त और अव्यक्त इत्यादि शब्द सच्चिदानन्द की समकालीन अवस्थितियों को क्रमिक व्यवस्था में समझने की बौद्धिक विधियाँ मात्र हैं। वह परिवर्तन में अपरिवर्तित, काल में कालातीत रहता है। व्हाइटहैड के अनुसार प्रक्रिया ही सद्वस्तु है और हम प्रक्रिया का "क्या" नहीं पूछ सकते क्योंकि आधुनिक भौतिक-शास्त्र ने सिद्ध कर दिया है कि जड़ पदार्थ अन्ततोगत्वा गतिशील शक्ति से ही बनता है।[२२] परन्तु विज्ञान की असफलतायें दर्शन में निराशा की ओर नहीं ले जातीं। विज्ञान शक्ति से परे नहीं जा सकता और इस कारण गति को ही परम सद्वस्तु मानता है परन्तु न तो तर्क और सर्वांग अनुभव ही इस प्रकार के निर्णय को प्रतिपादित करता है। गति में प्रेरक का अस्तित्व स्वतःसिद्ध है। शक्ति सत्ता में ही होती है। शक्ति को परम सद्वस्तु मानना, जैसा कि विज्ञान मानता है, चित्र का केवल एक पहलू है।

श्री अरविन्द का सर्वांग मत

उपरोक्त वादविवाद हमें श्री अरविन्द के इस निर्णय पर लाता है कि "सभी सिद्धान्त जो कि संभूति को उसके स्वयं के लिये पर्याप्त ठहराते हैं अर्द्ध सत्य हैं, जो कुछ वे देखते और स्वीकार करते हैं उस पर एकांगी मनन से उपलब्ध अभि-व्यक्ति के ज्ञान के लिये वे प्रामाणिक हैं, परन्तु अन्यथा केवल इसीलिये प्रामाणिक हैं कि सत् संभूत से पृथक नहीं है बल्कि उसमें उपस्थित है, उसको बनाता है, उसके प्रत्येक सूक्ष्मतम अणु और उसके असीम विकास और विस्तार में निहित है।"[२३] परिवर्तन को सत् मानने वाले सिद्धान्तों का सत्य संभूति में है परन्तु इस

---

२२. वही, पृष्ठ ३१

२३. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४४६

सत्य को पूर्णतया जानने के लिए सत् का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है। निरपेक्ष सद्वस्तु एक सर्वातिशायी सद्वस्तु सच्चिदानन्द है परन्तु उसी समय वह एक विश्वगत सद्वस्तु संभूति भी है। श्री अरविन्द के शब्दों में "सत् एक है परन्तु यह एकता असीम है और स्वयं में स्वयं का एक असीम बहुत्व या विविधता रखती है। एक सब कुछ है; वह केवल एक सारभूत सत्ता ही नहीं बल्कि समग्र सत्ता है।"[२५]

उपनिषदों के समान श्री अरविन्द ने सच्चिदानन्द को परम सद्वस्तु माना है। निरपेक्ष सद्वस्तु सच्चिदानन्द है। परन्तु फिर श्री अरविन्द के अनुसार "सच्चिदाद त्रिविध पहलू के साथ एक है। परम में तीन, तीन नहीं बल्कि एक हैं, सत् चिद है, चिद आनन्द है और इस प्रकार वे अपृथक् हैं। केवल अपृथक् ही नहीं बल्कि इतना अधिक एक दूसरे से सम्बन्धित है जैसे कि वे बिल्कुल भिन्न नहीं हैं।"[२६] पुनः ब्रह्म आत्मा, पुरुष और ईश्वर है। ये प्रत्यय संबोधि के मूल से निकले हैं। इनमें एक विस्तृत सूक्ष्मता है और ये एक ऐसी व्यवहारिक नमनीयता की सामर्थ्य रखते हैं जोकि अस्पष्टता और कठोर बौद्धिकता दोनों ही बचा जाती है। ब्रह्म निरपेक्ष है और सभी सापेक्षों को आत्मसात कर लेता है। वह सबका अन्तरात्मा है। वह अनेक में एक, अचेतन में चेतन है। वह कारण है और कार्य तथा कार्यकारण नियय भी। वह देश है और जो कुछ देश में है वह भी है। वह विषयी और विषय, विचार तथा विचारक दोनों ही है।" "समस्त सद्वस्तुयें और सभी पहलू तथा समानतायें ब्रह्म हैं। ब्रह्म निरपेक्ष है, सर्वातिशायी और अप्रगट, विश्व से परे का सत् जोकि विश्व और विश्वात्मा का पालन करता और समस्त जीवों को धारण करता है परन्तु वही प्रत्येक व्यक्ति का आत्मा है; आत्मा अथवा चैत्य पुरुष ईश्वर का एक नित्य अंश है। वह उसकी परम प्रकृति अथवा चेतना-शक्ति ही है जोकि जीवित प्राणियों के संसार में जीवित प्राणी बन गई है।"[२७]

इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार दैवी सत्ता के तीन पहलू हैं।[२८]

१. वह विश्वात्मा और आत्मा है जोकि वस्तुओं और जीवों में तथा उनके पीछे है, जिससे और जिसमें विश्व में सब कुछ अभिव्यक्त होता है चाहे वह वर्तमान समय में अज्ञान में ही हो।

२. वह हमारे अन्दर हमारी अपनी सत्ता की आत्मा और स्वामी है।

३. वह सर्वातिशायी सत् और आत्मा, सर्व-आनन्द, प्रकाश, ज्ञान और शक्ति है।

---

२५. वही पृष्ठ ४४८
२६. श्री अरविन्द : लाइट्स आन योग, पृष्ठ ३५
२७. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ३६
२८. श्री अरविन्द : लैटर्स, फर्स्ट सीरीज, पृष्ठ ८२

परम ब्रह्म अनिवर्चनीय और अचिन्तनीय है। जैसे कि श्री अरविन्द ने कहा है "वह सत् अथवा असत् नहीं बल्कि कुछ ऐसा है जिसके सत् और असत् प्रारम्भिक चिह्न हैं; आत्मा अथवा अनात्मा या माया नहीं; व्यक्तित्व अथवा निर्व्यक्तित्व नहीं; गुण अथवा निर्गुण नहीं; न चेतना और न निश्चेतना; न आनन्द और न निरानन्द; न पुरुष न प्रकृति, न देवता, न मानव, न पशु; न बन्धन न मोक्ष; परन्तु ऐसा कुछ जिसके ये सब प्रारम्भिक अथवा गौण, सामान्य अथवा विशेष संकेत हैं।" परन्तु आगे श्री अरविन्द ने कहा है, "फिर भी जब हम कहते हैं कि परब्रह्म यह अथवा वह नहीं है तो हमारा तात्पर्य यह है कि वह अपने तत्व रूप में इस अथवा उस संकेत अथवा संकेतों के समूह में सीमित नहीं किया जा सकता, एक अर्थ में ब्रह्म यह सब कुछ है और यह सब परब्रह्म है।"[२९]

श्री अरविन्द के अनुसार दर्शन और धर्म के चरम लक्ष्य एक ही सद्वस्तु के दो रूप-मात्र हैं। इस प्रकार ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। "सर्वव्यापी क्योंकि सभी रूप देश और काल के उसके स्वयं अपने विस्तार में उसकी अपनी गति की शक्ति से उत्पन्न उसकी चेतन सत्ता के रूप हैं। सर्वज्ञ, क्योंकि सभी वस्तुयें उसकी चेतन सत्ता में रहती हैं, उसके द्वारा बनाई जाती और उसी के अधिकार में रहती हैं। सर्वशक्तिमान, क्योंकि यह सर्वाधिकारी चेतना ही एक सर्वाधिकारी शक्ति और सर्वसूचक संकल्प है।"[३०] ईश्वर अन्तःस्थ और अतिशायी, व्यक्तिगत और विश्वगत, समस्त वस्तुओं का सृष्टा, पालक और सहारक है। वह सहायक, निर्देशक, प्रिय और सर्वप्रेमी है। वह पृथक् है परन्तु फिर भी समस्त जीवों से एक है। उसके बाहर कुछ नहीं है। ईश्वर साकार, मुक्त, पूर्ण, नित्य और सभी का आत्मा है। वह सत् भी है और संभूति भी। संसार का विकास उसके विविध पहलुओं की अभिव्यक्ति है। वह विश्व का सक्रिय और भौतिक, प्रथम और अन्तिम कारण है। वह पूर्णता की सीढ़ी में अन्तिम परन्तु तो भी सर्वग्राही है। वह विषयी भी है और विषय भी। वह उपासना, प्रेम और रहस्यात्मक मिलन का विषय है। उसमें सत्यशीलता, कृपालुता, ज्ञान और आन्नद जैसे गुण हैं। वह दुःख, अशुभ, कष्ट, अज्ञान और सीमितता इत्यादि से मुक्त है। वह आत्म-चेतन परम पुरुष है। वह विकासक्रम का आधार, प्रेरक और लक्ष्य है। सृष्टा के रूप में ईश्वर अतिमानस है। परन्तु इस पहलू को हम छठे अध्याय में लेंगे।

श्री अरविन्द ईश्वर को पर पुरुष, निरपेक्ष और परब्रह्म कहता है। जबकि प्रथम अभिव्यक्त है द्वितीय अनभिव्यक्त यद्यपि अन्त में दोनों एक ही हैं। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है, "ईश्वर अथवा पर पुरुष ही परब्रह्म है अनभिव्यक्त और अनिर्वचनीय, एक प्रकार का अभिव्यक्ति अथवा वचनीयता की ओर घूमा

---

२९. श्री अरविन्द : द एडवेन्ट, सं० ११, अंक २, पृष्ठ २१

३०. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृष्ठ १७५

हुआ जिसके कि दो नित्य शब्द हैं आत्मा और जगती।"[३१] अभिव्यक्ति अनभिव्यक्त का प्रसरण है, आकार निराकार का आकार है। परब्रह्म स्वयं पर पुरुष बन जाता है।

अब यहाँ यह प्रतीत होता है कि ईश्वर और निरपेक्ष में स्पष्ट अन्तर नहीं किया गया है। यह कहना कि ईश्वर ब्रह्म की अभिव्यक्ति है यह कहने के समान है कि ईश्वर निरपेक्ष नहीं है क्योंकि श्री अरविन्द के अनुसार निरपेक्ष व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। जब ईश्वर परब्रह्म का केवल व्यक्त पहलू है और उससे एक रूप नहीं है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि "ईश्वर परब्रह्म होने के कारण स्वयं ही निरपेक्ष है।"[३२] सद्वस्तु का अभिव्यक्त पहलू निश्चय ही उसके पूर्ण को समाप्त नहीं करता। पुनः यदि ईश्वर स्वयं ही निरपेक्ष है तब हमको यह कहना चाहिये कि उसका एक विशेष भाग अज्ञेय भी है। परन्तु इस प्रकार की कठिनाइयाँ केवल असीम के तर्क के आधार पर ही सुलझाई जा सकती हैं। परब्रह्म और ईश्वर का ज्ञान मानस का नहीं बल्कि चेतना का विषय है और इस कारण बुद्धि उसके लिये नियम नहीं बना सकती। असीम के क्षेत्र में अनुभव के तथ्यों का विश्वसनीय रूप से वर्णन करना दर्शन का पवित्र कर्तव्य है। केवल मानसिक प्रज्ञा की सुविधा के लिये ही निरपेक्ष और ईश्वर, परब्रह्म और पर पुरुष में भेद किया गया है। परन्तु प्रत्ययों से काम लेते समय हमें अनुभव का प्रसंग भूल नहीं जाना चाहिये। श्री अरविन्द ने अनुभव का विश्लेषण करने और विभिन्न अनुभवों के लिये पृथक्-पृथक् प्रत्यय बनाने में पर्याप्त सावधानी रखी है परन्तु साथ ही हमें उनका अधिक कठोरता से प्रयोग करने के विरुद्ध सदैव चेतावनी भी दी है। प्रत्ययों को सत्य के नित्य प्रगतिशील अनुभव के समझने के गतिशील साधन के रूप में प्रयोग करना चाहिये।

श्री अरविन्द के दर्शन में परब्रह्म पर द्वन्द्वात्मक प्रणाली से नहीं पहुँचा गया है। निरपेक्ष को जानने का एकमात्र मार्ग सदैव गहन, विस्तृत और वृहत होने वाला आध्यात्मिक अनुभव ही है। निरपेक्ष का उच्च दर्शन एक स्वीकारात्मक दर्शन होना चाहिये क्योंकि निरपेक्ष सब कुछ है और सब कुछ निरपेक्ष में है। प्रत्येक संबोधि, चाहे वह कितना भी एकांगी क्यों न हो, अपना सत्य रखता है और इस कारण किसी भी संबोधिजन्य अनुभव पर आधारित कोई भी दर्शन एकदम बहिष्कृत नहीं किया जा सकता।[३३] विवाद तो एकमात्र उन लोगों से है

---

३१. श्री अरविन्द : द एडवेन्ट, संख्या ११, अंक २, पृष्ठ २२

३२. वही

३३. "हमको, जो कुछ हम देखते हैं, उसका यथा शक्ति अच्छा वर्णन करना चाहिये परन्तु जो कुछ दूसरे देखते या कहते हैं उसका प्रतिवाद करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि हमें जो कुछ उन्होंने देखा या कहा है उसको अपनी व्यवस्था में स्थान देकर उसकी व्याख्या करनी चाहिये।"

श्री अरविन्द : वही, पृष्ठ २१

जोकि असीम को अपनी सीमित पकड़ में बाँधना चाहते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार "अद्वैत सत्य है क्योंकि अनेक केवल एक की अभिव्यक्ति मात्र हैं, विशिष्टाद्वैत सत्य है क्योंकि प्रत्यय नित्य हैं और अभिव्यक्त होने से पूर्व भी अभिव्यक्त हो चुके होंगे और फिर भी अभिव्यक्त होंगे। अनेक एक में नित्य हैं केवल वे कभी-कभी अभिव्यक्त हैं और कभी-कभी अनभिव्यक्त। द्वैत सत्य है क्योंकि यद्यपि एक दृष्टिकोण से एक और अनेक सदैव ही और तात्विक रूप से एक ही हैं परन्तु दूसरे से प्रत्यय अपनी अभिव्यक्ति में उस बुद्धि से सदैव ही भिन्न होता है जिसमें कि वह अभिव्यक्त होता है।"[३४] निरपेक्ष के एक यथार्थ दर्शन को सभी अन्य दर्शनों के लिये स्थान पाना चाहिये। जैसे विज्ञान में वैसे ही दर्शन में अधिक व्यापक सिद्धान्त ही अधिक उत्तम होता है जोकि अन्य सिद्धान्तों की व्याख्या करता है और उनका उत्क्रमण भी करता है।

श्री अरविन्द का दर्शन न तो अन्ध श्रद्धायुक्त है और न अज्ञेयवादी। उसके अनुसार परब्रह्म न तो पूर्णतया ज्ञात ही है और न पूर्णतया अज्ञात। जैसे-जैसे हम अपने अनुभव में बढ़ते हैं हम परब्रह्म को अधिकाधिक जानते जाते हैं। इसी कारण दर्शन में व्यवस्था बनाना अदार्शनिक है। क्रोचे, बर्गसाँ, व्हाइटहैड और अन्य के समान श्री अरविन्द ने ज्ञान को उन्मुक्त और विकासमान छोड़ दिया है और उसको एक बन्द तथा कठोर व्यवस्था में सीमित नहीं किया है। वह एक व्यवस्थाकार नहीं है बल्कि एक दृष्टा है, सदैव अधिकाधिक सर्वांग अनुभव के लिये प्रयत्नशील और सदैव निरीक्षण, परीक्षण, तुलना, उन्नति और परिवर्तन तक के लिये सन्नद्ध है।[३५] उदारता और सहिष्णुता की प्रवृत्ति श्री अरविन्द के दर्शन के विशेष गुण हैं। उसका दृष्टिकोण एक गतिशील और सदैव ज्ञान में आगे बढ़ता हुआ दृष्टिकोण है। उसमें कभी भी निरपेक्ष को पूर्णतया पकड़ पाने का दावा नहीं किया गया है। दर्शन में निरपेक्ष ज्ञान पर अधिकार के दावे की अपेक्षा खोज और निष्कपटता, धैर्य और पथ पर बढ़ने का सतत् प्रयत्न ही अधिक महत्वपूर्ण है। एक सच्चा दर्शनिक ज्ञान का प्रेमी है, उसका पूर्ण अधिकारी कभी नहीं।

---

३४. श्री अरविन्द, द आइडियल ऑव कर्मयोगिन, पृष्ठ ५४-५५

३५. अनिल बरन राय द्वारा नोट की हुई एक वार्ता में श्री अरविन्द ने कहा था "अपनी साधना की एक अवस्था में मैंने समस्त बौद्धिक सत्य को असत्य अनुभव किया। तब फिर मैंने जाना कि वे अपूर्ण सत्य थे। अब मैं उन सत्यों को उनके यथार्थ स्थान पर रखने की स्थिति में हूं। मैंने पहले अनेक चीजें लिखी हैं जिनको कि मुझे अब परित्याग या संशोधन करना चाहिये।
—मदर इण्डिया, अगस्त १९५२

५

आत्मा और वैयक्तिकता

"जो कुछ है वह है और वह जो कुछ है उस सब से अधिक है और हम स्वयं, यद्यपि हम जानते नहीं, उसके सत् के सत् हैं, उसकी शक्ति की शक्ति हैं, उसकी चेतना से निसृत एक चेतना से चेतन हैं। हमारी मर्त्य सत्ता तक उसके तत्व में से बनी है और हमारे अन्दर एक अमर्त्य है जोकि सनातन प्रकाश और आनन्द की चिन्गारी है।"
—श्री अरविन्द[1]

अब तक हमने एकता और एक के रूप में निरपेक्ष का विवेचन किया है। अब हमको अनेक और विविधता के पहलू की परीक्षा करनी चाहिये क्योंकि वह भी उतना ही आवश्यक है। संबोधि द्वारा अत्यधिक निश्चित और हमारे अत्यन्त निकट होने पर भी आत्मा के स्वभाव को जानना सबसे कठिन रहा है। कुछ उसको शरीर के रूप में जानते हैं अन्य जीव के रूप में तथा और भी अन्य मानस के रूप में। बहुत से आत्मा का अहंकार से तादात्म्य कर देते हैं, दूसरे उसको पंच कोषों के परे एक काल्पनिक केन्द्र मानते हैं। इसी प्रकार इस विषय में भी अनेक मत हैं कि आत्मा स्थिर है अथवा गतिशील, विशेष है अथवा विश्वगत, यथार्थ व्यक्ति है, अथवा निरपेक्ष की एक छायामात्र। इस प्रकार वैयक्तिकता (Individuality) की समस्या आत्मा की समस्या से अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। बहुत से विचारक आत्मा का अस्तित्व तो मान लेते हैं परन्तु उसमें कोई वैयक्तिकता नहीं मानते। दूसरे उसकी वैयक्तिकता के पीछे किसी स्थायी आत्मा को न मानकर व्यक्ति की यथार्थता को मानते हैं। व्यक्ति की यथार्थता नीति और धर्म की एक आवश्यक मान्यता है। व्यक्ति का परित्याग नीति तथा धर्म क बहिष्कार है। इस प्रकार के दर्शन में स्वयं दार्शनिक के लिये कोई स्थान नही रहता और इस प्रकार का दृष्टिकोण विचार की अन्तःस्थ द्वन्द्वात्मक गति के कारण अपने विरोधी को उत्पन्न करता है। निरपेक्षवादियों के विरुद्ध व्यक्तिवादी और एकेश्वरवादी

---

१. द सिन्थेसिस ऑव योग, प्रथम विश्वविद्यालय संस्करण, पृष्ठ २७९

कभी-कभी विश्वमय को खोकर भी अद्वितीयों की एकात्मता (Identity of Indiscernibles की स्थापना के लिये बहुतत्ववादियों का साथ देते हैं। इस प्रकार आत्मा और वैयक्तिकता की प्रकृति की ज्ञानात्मक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक और धार्मिक इत्यादि अनेक दृष्टिकोण से चर्चा की गई है। एक यथार्थरूप में सर्वांग दर्शन को इन सभी पहलुओं पर विचार करना चाहिये। प्रस्तुत अध्याय की यही विषय वस्तु है।

परिवर्तनशील आत्मा का सिद्धान्त

अनेक दार्शनिकों ने आत्मा को एक परिवर्तनशील शृंखला अथवा आत्मतत्व को एक अस्थिर गुण माना है। ह्यूम, जेम्स, न्याय वैशेषिक दार्शनिकगण, बौद्ध विद्वान, रामानुज और ब्रैडले इत्यादि एक परिवर्तन सहित नित्य चेतना के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। रामानुज के अनुसार ज्ञान नित्य नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो वैसा ही प्रतीत होना चाहिये था परन्तु हम प्रत्यक्ष ज्ञान को एक कालात्मक घटना के रूप में पाते हैं।[२] कणाद के अनुयायी इस मत को मानते हैं कि चेतना आगन्तुक है क्योंकि यदि आत्मा एक नित्य चेतना होती तो वह गम्भीर निद्रा और मूर्च्छा में भी चेतन रहती।[३] फिर जेम्स के अनुसार आत्मा एक चेतना की धारा है जिसमें कि विभिन्न क्षण एक दूसरे से सहानुभूतिपूर्वक संयुक्त हैं और अपने तत्व को अपने अनुगामी क्षण को दे देते हैं। इस प्रकार चेतना 'च' विषय 'ब' के प्रत्यक्ष को अनुगामी चेतना 'च' को दे देती है जो कि स्वयं 'ब'' विषय को जानती हैं। इस प्रकार 'च' के सम्मुख 'ब' और 'ब'' दोनों अवस्थाएँ उपस्थित होकर परिवर्तन का ज्ञान उत्पन्न करती हैं। गुजरते हुये विचार के परे कोई स्थायी आत्मा नहीं है। गुजरता हुआ विचार ही एकमात्र विचारक है।

आत्मा का ज्ञानात्मक महत्व

परन्तु इस प्रकार का सिद्धान्त आत्मा का ज्ञानात्मक महत्व भुला देता है। संप्रत्यक्ष की संश्लेषणात्मक एकता, जैसा कि कान्ट ने आत्मा को कहा है, जोकि संबोधि के रूपों द्वारा आने वाले और प्रज्ञा में भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित छिन्न भिन्न अनुभव को एक सूत्र में बांध सके, समस्त ज्ञान की एक आवश्यक शर्त है। परिवर्तन की समस्त चेतना एक अपरिवर्तनीय चेतना पर निर्भर है। चेतना की एक धारा स्वयं परिवर्तनशील क्षणों की चेतना नहीं पा सकती। जेम्स के अनुसार एक अचेतनता की मूर्च्छा से जगा हुआ व्यक्ति मूर्च्छा के पूर्व और पश्चात् की अवस्था में कोई अन्तर अनुभव नहीं करता। ये दोनों अवस्थाएँ क्रमबद्ध प्रतीत

---

२. "नित्यम चेत् संवेदनम स्वतः सिद्धम, नित्यमित्यैव प्रतीत्येन न च तथा प्रतीत्यते।" —श्री भाष्य

३. शांकरभाष्य २,३,१८

होती हैं। उनका अन्तर केवल समय बीतने के विषयगत लक्षणों से अनुमान द्वारा ज्ञात होता है।[४] परन्तु यह समझना कठिन है कि पीटर और पॉल का निद्रा के पूर्व का अनुभव इतने अन्तर के पश्चात् भी किस प्रकार उनकी निद्रा के पश्चात् की चेतना पर चला गया। इस प्रकार का तथ्य केवल एक स्थायी आत्मा की उपस्थिति से समझाया जा सकता है। समस्त विकास चेतना के लिये विकास है। आत्मा ही वह नित्य विषय है जिसके द्वारा कोई भी विषयी-विषय अथवा विषय-विषय सम्बन्ध बुद्धिग्राह्य हो सकता है। वह समस्त वर्गों के परे है क्योंकि जैसा कि कान्ट कहता है वह समस्त वर्गों का श्रोत है। वह नित्य उपस्थित है।

टी० एच० ग्रीन का सर्वप्रत्ययवाद

ग्रीन के अनुसार "जगत में अनेक की एकता में उन अनेक की एक मानस के सन्मुख उपस्थिति सम्मिलित है जिसके लिये और जिसकी क्रिया के द्वारा वह एक सम्बन्धित पूर्ण है।" वह है विश्वमय अथवा निरपेक्ष मानस। हमारी चेतना "विश्व चेतना" का केवल एक "सीमित प्रकार" है। व्यक्तिगत मानस और वस्तुएं निरपेक्ष के प्रकार मात्र हैं। ग्रीन मानव में दो तत्व मानता है—नित्य अपरिवर्तनीय चेतना का आध्यात्मिक तत्व और प्राकृतिक तत्व जिससे क्रमबद्ध परिवर्तनशील अनुभूतियाँ अथवा ऐन्द्रिक अनुभव उत्पन्न होते हैं। परन्तु दोनों ही समान रूप से विश्वमय मानस के परिवर्तनशील प्रकार मात्र माने गये हैं। समस्त विश्व अमूर्त्त सम्बन्धों से बना है और उसमें मुक्त व्यक्तियों के लिये कोई स्थान नहीं है। विश्व और व्यक्तियों को इस प्रकार अमूर्त्त सम्बन्धों की व्यवस्था मात्र बना देने के ग्रीन के प्रत्ययवाद के विरुद्ध एस० ऐलिओटा ने यथार्थ ही कहा है "चैत्य तथ्य में सहज रूप में अनुभव किया हुआ कुछ ऐसा है जिसको कि द्वन्द्ववाद का कोई भी प्रयत्न प्रत्ययजनित सम्बन्धों की व्यवस्था से कभी भी एक रूप नहीं कर सकता। संवेदनाएं, अनुभूतियाँ, आवेग, प्रवृत्तियाँ तथा संकल्प जैसे कि वे मानव व्यक्तित्व की मूर्त्तता में दिये गये हैं एक व्यक्तिगत पहलू रखते हैं जो पहले से नहीं देखा जा सकता।"[५] अपने सूक्ष्म ज्ञानात्मक विश्लेषण द्वारा ग्रीन विषयी-विषय सम्बन्ध को विषय-विषय सम्बन्ध से मिला देता है।

अद्वैत मत

शंकर का आत्मा का सिद्धान्त ग्रीन से विशेषतया इस अर्थ में आगे है कि वह उसका ज्ञानात्मक विश्लेषण देते हुये भी प्राचीन वेदान्त की परम्परा में आत्मा

---

४. विलियम जेम्स: प्रिन्सीपुल्स ऑव साइकॉलॉजी, भाग १, पृष्ठ २३७-८

५. ऐलिओटा, एस० : आइडियलिस्टिक रिएक्शन अगेन्स्ट साइन्स, पृष्ठ ९९

की परम प्रकृति को मानता है। ग्रीन के विरुद्ध यह एक ओर तो सर्वविषयवाद (Panobjectivism) को और दूसरी ओर सन्देहवाद (Agnosticism) को बचा जाता है। आत्मा विषय नहीं है परन्तु फिर भी "अन्त:स्थ आत्मा के साक्षात्कार की सहजता के कारण"[६] ज्ञेय है। वह आधार रूप चेतना है और स्वयं अपना विषय नहीं हो सकती। वह स्वयं-सिद्ध, नित्य, अपरिवर्तनीय, न तन, न मन, न प्राण है। व्यक्तिगत वस्तुओं की चेतना अस्थायी और परिवर्तनशील है परन्तु हमारी सत्ता की चेतना नित्य है।[७] वह सदा ही मुक्त और अशरीर, विभु, तटस्थ, अविभक्त और सब प्रकार की क्रियाओं से विहीन है। शंकर आत्मा में विकास नहीं मानता। सुरेश्वर के अनुसार आत्मा 'अविकारी' है। आत्मा का विकास अथवा परिवर्तन जल में लकड़ी के टेढ़ेपन के समान भ्रमात्मक है।[८] इससे अद्वैत-वादी परिवर्तन, काल और संभूति को असत्य मानने लगते हैं। शंकर ने विविधता में सत्य का निषेध किया है। जीव एक ब्रह्म के केवल प्रतिबिम्ब मात्र हैं जोकि लोहे के समान[९] अपरिवर्तनीय है। शंकर ने कहा है कि नित्य चेतना भ्रम के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है।[१०] क्योंकि वह मायावंचनादि में कूटस्थ है।[११] सुरेश्वर के अनुसार कूटस्थ काल में स्वयं की अभिव्यक्ति करने वाला कालातीत साक्षी है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ब्रैडले के समान शंकर निरपेक्ष में प्रतीतियों की सत्यता को मानता है। प्रतीतियाँ केवल ब्रह्म पर आरोपमात्र हैं। शंकर के अनुसार प्रपञ्चात्मक जगत असत्य है परन्तु उसका आधार सत्य है। "इदम्" से ब्रह्म स्वयं अभिव्यक्त होता है।[१२] 'क्या' इदं पर एक आरोपमात्र है। अनेक की सत्ता अविद्या के ही कारण है। मानव जीवन अज्ञान मात्र है।

परन्तु यह समझना कठिन है कि इस तरह के दर्शन में स्वयं दर्शन, दार्शनिक, अथवा मोक्ष इत्यादि की सत्यता कैसे मानी जा सकती है। प्रच्छन्न बौद्ध कहे जाने के विरुद्ध शंकर द्वारा अनेक तर्क दिये जाने पर भी शून्यवाद उसके मत का तार्किक परिणाम है। उसके दर्शन में मानव जीवन के महत्वपूर्ण मूल्यों को तर्क की वेदी पर बलिदान कर दिया गया। श्री अरविन्द का इस मत के विरुद्ध विद्रोह व्यावहारिक मूल्यों की प्रतिरक्षा नहीं है बल्कि हमारी सर्वोच्च आध्यात्मिक आकांक्षाओं, मानव के भविष्य को लेकर है। शंकर के दर्शन में स्वयं शंकर के लिये कोई स्थान नहीं है, न ही उसमें नीति अथवा धर्म के लिये कोई स्थान है क्योंकि नीति

---

६. अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्म प्रसिद्धेः, —शांकर भाष्य
७. भगवद्गीता, शांकर भाष्य, २,१६
८. नैष्कर्म्यसिद्धि २,८,४
९. कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते, —पंचदशी ६,२२
१०. अनेक माया वंचनादि प्रकारेण स्थितः कूटस्थः —गीता, शांकरभाष्य १५,१७
११. कूटः माया वंचना, जिह्मता कुटिलता, कूटे स्थितः, —वही
१२. "इदन्तया ब्रह्म सदैव रूप्यते", —विवेक चूड़ामणि, २३८

संकल्प की स्वतन्त्रता को मानकर चलती है और धर्म स्वतन्त्र व्यक्ति का कार्य है। उसमें मानव की सामाजिक प्रकृति से सम्बन्धित सभी बातों का महत्व समाप्त हो जाता है, सभी मूल्यों का एक परम मूल्य में निषेध हो जाता है जोकि सर्वांग न होने के कारण सभी का तिरष्कार करता है। शंकर द्वारा भक्तिमय रचनायें किये जाने पर भी धर्म उसके दर्शन पर आश्रित नहीं हो सकता क्योंकि उसमें व्यक्ति सद्वस्तु का एक प्रतिबिम्ब मात्र है और ईश्वर केवल एक प्रपञ्च। शंकर ने अनुभव के केवल एक पहलू पर एकांगी बल दिया है। परन्तु परिवर्तन, विकास, विविधता और संभूति का दूसरा पहलू भी उतना ही महत्वपूर्ण है।

ब्रैडले और बोसान्के

शंकर के समान ब्रैडले यह मानता है कि पूर्ण गतिहीन होता है और समस्त विचार और संसार की वस्तुयें आत्म विरोधी और इस कारण प्रपञ्चमात्र हैं। परन्तु शंकर के विरुद्ध ब्रैडले निरपेक्ष में प्रतीतियों के सत्य को स्थिर रखने को उत्सुक है यद्यपि यह समझना कठिन है कि जब आत्मा और व्यक्तित्व दोनों का ही निषेध कर दिया गया है तब यह कैसे संभव है। सच तो यह कि ब्रैडले स्वयं यह कठिनाई अनुभव करता है और "जैसे तैसे" का सहारा लेता है क्योंकि उसके पास प्रतीतियों को यथार्थ ठहराने का और कोई भी साधन शेष नहीं रहता।[१३] इसी प्रकार आत्मा को बनाने वाली घाटी के रूप में इस जगत के कीट्स के वर्णन में आस्था रखने वाले दार्शनिक बोसान्के ने भी एक ऐसा मत प्रस्तुत किया है जो मायावाद से बहुत भिन्न नहीं है। उसके अनुसार सीमित आत्माओं की रूपात्मक विविधता दुर्बलता के कारण है और उनकी सीमितता के अनुरूप है। वह व्यक्ति को निरपेक्ष में इसलिये एक सदस्य नहीं मानता क्योंकि इससे यह माना जा सकता है कि वह पृथक् रूप से और आपेक्षिक स्वतन्त्रता के साथ निरपेक्ष की एक स्थायी विभक्ति है। खिड़कियों के चौखटे के अपने प्रसिद्ध उदाहरण में ब्रैडले ससीम व्यक्तियों की भ्रमात्मक प्रकृति को सिद्ध करता है। संभवतः रहस्यमय अनुभव के अर्थ में ब्रैडले और बोसान्के ने ससीम आत्माओं के ब्रह्म में रूपान्तर, विलयन और अन्तर्ध्यान होने पर जोर दिया है परन्तु यदि ऐसा भी है तो भी यह नहीं भूलना चाहिये कि रहस्यवादी अनुभव सत्य का केवल एक पहलू मात्र है। फिर यदि रहस्यवादी अनुभव धार्मिक अनुभव का सार भी है तो भी वह यथार्थ व्यक्ति नहीं बल्कि परिवर्तनशील अहंकार को ही खोता है क्योंकि व्यक्ति तो उतना ही यथार्थ है जितना ब्रह्म। ब्रैडले आत्मा को प्रपञ्चमात्र समझकर छोड़ देता है। यह भूल ही उसकी सम्बन्ध और सम्बन्धित तत्वों की कठिनाइयों के लिये उत्तर-

---

१३. "प्रत्येक वस्तु जो कि दिखाई पड़ती है 'जैसे-तैसे' इस प्रकार सत्य है कि स्वानुकूल हो जाय।"
—ब्रैडले एफ० एच० एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ १२३

दायी है। जैसा कि प्रो० एस० ऐलिग्रोटा ने कहा है, "विषयी की नित्य उपस्थिति के अतिरिक्त और कुछ भी दो पदों के बीच की खाई को नहीं भर सकता और न बुद्धि को एक पूर्वगामी जिसका अस्तित्व समाप्त हो चुका है और एक अनुगामी जोकि अभी अस्तित्व में आना है, के बीच के सम्बन्ध को समझने योग्य बना सकता है।"[१४]

व्यक्तिवादी और एकेश्वरवादी मत

निरपेक्षवादियों के विरुद्ध, व्यक्तिवादी और एकेश्वरवादी तथा नैतिक और धार्मिक मूल्यों के समर्थक दार्शनिकगण व्यक्ति की निरपेक्ष यथार्थता को मानते हैं। प्रो० प्रिंगिल पैंटीसन ने मानव मूल्यों की ब्रैडले और बोसान्के द्वारा अवहेलना के विरुद्ध विद्रोह किया है। मानव ईश्वर के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि ईश्वर मानव के लिये।[१५] सीमित केन्द्र तत्व में अपरिमित रूप से क्रम बना सकते हैं परन्तु सत्ता में नहीं। वे रूप में भिन्न हैं क्योंकि वे सत्य में भी ऐसे ही हैं। प्रिंगिल पैंटीसन लाइबनित्ज़ के साथ समस्त सत्ता के आवश्यक सत्य के रूप में अद्वितीयों की एकात्मता के नियम को मानता है। जैसा कि रामानुज ने कहा है अनेक एक की आत्माभिव्यक्ति, विशेष और प्रकार हैं। सीमित अथवा असीम का एक अपृथक् विशेष है जोकि अपने समस्त परिवर्तनों में ईश्वर द्वारा नियन्त्रित होकर भी यथार्थ और नित्य है। आत्मा का बहुत्व सुख और दुःख के वितरण से ही स्पष्ट है। रामानुज और प्रिन्गिल पैंटीसन दोनों ही इस तथ्य पर जोर देते हैं कि सीमित व्यक्ति की सत्ता पारमार्थिक दृष्टिकोण से भी उतनी ही यथार्थ है जितनी की व्यावहारिक दृष्टिकोण से। यह आगे नैतिक और धार्मिक मूल्यों के विषय में सिद्ध किया गया है। सीमित व्यक्ति केवल विशेषणात्मक नहीं बल्कि तत्वात्मकभी है। इस प्रकार की व्यक्ति की यथार्थता को मानने में प्रिंगिल पैंटीसन रामानुजसे कहीं आगे है। निरपेक्षवादियों के विरुद्ध उसने यह संकेत किया है कि वस्तुएँ एक दूसरे के विशेषण नही हैं। शंकर के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि भ्रम की सत्ता तक, किसी ऐसे व्यक्ति को यथार्थ मानने पर ही रह सकती है जिसको कि भ्रम होता है। प्रत्येक व्यक्ति की एक तात्विक सत्ता होनी चाहिये "अस्तित्व में रहने का अर्थ है गुणों का विषय होना, एक स्वभाव रखना।"[१६] यदि व्यक्ति केवल दैवी जल के प्रवाह के नल अथवा फ़ौवारे की टोटियाँ मात्र है तो न कोई

---

१४. एलिग्रोटा, एस० : आइडियलिस्टिक रिएक्शन अगेन्स्ट साइन्स, पृष्ठ १०८

१५ तुलना कीजिये—"क्या स्वर्ग मानव को चाहता है, इस प्रश्न के लिये उत्तर यह है कि यदि स्वर्ग उसको न चाहता होता तो वह स्वर्ग को न चाहता।"

—श्री अरविन्द : दिलीप कुमार राय : एमंग द ग्रेट, पृष्ठ ३०३

१६. प्रिंगिल पेटीसन, आइडिया ऑव गॉड, पृष्ठ २८२

सृष्टि है, न यथार्थ भेद और न रहस्य। आत्मा विश्व को अपने सीमित केन्द्र से देखती है। नैतिकता में संकल्प की स्वतन्त्रता अनिवार्य है जिसके बिना हम यंत्र मात्र से अधिक नहीं हैं।

परन्तु प्रिंगिल पैटीसन का मत भी एकांगी ही है। उसके स्वीकारों में उसका महत्व है परन्तु उसके नकार उसको दूसरे छोर पर ले जाते हैं क्योंकि एकता उतनी ही यथार्थ है जितनी विविधता। व्यक्ति निरपेक्ष का अंश, विशेष अथवा प्रकार उतना अधिक नहीं है जितना कि वह उसकी प्रतीति है। अवयवीय (Organic) सम्बन्ध निरपेक्ष के रहस्यों की व्याख्या नहीं कर सकता। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है, "नित्य, विश्व में सार्वभौम और उसके जीवों में व्यक्ति रूप में आत्मा, ये सब चीजें वह एक साथ हो सकता है; वह चेतना को भी उनमें से किसी में भीं प्रकृति के कार्य को त्यागने, शासन करने अथवा प्रत्युत्तर देने को स्थापित कर सकता है, अन्यों को उसके पीछे अथवा उससे दूर रख सकता है, स्वयं को एक शुद्ध नित्यता, आत्म-निर्भर सार्वभौमिकता अथवा विशेष व्यक्तित्व के रूप में जान सकता है।"[१७]

श्री अरविन्द का सर्वांग मत

यथार्थ व्यक्ति

श्री अरविन्द के अनुसार "मानव, वैयक्तिक और सामाजिक अनुभव तथा विश्व में आत्माभिव्यक्ति के लिये, मन, जीवन और शरीर को प्रयोग करने वाला एक आत्मा है।"[१८] सच्चिदानन्द आत्माभिव्यक्ति के आनन्द के लिये स्वयं ससीम में अवरोहण करता है। आत्मा और निरपेक्ष एक हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द के सर्वांग निरपेक्षवाद में व्यक्ति उतना ही यथार्थ है जितना कि विश्वमय अथवा सर्वातिशायी। इस प्रकार का मत एक पूर्ण स्वीकार और एक तीव्र नकार की दोनों अति से बचा रहता है। व्यक्ति न तो छाया मात्र है और न दैवी सत्ता से पृथक् रहने वाला। वह यथार्थ है परन्तु निरपेक्ष में यथार्थ है। विभक्तकारी प्रवृत्ति "मौलिक अज्ञान"[१९] की ओर ले जाती है। सृष्टि के दृष्टिकोण से व्यक्ति चेतना शक्ति का केन्द्र बिन्दु है। "व्यक्ति समस्त विश्वमय चेतना का केन्द्र है।"[२०] सर्वांग ज्ञान व्यक्ति के उन्मूलन में नहीं समाप्त होता क्योंकि चेतना शक्ति की यह एकाग्रता एक भ्रम नहीं बल्कि एक यथार्थ प्रयोजनमय क्रिया, शक्ति की सच्चिदानन्द में

---

१७. श्री अरविन्द : सिन्थेसिस ऑव योग, पृष्ठ७१७-१८

१८. वही, पृष्ठ, ७१३

१९. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग १, पृष्ठ ४४१

२०. वही, भाग १,पृष्ठ४५,

अपने आदिम गृह में वापसी की प्राप्ति है। प्रकृति मानव में आत्म चेतन हो जाती है। व्यक्ति में देवत्व की अभिव्यक्ति प्रकृति के अपने श्रोत की ओर लौटने की शर्त है। चेतना शक्ति विस्तार और एकाग्रता के द्वारा उत्पत्ति करती है। विश्व असीम देशकाल में निरपेक्ष का विस्तार है, व्यक्ति देशकाल की सीमाओं में उसकी एकाग्रता है। व्यक्ति में प्रकृति पुरुष को देखने के लिये पीछे लौटती है, विश्व आत्मा की खोज करता है, ईश्वर के पूर्णतया प्रकृति बन जाने से प्रकृति उन्नति करते हुए ईश्वर बनने की चेष्टा करती है। व्यक्ति यथार्थ है और विश्वमय से एकता में भी रहता है। मानव का ध्येय दैवी सत्ता की अभिव्यक्ति के लिये अपने को विश्वमय और निर्वैयक्तिक बनाना है। परन्तु फिर, चेतना की सर्वाधिक विस्तृत विश्वमयता पर पहुँचने पर भी उसको अपना व्यक्तित्व अक्षुण्ण रखना है। उन्मूलन अहंकार का होना है। व्यक्ति निरपेक्ष के समान नित्य, समस्थित नहीं बल्कि उसमें और उसके द्वारा स्थित एक पारमार्थिक सद्-वस्तु है।

श्री अरविन्द के अनुसार परम सद्वस्तु तात्विकता, सार्वभौमिकता और वैयक्तिकता की त्रिविध सत्ता में अभिव्यक्त होने वाली एक एकता है। परन्तु यह एकता अवयवीय नहीं बल्कि उससे अधिक गहन है। यह एक आध्यात्मिक सम्बन्ध है जो कि उपनिषद के इस प्रसिद्ध कथन में स्पष्ट है कि पूर्ण से पूर्ण निकलता है और फिर भी पूर्ण शेष रह जाता है। व्यक्ति विश्वमय से सम्बन्धित है और उसके बिना नहीं रह सकता और विश्वमय सर्वातिशायी से सम्बन्धित है जोकि अपने को व्यक्ति और विश्वमय के द्वारा प्रगट करता है। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है, "क्योंकि विशेष अथवा व्यक्ति की इसके अतिरिक्त कोई आत्म सत्ता कोई सत्य, कोई प्रामाणिक शक्ति नहीं कि वह दैवी सत्ता, ज्ञान, संकल्प, शक्ति और उसका आनन्द अभिव्यक्त करता है जोकि समस्त विश्व का उत्क्रमण करता है जिसने कि अपनी सत्ता के एक छोटे अंश अथवा अपनी चेतना की एक किरण-मात्र से इन समस्त जगतों को उत्पन्न किया है।"[२१] इस प्रकार ब्रैडले के समान श्री अरविन्द का भी यह विश्वास है कि विश्वमय व्यक्ति है, परन्तु फिर वेदान्त की परम्परा में श्री अरविन्द आत्मा को समान रूप से यथार्थ और यथार्थ रूप में व्यक्ति मानता है। मैक्टेगार्ट की 'आत्माओं की एक एकता' को निरपेक्ष आत्मा कहने की समस्या बुद्धि की कठोरता के कारण है। मानस व्यक्तिगत पूर्णों से बने एक पूर्ण की संभावना पर विश्वास नहीं कर सकता परन्तु यही तो चेतना का नियम है। पूर्ण व्यक्ति विश्वमय व्यक्ति है क्योंकि हमारा व्यक्तित्व तभी पूर्ण हो सकता है जबकि हम विश्वमय को अपने में ले लें और उसका उत्क्रमण भी करें।

---

२१. श्री अरविन्द : आइडियल एण्ड प्रोग्रेस, पृष्ठ १६-१७

व्यक्ति को बहुधा अहंकार माना गया है और उसकी अतिशयता को व्यक्तित्व का विनाश। परन्तु अहंकार अधिक से अधिक जीवन के व्यवहारिक पहलू के लिये एक केन्द्र मात्र है। उसके पीछे है पुरुष, यथार्थ व्यक्ति जोकि उसको बनाता, साधता और फिर भी उसका उत्क्रमण करता है। इस प्रकार अहंकार की अनित्यता और आत्मा की नित्यता पूर्णतया अविरुद्ध है।[२२] विविधता दैवी सत्ता में यथार्थ है। पृथक्करण एक और भी घनिष्ठ एकता का साधन है। ईश्वर मानव में है और मानव ईश्वर में। व्यक्ति अपने में ही सर्वातिशायी को रखता है। वह दैवी सत्ता से एक होते हुए भी उसको संसार में भोग सकता है। हम ईश्वर से रहस्यमय एकता रख सकते हैं और फिर भी उसकी एक अन्य के समान पूजा और भक्ति भी कर सकते हैं। यह सब सीमित बुद्धि को विरोधाभास सा लगता है क्योंकि जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है, बुद्धि में तीन प्रकार के दोष है "....निरपेक्ष और सापेक्ष के बीच एक अनुलंघनीय खाई बनाने की भूल, व्यभिचार के नियम को अधिक सरल और कठोर बनाने तथा अधिक दूर तक ले जाने की भूल, उन वस्तुओं की उत्पत्ति को काल के माप से जाँचने की भूल जिनका उद्गम और प्रथम निवास कालातीत में है।"[२३] ये मौलिक कठिनाइयाँ हैं जोकि उन सिद्धान्तों के मूल में हैं जिनका हमने अभी तक विवेचना किया है।

दोहरी आत्मा

श्री अरविन्द के अनुसार भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक प्रत्येक अन्य तत्व के समान आत्मा भी दोहरी है। एक बाह्य मानस है और एक तलवर्ती मानस, एक बाह्य जीवन है और एक प्रच्छन्न शक्ति, एक भौतिक शरीर है और एक सूक्ष्मतर भौतिक सत्ता है। इसी प्रकार हममें एक दोहरा चैत्य तत्व भी है; बाह्य कामनामय आत्मा (Desire Soul) जोकि हमारी प्राणात्मक वासनाओं, उद्वेगों, सौन्दर्य की अनुभूतियों और ज्ञान, शक्ति तथा आनन्द की मानसिक खोज के पीछे है और एक प्रच्छन्न चैत्य आत्मा जोकि चैत्य सत्ता के बाह्य रूप के पीछे हमारी यथार्थ आत्मा है। यह बाह्य रूप हमारी अहंकारात्मक सत्ता का आधार है जबकि तलवर्ती तत्व हमारे विस्तृततर और यथार्थ व्यक्तित्व को बनाता है। इनमें मानव विश्वमय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध में आता है। हमारी शारीरिक, प्राणात्मक और मानसिक सत्ता को पृथक् करने वाली मोटी दीवारें, हमारे तलवर्ती तन, प्राण और मानस के उनके विश्वमय रूपों से पृथक्करण और सम्बन्ध के झीने माध्यम बन जाते हैं। परन्तु हमारी बाह्य आत्मा अहंकार की दीवारों में बन्द है

२२. "अतः व्यक्ति अस्तित्व रखता है यद्यपि वह तुच्छ विभक्तिकारी अहंकार का उत्क्रमण करता है, विश्वमय है और उसके द्वारा आत्मसात किया जाता है परन्तु वह समस्त व्यक्तिगत विभिन्नताओं को आत्मसात अथवा उन्मलन नहीं करता यद्यपि उसके अपने को विश्वमय बनाने से सीमितता जिसको कि हम अहंकार कहते हैं पार कर ली जाती है।"

—श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ९३-९३

२३. वही, पृष्ठ ६६

जिसमें प्रवेश करते हुए विश्वमय प्रकाश सीमित, छिन्न-भिन्न और आवरणमय हो जाता है। यहाँ पर ही हम सत्ता के शुद्ध साररूप आनन्द के सुख, दुःख और तटस्थता की त्रिविध मिथ्या व्याख्या पर आते हैं।

श्री अरविन्द के अनुसार यथार्थ आत्मा चैत्य सत्ता है। वह चैत्य पुरुष भी कहलाती है। पहले-पहल वह शरीर, प्राण और मानस के आवरण में रहती है परन्तु जैसे-जैसे वह विकसित होती है वह बाहर आने और उन पर अधिकार करने योग्य बन जाती है। परन्तु जीवात्मा अथवा व्यक्तिगत आत्मा चैत्य पुरुष से भिन्न है। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है, "चैत्य पुरुष यथार्थ पुरुष से अपना तादात्म्य अनुभव करता है परन्तु वह उसमें परिवर्तित नहीं हो जाता।"[२४] जीवात्मा दैवी सत्ता का अनेकात्मक पहलू है जबकि चैत्य पुरुष भौतिक प्रकृति में उसकी विकासमान अवस्थिति है। श्री अरविन्द ने जीवात्मा का "वहाँ पर अभिव्यक्त विविध रूपात्मक दैवी सत्ता, व्यक्तिरूप में आत्मा अथवा उत्पन्न सत् की आत्मा"[२५] के रूप में वर्णन किया है। यह जीवात्मा विश्वात्मा है, चैत्य पुरुष व्यक्तिगत आत्मा है। आत्मा आन्तरिक पुरुष (Inner Being) से भिन्न है। वह आत्मनिर्भर और नित्य है। चैत्य पुरुष अन्दर है जीवात्मा ऊपर है। "जीवात्मा व्यक्तिगत आत्मा, केन्द्र पुरुष है।"[२६] वह चैत्य शक्ति के द्वारा मानसिक, प्राणात्मक और भौतिक सत्ता पर नियन्त्रण रखता है। वह अनुत्पन्न है क्योंकि वह सत्ता में अवरोहण नहीं करता बल्कि उससे ऊपर है। वह समस्त चेतना को पूर्ण बनाता है। वह विकसित नहीं होता बल्कि विकास की अध्यक्षता करता है। दूसरी ओर चैत्य पुरुष विकास में प्रविष्ट होता है। वह जन्म के समय शरीर में प्रवेश करता और मृत्यु के समय उससे बाहर निकल जाता है उसका जन्म में प्रविष्ट होने वाले जीवात्मा के रूप में वर्णन किया जा सकता है। इस प्रकार चैत्य पुरुष केन्द्रीय पुरुष का केवल दूसरा पहलू है।

वेदान्त के साथ श्री अरविन्द ने यह माना है कि यथार्थ आत्मा देश कालातीत, निर्गुण तथा निराकार है। वह निःसंग, आत्म-सन्तुष्ट, शुद्ध चेतन अस्तित्व, आत्म-निर्भर और नित्य है। परन्तु जबकि यह अन्तःस्थ आत्मा अपरिवर्तनशील है, बाह्य आत्मा सतत् परिवर्तित होता रहता है। अन्तरंग सद्वस्तु को छोड़कर इस बाह्य आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करके बौद्ध, व्यवहारवादी और अज्ञेयवादी दार्शनिक आत्मा के विषय में भ्रान्त निर्णयों पर पहुँचे थे। दूसरी ओर अद्वैतवादियों ने बाह्य आत्मा की अवहेलना की। श्री अरविन्द ने आत्मा के निषेध और प्रकृति के निषेध के इन दोनों ही एकांगी मतों से बचाव किया। "आत्मा के दो पहलू हैं और उसका साक्षात्कार करने के परिणाम भी इन दो पहलुओं के

२४. श्री अरविन्द : लैटर्स, फर्स्ट सीरीज, पृष्ठ १३७
२५. श्री अरविन्द : लाइट्स ऑन योग, पृष्ठ २६
२६. श्री अरविन्द मन्दिर एनुअल, संख्या ६, अगस्त १९४७, पृष्ठ ३८

अनुरूप हैं। एक है स्थिर, प्रशान्त शान्ति, स्वातन्त्र्य और मौन का आधार। शान्त आत्मा किसी क्रिया अथवा अनुभव से प्रभावित नहीं होगा। वह उनको निष्पक्षता से सहारा देता है परन्तु उनको उत्पन्न करता बिल्कुल नहीं ज्ञात होता बल्कि तटस्थ और उदासीन रहता प्रतीत होता है। दूसरा पहलू गतिशील है और वह है जोकि विश्वात्मा के रूप में अनुभव किया जाता है, जोकि केवल पालन ही नहीं करता बल्कि समस्त विश्वमय क्रिया को उत्पन्न एवं धारण करता है, उसका केवल वही भाग नहीं जोकि हमारी भौतिक आत्माओं से सम्बन्धित है बल्कि वह भी जोकि उससे परे है। यह जगत और दूसरा समस्त जगत विश्व का अति-भौतिक तथा भौतिक स्तर है। इसके अतिरिक्त हम उसको सबमें एक सा ही अनुभव करते हैं परन्तु साथ ही हम उसको सबसे ऊपर, सर्वातिशायी तथा समस्त व्यक्तिगत जन्म अथवा विश्वमय सत्ता से परे भी अनुभव करते हैं।"[२७] आत्मा का सर्वांग ज्ञान उसके इन दोनों ही पहलुओं का ज्ञान है।

सर्वांग मनोविज्ञान

मनोविश्लेषणवाद ने अचेतन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। फ्रॉयड के अनुसार अचेतन गतिशील और आदिम है तथा शैशव के अनुभवों और प्रवृत्तियों से परिपूर्ण है। वह दमित इच्छाओं और स्मृतियों का भण्डार है। वह मानव में बर्बर, बालक और पशु का प्रतिनिधि है। उसके विचार नीति और तर्क से परे हैं। युँग ने एक और भी विस्तृत अचेतन प्रदेश की खोज की है। उसके अनुसार अचेतन सभी अचेतन चैत्य क्रियाओं को सम्मिलित कर लेता है, वह व्यक्तिगत है और सामूहिक भी है। व्यक्तिगत अचेतन में फ्रॉयड के अधोचेतन और अचेतन सम्मिलित हैं उसमें वे अनुभव हैं जोकि भूले जा चुके और दमन किये जा चुके हैं। सामूहिक अचेतन में मूल प्रवृत्तियाँ, "आदिम विचार"(Primordial Ideas) और "प्रतीक" (Archetypes) हैं। उसमें वे समस्त चैत्य प्रतिक्रियायें और प्रवृत्तियाँ है जोकि जाति में सर्वसामान्य रूप से पाई जाती हैं। वह संरचना के रूप में वंशानुक्रम से प्राप्त होता है।

जिसको श्री अरविन्द ने अवचेतन (Sub-conscient) कहा है वह फ्रॉयड और युँग के अचेतन के अनुरूप है। श्री अरविन्द के अनुसार जब वस्तुयें प्रकृति के अन्य सभी भागों से परित्यक्त कर दी जातीं हैं तब वे या तो हमारे चारों ओर के वातावरण की चेतना में चली जाती और वहाँ से पुनः लौटने का प्रयत्न करती हैं अथवा वे अवचेतन में डूब जाती हैं और वहाँ से लम्बी अवधि के पश्चात् ही वापस आ सकती हैं। यह अवचेतन सभी परिवर्तनों का विरोध करता है। वह उस आलस्य, दुर्बलता, अस्पष्टता और अज्ञान को सतत् स्थिर रखता

२७. श्री अरविन्द : लाइट्स ऑन योग, पृष्ठ ५६-५७

और वापस लाता रहता है जोकि भौतिक शरीर, मानस और प्राण को प्रभावित करता है, अथवा छिपे हुए भयों, इच्छाओं, क्रोध और भौतिक प्राण की वासनाओं अथवा शरीर के रोग, आलस्य, कष्ट और असमर्थताओं को जाग्रत करता है।

फ्रॉयड के अचेतन के समान यह अवचेतन स्वप्नों का श्रोत है। यह अन्तरात्मा का अन्तिम छोर है जहाँ पर कि वह अचित् Inconscient) से मिलता है। निद्रा में मानव की बाह्य चेतना इस क्षेत्र को लौट जाती है। यह अचित् की एक डेवढ़ी है जिसमें होकर उसकी रचनाएँ हमारी जाग्रत अथवा तलवर्ती सत्ता में आती हैं। श्री अरविन्द के अनुसार फ्रॉयड का स्वप्न रचना सिद्धान्त बहुत कुछ ठीक है परन्तु स्वप्न की रचना में कामवासना का इतना अधिक महत्व नहीं है जितना फ्रॉयड ने माना है। स्वप्न दमित संस्कारों का पुन: प्रगट होना है। जब यह अधोचेतन क्रिया पूर्ण अचेतन में वापस डूब जाती है तब हम स्वप्नहीन निद्रा का अनुभव करते हैं। स्वप्न अवचेतन अवस्थाओं में चलता रहता है केवल मानस उसको नहीं जानता। अन्य अनेक स्तरों के संस्कारों को बनाने के कारण प्रच्छन्न पुरुष भी कभी-कभी सन्मुख आ जाता है। यदि हम और भी गहरा जीवन व्यतीत करें तो हमारे स्वप्न अवचेतन से तलवर्ती स्तर पर आ सकते हैं। श्री अरविन्द का सुप्तावस्था के जीवन के एक सम्यक् ज्ञान की संभावना में विश्वास है।

अतिचेतना

मनोविश्लेषणवादी उच्च और निम्न सभी प्रकार के व्यवहारों की अचेतन से व्याख्या करते हैं। इसके अनुसार समस्त धर्म, कला, साहित्य, गुह्य व्यवहार और मानव जीवन की समस्त उच्च क्रियायें दमित अचेतन वासनाओं से ही उत्पन्न होती हैं। फ्रायड के अनुसार धर्म शैशव के पिता के प्रति आग्रह की सन्तुष्टि है जोकि पितृ-विरोध ग्रन्थि(Oedipus Complex) तथा प्राग् ऐतिहासिक काल में समूह द्वारा पिता के वध के अपराध की चेतना में उत्पन्न होता है। कला यौन वासनाओं के दमन का परिणाम है और सभ्यता तथा संस्कृति आदर्श चिह्नों (Totems) और निषेधों (Taboos) की एक कृत्रिम व्यवस्था है। एडलर प्रत्येक वस्तु को अधिकार की प्रेरणा (Mastery motive) और क्षतिपूर्ति (Compensation) के सिद्धान्त से समझाता है और युंग जातीय अचेतन से उनकी व्याख्या करता है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में मनोविश्लेषणवादियों के योगदान की अवहेलना नहीं की जा सकती परन्तु उच्च और निम्न स्तर की क्रियाओं को एक ही अचेतन की प्रक्रिया बतलाने से मानव मूल्यों के पतन का भय है। कितने भी समान प्रतीत होने पर भी कामुकता और ईश्वर भक्ति अत्यधिक भिन्न प्रक्रियाएँ हैं और उनकी उत्पत्ति एक ही श्रोत से नहीं मानी जा सकती। मनोविश्लेषणवादियों के विरुद्ध श्री अरविन्द

ने विभिन्न प्रक्रियाओं में स्पष्ट अन्तर किया है और उनकी उत्पत्ति विभिन्न क्षेत्रों से दिखलाई है। मानव जीवन की उच्चतर प्रक्रियाएँ कला, धार्मिक और गुह्य अनुभव, साहित्य और काव्य इत्यादि अचेतन नहीं वल्कि अतिचेतन स्तर से सम्बन्धित हैं। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है, "अवचेतन नहीं बल्कि अतिचेतन ही वस्तुओं का यथार्थ आधार है···आपको अंश जानने से पूर्व पूर्ण को जानना चाहिये और निम्नतर को भली प्रकार समझने से पूर्व उच्चतर को जानना चाहिये। अपने उपयुक्त यह समय की प्रतीक्षा करते हुए उस उच्चतर मनोविज्ञान का वचन है जिसके सन्मुख ये तुच्छ भटकनें अन्तर्ध्यान हो जायेगी और कुछ नहीं रहेंगी।"[२८] यह है श्री अरविन्द का सर्वांग मनोविज्ञान। यह एक दोहरे अर्थ में सर्वांग है। सर्वप्रथम यह मानव की पूर्ण प्रकृति को लेता है और दूसरे यह चेतना के व्यक्तिगत स्तरों के विश्वमय स्तरों से सम्बन्ध की भी व्याख्या करता है। उसका लक्ष्य केवल व्यक्तित्व का संकलन ही नहीं बल्कि उसका चैत्यीकरण और रूपान्तर भी है। यह सर्वांग योग में और भी भली प्रकार विकसित हुआ है जिसका हम आगे वर्णन करेंगे।

सर्वांग मनोविज्ञान के अनुसार हमारी चेतन सत्ता अवचेतन और अतिचेतन के मध्य में है। ये एक ही सद्वस्तु के दो रूप हैं। प्रथम का सार है जीवन और द्वितीय का प्रकाश। प्रथम में चेतना कार्य में लगी रहती है जबकि द्वितीय में वह पुनः प्रकाश में प्रवेश करती है। संबोधि ज्ञान दोनों में समान रूप से है परन्तु जबकि अवचेतन में संबोधि क्रिया में अभिव्यक्त होता है अतिचेतन में वह अपनी यथार्थ प्रकृति प्रामाणिक ज्ञान के रूप में प्रगट होता है।

श्री अरविन्द का अतिचेतन मनोविश्लेषणवादियों के अचेतन और अधोचेतन का पूरक है। यह अतिचेतन वही है जोकि आत्मा, ईश्वर और अधि-आत्मा (Over Soul) है। यह हमारी अपनी सर्वोच्च, सर्वाधिक अन्तरंग और सबसे विस्तृत आत्मा है। यह अपने दैवी ज्ञान और संकल्प की शक्ति से हमको और जगत को उत्पन्न करने वाला सच्चिदानन्द है। यह सर्वांग मनोविज्ञान श्री अरविन्द के सर्वांग दर्शन के अनुरूप है व्यक्ति समस्त विश्व का सूक्ष्म प्रतिनिधि है। मानव चेतना के स्तर अपने अनुरूप। विश्वमय स्तरों से सम्बन्धित हैं। विश्व में एक अविभाजित जड़ पदार्थ, जीवन और मानस है।

प्रच्छन्न पुरुष (Sublimiual)

परन्तु सम्भवतया श्री अरविन्द के सर्वांग योग की सबसे बड़ी खोज प्रच्छन्न पुरुष है। यह आरोहण और अवरोहण करती हुई चेतना की मिलन-भूमि है। उसमें हमारी चेतन सत्ता और प्रकृति से कहीं अधिक विस्तृत एक अन्तर्मन, एक

---

२८. श्री अरविन्द : बेसेज ऑव योग, पृष्ठ १२८-२९

अन्तर्प्राण और एक अन्तरंग सूक्ष्म भौतिक सत्ता है। अतिचेतन के समान वह भी बाह्य संसार से सम्बन्धित है। उसमें सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं जिनके द्वारा वह विश्वमय का उसके सभी स्तरों में अनुभव कर सकती है। वह हमको समाधि अथवा निद्रा में प्रेरणाएँ संबोधि ज्ञान, विचार, संकल्प, इन्द्रिय संकेत और क्रिया इत्यादि की प्रवृत्तियाँ देता है। वह अन्तरंग वस्तुओं और अतिभौतिक अनुभवों का दृष्टा है। वह इस कारण तलवर्ती नहीं कहलाता कि वह निम्नतर है बल्कि इसलिये कि वह आवरण के पीछे है। श्री अरविन्द ने प्रच्छन्न सत्ता में इन्द्रियेतर घटना प्रत्यक्ष (Clairvoyance) और इन्द्रियेतर विचार प्रत्यक्ष (Telepathy) इत्यादि की शक्तियाँ बतलाई हैं। वह ज्ञान के क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार कर सकता है। यद्यपि उसके चिह्नों और प्रतिमाओं को समझना बाह्य मानस के लिये अत्यन्त कठिन है। प्रच्छन्न पुरुष की सबसे अधिक महत्वपूर्ण शक्ति जोकि उसको योग में इतना लाभदायक बनाती है, उसका बाह्य विश्व से प्रत्यक्ष सम्बन्ध में आने के लिए फैलना है। इस प्रकार वह अन्य आत्माओं और बाह्य जगत को प्रत्यक्ष रूप में जानता है। वह हमारे चारों ओर रहने वाली और हमारे व्यक्तित्व, भौतिक शरीर, मानस-शक्ति और जीवन-शक्ति को प्रभावित करने वाली विश्व प्रकृति की अप्रत्यक्ष शक्तियों, व्यक्तियों, वस्तुओं और गुह्य शक्तियों का एक प्रत्यक्ष अन्तिम, यथार्थ और सहज ज्ञान पा सकता है। वह भविष्य में और विश्व शक्तियों के संभव मार्गों में भी देख सकता है। प्रच्छन्न पुरुष की सहायता से आत्मा मानसिक, प्राणात्मक और शारीरिक शक्तियों को यथार्थ रूप में नियंत्रित कर सकती है और इस प्रकार एक सर्वांग रूपान्तरण और सर्वांग ज्ञान की ओर ले जा सकती है। परन्तु इस प्रकार का ज्ञान अपूर्ण है जब तक कि व्यक्ति प्रच्छन्न पुरुष के दो छोरों, निम्नतर और उच्चतर, अवचेतन और अतिचेतन पर नहीं पहुँचता। अवचेतन के विरुद्ध प्रच्छन्न पुरुष एक गुप्त अन्तर्चेतन (Intraconscient) अथवा आवृत्त चेतन (Circumconscient) है। इस प्रच्छन्न पुरुष के क्रमशः विस्तार से ही व्यक्ति अधिकाधिक विश्वमय होता जाता है और उसकी दीवारों के टूटने से वह विश्व-मय चेतना प्राप्त करता तथा एक यथार्थ विश्वमय व्यक्ति बन जाता है।

कर्म का नियम

इस प्रकार सर्वांग मनोविज्ञान और सर्वांग दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मानव का विकास है। अतः श्री अरविन्द ने कर्म के नियम की सर्वसाधारण व्याख्या को नहीं माना है। दण्ड और पुरुष्कार के तुच्छ विचार बौद्धिक मानस को प्रभावित नहीं कर सकते। परन्तु यह नियम एक सामान्य अर्थ में मान लिया गया है जिसके अनुसार जो जैसा बोता है वह वैसा काटता है। मनुष्य अपने भाग्य को स्वयं बनाता है। श्री अरविन्द के अनुसार वंशानुक्रम और परिवेश तक मनुष्य के वर्तमान और भूतकालीन कर्मों के परिणाम हैं। कभी-कभी वे दूसरे के कर्मफल में भी और दूसरे उसके कर्मफल में भागी होते हैं क्योंकि समस्त सत्ता एक सूत्रमय है।

परन्तु विभिन्न जन्मों में भी एक सम्बन्ध है। वर्तमान जीवन का अस्तित्व, प्रकृति और परिस्थितियाँ मानव के वर्तमान और गत कर्मों के परिणाम हैं। प्रगट रूप में हम कभी-कभी प्रकृति के नियमों में न्याय नहीं पाते परन्तु श्री अरविन्द के अनुसार सामान्य रूप में कर्म का नियम यथार्थ है। केवल कर्म ही नहीं बल्कि विचार और अनुभूतियों के भी अपने अनुरूप परिणाम होते हैं यद्यपि कर्म जीवन का सर्वाधिक भाग होने के कारण, सर्वाधिक परिणामदायक होता है। ऐसा इसलिये भी है क्योंकि मनुष्य अपने विचार तथा अनुभूतियाँ की अपेक्षा अपने कर्म पर अधिक नियन्त्रण कर सकता है। परन्तु भाग्यवाद के विरुद्ध श्री अरविन्द का कहना है कि कर्म का नियम आत्मा का भाग्य निर्णय नहीं करता बल्कि आत्मा कर्म को अपने साधन के रूप में प्रयोग करती है। कर्म आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य का उल्लंघन नहीं करता। जैसे-जैसे हम विकास के क्रम में अवरोहण करते हैं यांत्रिक नियम का अधिकार क्रमशः क्षीण होता जाता है और हम अधिकाधिक आध्यात्मिक स्वतन्त्रता पर आते जाते हैं। जैसा कि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "...प्रकृति नियम और प्रक्रिया का क्षेत्र है परन्तु आत्मा अथवा पुरुष अनुमति का देने वाला अनुमन्ता है और यद्यपि साधारणतया वह एक साक्षी रहना ही पसन्द करता है तो भी यदि वह चाहे तो अपनी प्रकृति का स्वामी ईश्वर हो सकता है।"[२९] आत्मा शरीर में आत्माभिव्यक्ति और अनुभव तथा विश्वगत अनुभव के द्वारा प्रकृति का विकास खोजती है ताकि वह अज्ञान से छूट सके। यही बुद्धि उस नियम का निर्देश करती है जिसको कि चैत्य सत्ता मान लेती है। सत्ता और उसका संकल्प भाग्य से अधिक महत्वपूर्ण हैं। आत्मा की चेतना-शक्ति के विभिन्न प्रकारों की प्रकृति अनेक अनुभवों का एक अत्यधिक गहन समूह बनाती है जिसका विचार करना ही चाहिये। योग्यतम के अस्तित्व का नियम ही इस प्राकृतिक न्याय पर आधारित है कि व्यय की हुई शक्ति का प्रकृति से यथोचित पुरस्कार मिलना ही चाहिये। सम सम्बन्ध (Correlation) का सरल तर्क अथवा जीवन और प्रकृति के अन्याय की क्षतिपूर्ति करने के लिये कर्मफल की महत्ता ठहराने का विचार कर्म के नियम के लिये एक दुर्बल आधार है। इस प्रकार के न्याय का कोई नैतिक औचित्य नहीं है। क्योंकि नैतिकता पुरस्कार नहीं चाहती। प्रकृति की प्रक्रियाओं में अनुभव का उपदेश है। नैतिक नियम प्रकृति पर शासन नहीं करते। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है, रूपों में "पुनर्जन्म की परिस्थितियों का समस्त आत्मा की एक विशेष आवश्यकता, विकास की आवश्यकता, अनुभव की माँग के चारों ओर केन्द्रित है, वही उसके विकास के क्रम का नियंत्रण करती है शेष सब कुछ गौण है।"[३०] इससे हम पुनर्जन्म की समस्या पर आ जाते हैं।

---

२९. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग १, ६२६

३०. वही, पृष्ठ ६३७

पुनर्जन्म का दर्शन

इस प्रकार श्री अरविन्द ने पुनर्जन्म को निश्चित करने वाले कर्म के नियम के प्राचीन धार्मिक विचार को नहीं माना है। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का अपना विचार कुछ मौलिक मान्यताओं पर आधारित है जिनमें से एक यह है कि, "···जिसका कोई अन्त नहीं है उसका अवश्य ही कोई प्रारम्भ भी नहीं होगा।"[३१] यदि आत्मा अमर नहीं है तो आवागमन का नियम टूट जाता है। साथ ही एक अमर आत्मा मृत पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती यद्यपि उसमें अवरोहण करके वह अपने कुछ आध्यात्मिक गुण उसको दे सकती है। दूसरे, विकास में प्रत्येक अवस्था का एक भूत होता है। अतः आत्मा का व्यक्तित्व अपने विकास के लिये एक पूर्वजन्म की सम्भावना दिखलाता है। तीसरे यदि व्यक्तित्व मानसिक, प्राणात्मक अथवा भौतिक वंशानुक्रम का परिणाम है तब आत्मा तटस्थ होनी चाहिये। अब यथार्थ और अमर होने के साथ आत्मा नित्य भी होनी चाहिये और तब या तो वह एक अपरिवर्तनीय आत्मा होनी चाहिये अथवा एक कालातीत पुरुष। यह ध्यान रहे कि पुनर्जन्म की समस्या अद्वैत अथवा बौद्ध दर्शन जैसे सिद्धान्तों में नहीं उठती क्योंकि जबकि प्रथम में समस्त शरीर धारण भ्रम मात्र है और आत्मा नित्य मुक्त है द्वितीय में कोई स्थायी आत्मा ही नहीं है। पुनर्जन्म के लिए एक स्थिर तथा साथ ही एक गतिशील आत्मा की आवश्यकता है क्योंकि दोनों में से किसी की भी अनुपस्थिति में वह निरर्थक हो जायेगा। इस प्रकार श्री अरविन्द के दर्शन में पुनर्जन्म एक आवश्यक शर्त है। वह एक आध्यात्मिक विकास के कार्य के लिये एक अनिवार्य प्रक्रिया है। परिवर्तन और विकास यथार्थ हैं क्योंकि आरोहण आत्मा के अवरोहण का एक स्वाभाविक परिणाम है। इस तरह आत्मिक पुनरुत्थान, मोक्ष और आत्मा का विकास और इसी प्रकार पुनर्जन्म भी यथार्थ क्रियाएँ हैं। यदि सद्वस्तु अपरिवर्तनीय है, जैसा कि मायावाद में है अथवा यदि वह परिवर्तन मात्र है, जैसा कि बौद्ध मत में है, तब ये सब असत्य हैं। दूसरी ओर श्री अरविन्द के दर्शन में सच्चिदानन्द प्रत्येक जीव में है और व्यक्ति में स्वयं को स्थापित करता है। "व्यक्ति में वह विश्वमय में सबसे एकता के द्वारा अपनी सम्पूर्ण सत्ता में अपने को अभिव्यक्त करता है। व्यक्ति में ही वह नित्य के रूप में अपनी अतिशायिता को अभिव्यक्त करता है जिसमें समस्त विश्वमय एकता स्थापित होती है।"[३२]

अतः जन्म और मृत्यु केवल संयोगमात्र नहीं हैं। मानव जीवन केवल आकस्मिक उत्पत्ति नहीं है। वह एक क्रमिक श्रृंखला में एक कड़ी है जिसके द्वारा विश्व में

---

३१. वही, पृष्ठ ५५१

३२. वही, पृष्ठ ५६५-६६

व्यापक आत्मा अपने प्रयोजन को क्रमशः विकसित करती है और अन्त में एक विस्तृत होती हुई और विकासमान मानव आत्म चेतना के द्वारा अपना कार्य करती है। दैवी चेतना के एक केन्द्रीयकरण के रूप में व्यक्ति के पहलू हैं एक आध्यात्मिक व्यक्ति और एक व्यक्तित्व की आत्मा। आध्यात्मिक निर्वैयक्तिक व्यक्ति के रूप में वह सच्चिदानन्द से एक है जबकि व्यक्ति की आत्मा के रूप में उसके अपने विकास को विश्वमय विकास के नियमों का पालन करना चाहिये। यह सर्वांग योग का आधारभूत नियम है। आत्मा शरीर, जीवन अथवा मानस की अप्रधान रचना नहीं है और इस कारण वह उनसे ऊपर और नीचे की स्थितियों पर जा सकती है। वह अपनी विभिन्न अभिव्यक्तियों के अनुसार विभिन्न शरीर ग्रहण कर सकती है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "आत्मा मानसिक मानवीयता के सूत्र से बन्धी नहीं है। वह उससे प्रारम्भ नहीं हुई और उसके साथ समाप्त नहीं होगी; उसका एक मानव पूर्व भूतकाल है। और मानव से परे भविष्य है।"[३३] व्यक्तिगत आत्मा विभिन्न रूपों में विकसित होती है जब तक कि वह मानव तक पहुँच जाती है जो कि और भी उच्चर स्तरों के लिये एक सीढ़ी मात्र है। निम्न से उच्च तक, पशु से मानव तक प्रगति इतनी सुनिश्चित है कि वह लौटी नहीं जा सकती। ऐसा तभी हो सकता था जबकि परिवर्तन स्थायी न होता। इस प्रकार नवीन मानव रूपों में पुनर्जन्म ही सामान्य नियम है। ऐसा इसलिये भी है क्योंकि मानव रूप धारण करने के पश्चात् भी कार्य समाप्त नहीं होता है बल्कि आत्मा को अभी और भी उच्च संभावनाओं को प्राप्त करना है। जब हम विश्वमय विकास को एक आध्यात्मिक महत्व देते हैं जोकि हमारे अपने स्तर तक सीमित न होकर विशालतर विश्वमय सामूहिकता का एक अंश है तब पुनर्जन्म एक अनिवार्य आवश्यकता बन जाता है। फिर क्योंकि हमारा जगत ही एकमात्र जगत नहीं है इस लिये आत्मा को मृत्यु के तत्काल पश्चात् शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं है। श्री अरविन्द के अनुसार यदि आत्मा के अनुभव सात्मीकरण की आवश्यकता के लिये पर्याप्त रूप से गहन नहीं हैं और यदि दूसरे स्तरों से आकर्षित होने के लिये मानसिक और प्राणात्मक व्यक्तित्व पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हैं तब एक और दूसरे जन्म तथा अन्य जगतों को जाने के मध्य पर्याप्त अवकाश होना चाहिये। जन्म और मृत्यु आत्मा के विकास के एक ही क्रम में दो कड़ियाँ हैं। मृत्यु के पश्चात् आत्मा किसी मध्य के स्तर में अथवा कुछ काल्पनिक इच्छामूलक रचनाओं में रुक सकती है। वह भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक जगतों से भी गुजर सकती है और अस्थायी रूप से वहाँ रुक सकती है।

पिछले जन्मों की स्मृतियों का यहाँ कोई महत्व नहीं है क्योंकि सात्मीकरण के विकासात्मक प्रयोजन और व्यक्तित्व के विकास के लिये गत शक्तियों के सार रूप

---

३३. वही, पृष्ठ ५७१

परिणामों को भली प्रकार आत्म सात करने की प्रक्रिया को उसकी आवश्यकता नहीं है। स्मृति की अनुपस्थिति पुनर्जन्म का उसी प्रकार खण्डन नहीं करती जिस प्रकार कि वह हमारे वर्तमान जीवन का खण्डन नहीं करती। क्षणिक "अहं" नहीं बल्कि हमारे अन्दर का चैत्य तत्व ही अमर है। प्राण और मानस जितने ही आध्यात्मिक बनते जाते हैं उतने ही अधिक उनके अस्तित्व के अवसर हैं क्योंकि तब अन्तर और बाह्य के बीच की दीवारें टूट जायेंगी और अमर चैत्य पुरुष के मानसिक और प्राणात्मक प्रतिनिधि जीवन पर शासन करेंगे। भौतिक भी केवल तभी जीवित रह सकता है जबकि वह इतना नमनीय हो जाए कि प्रत्येक आध्यात्मिक परिवर्तन का साथ दे। भौतिक क्षय नहीं बल्कि एक अधिक उत्तम साधन की अन्तरंग आवश्यकता ही आत्मा को शरीर का परित्याग करने को प्रेरित करती है। इस प्रकार अन्तिम विश्लेषण के अनुसार पुनर्जन्म एक अपरिवर्तनीय व्यक्तित्व के सतत् नवीन रूप धारण करने अथवा दीर्घकाल तक जीवित रहने का यंत्र नहीं है बल्कि प्रकृति में आध्यात्मिक विकास का साधन है। पदार्थ में आत्मा का निवर्तन और तत्पश्चात् उसका आवर्तन श्री अरविन्द की विश्व प्रपञ्च की व्याख्या की सम्पूर्ण कथा है। इससे सृष्टि और एक तथा अनेक के सम्बन्ध की समस्याएँ कहाँ तक सुलझती हैं यह हमको अगले अध्यय में देखना है।

६

जगत और सृष्टि

"चेतना एक मौलिक वस्तु है, वह सत्ता में एक मौलिक वस्तु है। चेतन की शक्ति, गति और प्रगति ही विश्व और जो कुछ उसमें है उस सब को उत्पन्न करती है। केवल विभु ही नहीं बल्कि अणु भी स्वयं को व्यवस्थित करने वाली चेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उदाहरण के लिये जब गति में चेतना अथवा गति का कोई प्रक्षेप अपने को कार्य में भूल जाता है तब वह एक वाह्य रूप से अचेतन शक्ति बन जाती है। जब वह अपने को रूप में भूल जाती है है तब परमाणु, अणु और भौतिक वस्तु बन जाती है। यथार्थ में अब भी चेतना ही शक्ति में कार्य करती है और रूप तथा रूप के विकास को निश्चित करती है। जब वह स्वयं को धीरे-धीरे, विकास मान रूप से जड़ पदार्थ के बाहर परन्तु अब भी रूप में ही मुक्त करना चाहती है तब वह जीवन, पशु और मानव के रूप में प्रगट होती है और वह अपने निवर्तन से निकलकर अपने को विकसित करती हुई भी आगे जा सकती है और मनुष्य मात्र से बहुत कुछ अधिक बन सकती है।" —श्री अरविन्द[1]

अपने चारों ओर हम गति, परिवर्तन और विविधता पाते हैं और साथ ही पाते हैं स्थिरता और एकता। एक और अनेक, सत् और संभूति अनुभव के एक से ही तथ्य हैं और एक सामंजस्यपूर्ण दर्शन को उन सभी को स्थान देना चाहिये। परन्तु उनका अन्तर्सम्बन्ध ही सबसे दुरुह समस्या है। क्या सद्वस्तु एक है अथवा अनेक? यदि अनेक है तो इन अनेकों में क्या सम्बन्ध है जोकि उनके द्वारा एक ही जगत के अनुभव का आधार है? यदि एक है तो जगत की विविधता का तथ्य किस प्रकार समझाया जायेगा? यदि दोनों हैं तब फिर उनमें क्या सम्बन्ध है? यदि अनेक एक की अभिव्यक्ति है तो कैसे, कब और क्यों एक अनेक बन

१. श्री अरविन्द के पत्र, श्री अरविन्द मन्दिर एनुअल, सं० ६, अगस्त १९४७ पृष्ठ ५७

जाता है ? फिर क्या संभूति एक नित्य तथ्य है ? यदि हाँ, तो उसका सत से क्या सम्बन्ध है यदि नहीं तो संभूति किस प्रकार सत् से निकली ? क्या जगत एक उत्पत्ति है अथवा अभिव्यक्ति ? सृष्टा कौन है? सृष्टि का आधार क्या है ? संक्षेप में हमारी खोज जगत के 'क्या' 'कैसे' और 'क्यों' के विषय में है ।

प्रस्तुत अध्याय में हमने अपने विवेचन को मुख्यतया जगत के क्या के विवेचन तक ही सीमित रखा है और 'कैसे' तथा क्यों' के विचार को अगले अध्याय के लिये छोड़ दिया है । इस प्रयोजन के लिये हमने पांच प्रतिनिधि सिद्धान्त चुने हैं। एक ओर अद्वैत एक ही को सम्पूर्ण सद्वस्तु मानता है । दूसरे छोर पर है बहुतत्ववाद । शून्यवाद दोनों का ही निषेध करता है । दूसरी ओर दोनों को स्वीकार करने वाला सिद्धांत है। यह स्वीकृति दो प्रकार की हो सकती है द्वैतवादी और अद्वैतवादी, जैसे सांख्य और श्री अरविन्द का सर्वांग सिद्धान्त । फिर ये पांच सिद्धान्त तीन प्रकारों में विभाजित किये जा सकते हैं। शून्यवादी जगत को असद् मानते हैं, अद्वैतवादी सद्-असद् और शेष सब सद् । पहले दो सिद्धान्त उसको अविद्या की उत्पत्ति मानते है । अन्तिम दोनों प्रारम्भिक आधार को शक्ति मानते हैं । इन्हीं दोनों में पुनः शक्ति की प्रकृति के विषय में मतभेद है । सांख्य और लाइबानत्ज उसको अन्धा मानते हैं जबकि श्री अरविन्द ने उसको चेतन माना है । अन्त में ये दोनों ही जगत को अभिव्यक्ति मानते हैं ।

मायावाद

शंकर ने अपने मायावाद के सिद्धान्त को अध्यास के विचार पर आधारित किया है । अतः मायावाद की परीक्षा करने के पूर्व अभ्यास की प्रकृति की विवेचना करनी चाहिये । शंकर के अनुसार अभ्यास सत्य एवं असत्य के मैथुन का परिणाम है ।[२] उसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है :—

"स्मृतिरूपः परम पूर्व दृष्टावभासः ।'[३]

परन्तु शंकर के मत के विरुद्ध यह अज्ञान अथवा भूल केवल एक स्थानच्युत ज्ञान है । वह जो कुछ आरोपित है उसकी सत्ता का नहीं, बल्कि केवल उसकी उस स्थान पर देखे जाने की अनुकूलता का निषेध करता है जहां पर कि वह नहीं थी। मानस की भूलों से ली हुई उपमाएं जगत अथवा व्यक्ति की सत्ता के आध्यात्मिक तथ्यों की व्याख्या नहीं करती क्योंकि मानस एक अंश है और हमारी सत्ता का सर्वोच्च अंश भी नहीं । मानसिक भ्रान्तियाँ बाह्य वस्तु की सत्ता के सत्य को प्रभावित नहीं करतीं ।

इसके आगे किसी वस्तु के उससे भिन्न वस्तु पर प्रत्यक्ष के रूप में अध्यास

२. "सत्यानृते मिथुनी कृत्य"

३. शांकरभाष्य १,१,१

की व्याख्या की गई है—

'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः'[४]

यह व्याख्या भी दो वस्तुओं के अस्तित्व की पूर्वकल्पना पर आधारित है। जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा है, "मानसिक भ्रान्ति की उपमा केवल तभी लागू हो सकती है जबकि हम एक नाम, रूप और सम्बन्धहीन ब्रह्म तथा एक नाम, रूप और सम्बन्ध सहित जगत को एक दूसरे पर आरोपित समान सद्वस्तुएँ मान लें।"[५] शंकर स्वयं ही इस प्रकार की आलोचना के प्रति सजग था। वह पूर्वपक्ष से दो प्रकार के प्रतिवाद की कल्पना करता है। एक तो यह कि वस्तुओं अथवा उनके गुणों का निर्विषय आत्मा पर किस प्रकार आरोप हो सकता है। दूसरे यह कि यदि केवल आत्मा ही सद् है और अनात्मा असद तो अभ्यास असंभव है। इन दोनों प्रतिवादों के प्रत्युत्तर में शंकर ने जो तर्क उपस्थित किये हैं वे सन्तोष-जनक नहीं हैं। पहले प्रतिवाद के लिये वह कहता है कि आत्मा अविषय नहीं है क्योंकि वह "अहं" की चेतना का विषय है।[६] परन्तु वस्तुतः यह वह आत्मा नहीं है जो कि शंकर के वेदान्त दर्शन में एकमात्र सत्य मानी गई है। अतः शंकर ने आगे कहा है, "अन्तरंग आत्मा के साक्षात्कार की सहजता के कारण" आत्मा को जाना जाता है।

"अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्म प्रसिद्धः।"[७]

परन्तु फिर यह आत्मा का विषयी के रूप में ज्ञान है और इस कारण प्रतिवाद का उत्तर तो न हो पाया। शंकर ने अपने पक्ष में एक और तर्क उपस्थित किया है। वह कहता है, और "ऐसा कोई नियम नहीं है कि एक वस्तु केवल एक अन्य वस्तु पर आरोपित की जाय जोकि हमारे सन्मुख उपस्थित हो।"[८] परन्तु यदि शंकर का यह मत मान लिया जाय तो अध्यास की दोनों परिभाषाएँ छोड़नी पड़ेंगी क्योंकि दोनों में ही एक वस्तु के दूसरे पर आरोप की बात कही गई है। शंकर अपने मत को आगे यह कहकर स्पष्ट करना चाहता है कि अप्रत्यक्ष होते हुये भी अविचार शील लोग ही बाह्य अपवित्रता इत्यादि का आरोप करते हैं। परन्तु यहाँ पर यह बात विचारणीय है कि यद्यपि हम आकाश को नहीं देखते तथापि हम अनुभव के द्वारा उसकी सत्ता का अनुमान कर लेते हैं और इस कारण यह उपमा केवल तभी प्रामाणिक हो सकती है जबकि अनात्मा की उपस्थिति भी अनुभव साध्य मानी जाय। इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकर का अभ्यास का

---

४. वही

५. वही, भूमिका।

६. "अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्"—शंकर भाष्य १, १, १

७. वही

८. वही

सिद्धान्त तर्क के सामने नहीं टिकता चाहे मानसिक भूल की व्याख्या करने में उसका कुछ भी महत्व हो। जगत की सत्ता के अनुभव को केवल तभी अध्यास कहा जा सकता है जबकि मानस ही सृष्टा हो और इस विकल्प की हम पीछे पर्याप्त आलोचना कर चुके हैं।

अब हमको शंकर के माया के सिद्धान्त की परीक्षा करनी चाहिये। अद्वैत के तर्क के अनुसार एकता और अनेकता दोनों समान रूप से सत्य नहीं हो सकतीं। "यदि एकता और अनेकता दोनों ही वास्तविक होतीं तब हम सांसारिक दृष्टिकोण वाले को यह नहीं कह सकते थे कि वह असत्य में फँस गया है।"[९] जाग्रत अवस्था की वस्तुओं को स्वप्नों की वस्तुओं से पृथक् करते हुये शंकर ने कहा है कि जहाँ तक वे चेतना की विषय हैं वहाँ तक दोनों सत्य हैं।

'दृष्यत्वम् असत्यत्वं च अविशिष्ट उभयम्':[१०] सद् वह है जोकि सब समय उपस्थित है (त्रैकालिकाद्यबाध्यत्वम्)। वह सद् है जोकि था, है और होगा (काल-त्रय सत्तावत्) जगत असद् कहा गया है क्योंकि वह यथार्थ ज्ञान द्वारा बहिष्कृत किया गया है (ज्ञानैकनिवर्त्यत्वम्)।[११] उच्चतर का ज्ञान निम्न को अयथार्थ जानकर परित्याग कर देता है। जो कुछ है वह संभूति है जोकि "अर्थ क्रियाकारी" होने के कारण न सद् है न असद्। जो कुछ ब्रह्म से भिन्न है वह असद् है। "जगत न तो है और न नहीं है अतः उसकी प्रकृति अनिवर्चनीय है" (तत्वान्यत्वभ्याम अनिवर्चनीया)। जबकि वह "सद्सद्विलक्षण" है, वह सदसदात्मक भी है। इस प्रकार कान्ट के समान शंकर ने संभूति को सद्वस्तु का एक विकल्प मात्र माना है (विकल्पो हि वस्तुः)। "सद् का असद् से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है।" "नहि सदसतो सम्बन्धः"[१२] जगत "जैसे तैसे" अस्तित्वमय है क्योंकि उसका ब्रह्म से सम्बन्ध अनिवर्चनीय है। शंकर गौड़पाद के अजाति अथवा अविवर्तन के सिद्धान्त से सहमत है। जगत विकसित अथवा उत्पन्न नहीं है परन्तु सीमित दृष्टिकोण के कारण ऐसा प्रतीत होता है।

शंकर ने अनेक प्रकार के उदाहरण दिये हैं जैसे सर्प और रज्जु, सीप और रजत, मरुस्थल और मृगतृष्णा इत्यादि। इन उदाहरणों का प्रयोग करके उसने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि ब्रह्म पर जगत का कोई प्रभाव नहीं है यद्यपि जगत उस पर, आरोपित है। यह एक रूपान्तर नहीं है क्योंकि कारण और कार्य भिन्न-भिन्न हैं। वह तो विवर्त है इस प्रकार माया न तो सद्रूपा है न असद्रूपा और न उभयात्मक ही। वह सद्सद् है और वह कारण अनिवर्चनीय है

९. वही, २, १, १४

१०. गौड़पाद कारिका, शांकरभाष्य, २,४,

११. शांकर भाष्य, ३, २, ४

१२. माण्डूक्य उपनिषद, शांकर भाष्य, २,७

तथा सनातनी होने पर भी मिथ्या है।[13] यह ध्यान रहे कि शंकर ने जगत को स्वप्न मानने के विचार का विरोध किया है और प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक स्तरों में स्पष्ट भेद किया है। माया न तो ब्रह्म के समान सद् है और न आकाश कुसुम के समान असद्। वह ब्रह्म से निकल कर संसार की सृष्टि करती है। वह अविद्या भी कहलाती है। वह ईश्वर की सृजन-शक्ति है और उसमें ही है। वह जगत की रचना में अनश्वर, जड़ आधार है।[14] इस प्रकार शंकर समस्त परिवर्तन गति, विवर्तन तथा विविधता को मिथ्या एवं अज्ञान मात्र मानकर परित्याग कर देता है।

बाद के अद्वैतवादियों ने शंकर से एक कदम और भी आगे जाकर जगत को विषयीगत मान लिया है। हमारी चेतना जगत के विषयों की सृष्टि करती है और विषय-विषयी सम्बन्ध के समाप्त होते ही समाप्त हो जाती है, यह मानमर चित-सुखी, अद्वैतसिद्धान्तमुक्तावली और योगवाशिष्ठ के प्रणेता दार्शनिकगण एक प्रकार के एकजीववाद पर आ जाते हैं। यह मायावाद की स्वाभाविक चरम परिणति है। परिवर्तन, विकास और वैयक्तिकता अनुभवसिद्ध सत्य हैं और किसी भी सूक्ष्म तर्क द्वारा उनका अनस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। अव्यभिचार का नियम असीम के विषय में लागू नहीं होता। ब्रह्म जगत में अपनी अभिव्यक्ति में न तो सीमित है और न विभाजित। शंकर ने जगत को अविद्यामूलक बतलाया है परन्तु अविद्या के कारण को नहीं समझाया। जगत में अज्ञान अवश्य है परन्तु इसी अज्ञान की विवेचना करना ही तो दर्शन का कार्य है। यहाँ पर किसी भी सिद्धान्त की प्रामाणिकता सर्वांग अनुभव से जाँची जा सकती है। अनुभव की सर्वांगीणता की परीक्षा उसकी सर्वग्राही सामंजस्यकारी प्रकृति है। परम "क्यों" की सभी व्याख्यायें स्वभावतया ही सर्वांग अनुभव का वर्णन मात्र होंगी। हमारा ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना सर्वथा उचित है और इस कारण वस्तुओं की सामान्य व्यवस्था के अनुकूल कोई भी व्याख्या प्रामाणिक भी होगी और संभव भी। माया का सिद्धान्त उस सर्वांग अनुभव में फिट नहीं बैठता जोकि किसी का भी बहिष्कार नहीं करता बल्कि सभी को स्वीकार करता और संश्लिष्ट करता है। दर्शन केवल सामान्य बुद्धि नहीं है। वह वस्तुओं की परम प्रकृति की व्याख्या करता है और यदि पारमार्थिक दृष्टिकोण से संसार मिथ्या है तो कितने भी सूक्ष्म तर्क देने पर भी वह यथार्थ रूप में भी मिथ्या ही कहा जायेगा। यह ध्यान रहे कि जिस अव्यभिचार के नियम को शंकर ने इतना अधिक महत्व दिया है

---

१३. "न सदरूपा नासदरूपा माया नैवो उभयात्मिका।
सदसदाभ्याम् अनिर्वाच्य मिथ्या भूता सनातनी॥"
सूर्य पुराण, शांकर भाष्य में उधृत, १,२६

१४. विवेक चूड़ामणि, पृष्ठ १०८

उसी का प्रयोग करके नागार्जुन ने समस्त जगत की असत्यता सिद्ध कर दी है। वस्तुतः केवल तार्किक और पूर्णतया निषेधात्मक मत सद्वस्तु के एकांगी स्वरूप पर ही पहुँच सकता है। परन्तु उपनिषदों के सर्वांग दर्शन में, जिस पर शंकर अपने मत को आधारित करने का दावा करता है, नकारात्मक और स्वीकारात्मक दोनों ही प्रणालियों का प्रयोग किया गया हैं। शंकर का यह तर्क अधिक सार्थक नहीं है कि संभूति कभी भी सत् पर नहीं पहुँचती क्योंकि अनुभव के सत्य के रूप में संभूति स्वयं सत् की संभूति है। जो कुछ ब्रह्म से भिन्न है वह मिथ्या है, परन्तु फिर जो कुछ है वह सब ब्रह्म ही होना चाहिये। यदि कोई ऐसा तत्व है जो ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी अनुभव का विषय है तो हम एक प्रकार के द्वैत पर आ जाते हैं। एक सर्वांग निरपेक्ष सद्वस्तु को सब प्रकार के अनुभवों के लिये स्थान पाना चाहिये। यदि ब्रह्म एक बाजीगर मात्र नहीं है,[१५] तो समस्त सृष्टि यथार्थ और उससे ही सम्बद्ध होनी चाहिये। निरपेक्ष और जगत के सम्बन्ध की अनिवर्चनीयता के विषय में शंकर के तर्क बाह्य सम्बन्धों के विचार पर आधारित हैं। जैसा कि ब्रैडले ने यथार्थ ही संकेत किया है, निरपेक्ष के अन्तर्गत समस्त सम्बन्ध अन्तरंग और अवयवीय हैं। विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में नवीनतम विकसित सिद्धान्तों ने विकास और परिवर्तन के सत्य को दृढ़तापूर्वक स्थापित कर दिया है। शंकर के दर्शन में तर्क और अनुभव में स्पष्ट संघर्ष है। मानव सदैव ही दार्शनिक से अधिक होता है और शंकर में इन दोनों में सतत द्वन्द्व है। मानव के रूप में शंकर अपने दर्शन में प्रत्येक प्रकार के अनुभव के लिये स्थान देने को उत्सुक है परन्तु वस्तु जगत का स्थिर तर्क जिसको कि वह सर्वोच्च मानता है सब कहीं अनुभव को छिन्न-भिन्न कर देता है और अन्त में उसका दर्शन एकांगी रह जाता है।

इसी प्रकार यद्यपि शंकर का सृष्टा का सिद्धान्त विरोधी सिद्धान्तों की विस्तृत आलोचना के पश्चात् स्थापित हुआ है तथापि वह यह भूल जाता है कि एक से अनेक की उत्पत्ति के लिये दोनों में एक मध्यस्थ की आवश्यकता होती है। ससीम का निर्माण करने वाली ईश्वरीय शक्ति, हमारा वस्तु जगत जिसका परिणाम है, स्वयं ईश्वर नहीं बल्कि उसका एक अंश मात्र है क्योंकि यदि ऐसा हो, तो ईश्वर केवल गतिशील ही हो जायेगा। इसी अर्थ में वेदों के दृष्टा ऋषियों ने माया पर विचार किया है। उनके लिये माया असीम सत्ता के विशाल असीम सत्य में से नाम और रूप की उत्पत्ति करने के लिये असीम चेतना की एक शक्ति थी। यदि शंकर का मायावाद सत्य है तो मनुष्य आत्मा और जड़ पदार्थ, स्वर्ग और भूतल, शुभ और अशुभ, ज्ञान और अज्ञान के एक सतत् द्वैत-

---

१५. "सतत भ्रान्तियों का एक सर्वव्यापी कारण नहीं बल्कि एक सर्वव्यापी सद्वस्तु ही ब्रह्म है।"
—श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग १, पृष्ठ ३८

वाद में रह जाता है। मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के आशावाद और निराशावाद समान रूप से सत्य और असत्य हैं।

सांख्य का द्वैतवाद

सांख्य दर्शन के अनुसार परम सद्वस्तु द्वय, चेतन और अचेतन, स्थिर और गतिशील, आध्यात्मिक और जड़, विश्वातीत और विश्वगत, सर्वातिशायी और अन्तरंग है। पहली पुरुष कहलाती है और दूसरी प्रकृति। पुरुष भोक्ता, दृष्टा, चेतन, मुक्त, निर्गुण और स्थिर है। दूसरी ओर प्रकृति मुक्त, दृश्य, अचेतन, सगुण और गतिशील है। पुरुष और प्रकृति के स्वभाव एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हैं और सच तो यह है कि इसी कारण उनको परस्पर सम्बन्धित करने के सांख्य दार्शनिकों के समस्त प्रयत्न कृत्रिम प्रतीत होते हैं और तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को समझाने के लिये सांख्य मत 'अन्धपंगुवत्' की उपमा देता है। अन्य स्थान पर लौह और चुम्बक का उदाहरण दिया गया है। परन्तु जैसा कि शंकर ने संकेत किया है, वह सांख्य की इस मौलिक मान्यता के सर्वथा विरुद्ध है कि प्रकृति स्वभावतया ही गतिशील है। पहली उपमा में क्योंकि पुरुष स्थिर है और प्रकृति अचेतन अतः उनमें किसी भी प्रकार का आदान-प्रदान संभव नहीं है। अथवा जैसा कि ब्रैडले ने कहा है पृथक्-पृथक् वस्तुएँ केवल एक पूर्ण में ही मिल सकती हैं। प्रशस्तपाद के अनुसार प्रकृति, जोकि स्वभावतया ही क्रियाशील है, स्थिर नहीं रह सकती। सांख्य दार्शनिक के अनुसार "प्रकृति से अधिक नम्र और कोई नहीं है जोकि यह जानने पर कि वह देखी जा चुकी है वह पुनः स्वयं को पुरुष की दृष्टि के सन्मुख नहीं करती।"[१६] परन्तु अचेतन प्रकृति यह किस प्रकार जान सकती है कि पुरुष ने उसकी ओर देखना बन्द कर दिया है? पुनः सांख्य के अनुसार "जैसे ही वह यह जान जाती है कि उसकी उपस्थिति पुरुष के लिये हानिकारक है एक शुभचिन्तक कुलवधू के समान वह दूर हट जाती है।"

"दोषबोधोऽपि नोपसमर्पणं प्रधानात्कुलवधूवत्।"[१७]

यह उपमा भी अचेतन प्रकृति के तरीकों को समझाने में अनुपयुक्त है। ईश्वर कृष्ण के अनुसार पुरुष का प्रयोजन ही प्रकृति के विकास का एकमात्र कारण है। परन्तु यह समझना कठिन है कि नित्य मुक्त आत्मा किस प्रकार कोई प्रयोजन रख सकती है। यदि पुरुष स्थिर चालक है और प्रकृति अचेतन तो उनके सम्बन्ध का प्रयोजन समझ में नहीं आता और समस्त विकास यांत्रिक हो जाता है। सांख्यकारिका के अनुसार "जिस प्रकार एक नर्तकी रंगमंच पर प्रगट होकर

---

१६. ईश्वर कृष्ण, सांख्य कारिका ६१

१७. वही, ५६

नृत्य करने के पश्चात् दर्शकों की उसमें रुचि न रह जाने पर नृत्य करना बन्द कर देती है उसी प्रकार पुरुष के सन्मुख अभिव्यक्त होने के पश्चात् प्रकृति स्तब्ध हो जाती है।"[१८] यह उपमा भी प्रकृति के उपयुक्त नहीं है क्योंकि प्रकृति प्रयोजन-हीन है। फिर, पुरुष की उपस्थिति मात्र किस प्रकार प्रकृति में कोई गति उत्पन्न कर सकती है जबकि दोनों एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं।

सांख्य के अनुसार प्रकृति के विकास के लिये उसका पुरुष से सामीप्य आवश्यक है, परन्तु यदि प्रकृति स्वभाव से ही गतिशील है तो पुरुष से स्वतन्त्र उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। श्री अरविन्द के शब्दों में, "सत् और उसकी चेतना शक्ति, पुरुष और प्रकृति मौलिक रूप में द्वय नहीं हो सकते। जो कुछ प्रकृति करती है वह वास्तव में पुरुष द्वारा ही किया जाता है।"[१९] मायावाद के समान ही सांख्य भी अज्ञान के मूल की कोई विवेचना नहीं करता। वास्तव में सच तो यह है कि अब तक बतलाई गई सांख्य की समस्याएँ एक सर्वांग अद्वैत के आधार पर ही दूर हो सकती हैं। एक निरपेक्ष द्वैतवाद स्वयं अपनी समुचित व्याख्या करने में असफल होता है। समस्त सीमित कारण एक परम कारण पर आधारित होते हैं। पुरुष और प्रकृति निरपेक्ष सत्ता की दो विभिन्न अवस्थिति मात्र हैं।

लाइबनित्ज़ का बहुतत्ववाद

लाइबनित्ज के अनुसार संसार अगणित चिद् बिन्दुओं (Monads) से बना है। ये चिद्-बिन्दु विभिन्न प्रकार के हैं सुप्त, स्वप्नमय और जाग्रत। भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक में कोई निरपेक्ष भेद नहीं है बल्कि एक यथार्थ अवि-च्छिन्नता है। ऐसा नहीं है कि एक ही चिद् बिन्दु में किसी भी प्रकार से विकसित हो जाने की सामर्थ्य है। समस्त अन्तर अभिव्यक्ति का अन्तर है। चिद् बिन्दु अविभाज्य होते हुए भी गतिशील हैं। वे रूप और पदार्थ, गति और निष्क्रियता दोनों हैं। चिद् बिन्दु शक्ति के संग्रह की इकाई हैं। उनमें समस्त जगत का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता है। वे गवाक्षहीन (Windowless) हैं और अन्तर से विकसित होते हैं। वे समस्त जगत की एक सूक्ष्म प्रतिच्छ्या (Micro cosm) हैं।

अन्य सभी बहुतत्ववादियों के समान लाइबनित्ज को भी एक और अनेक के सम्बन्ध की समस्या का सामना करना पड़ा क्योंकि सामंजस्य सत्ता का सार है। यदि चिद् बिन्दु गवाक्षहीन हैं तो वे कैसे एक ही जगत का अनुभव करते हैं? लाइबनित्ज का पूर्व-निर्धारित सामंजस्य (Pre-established Harmony) का नियम जगत की एकता की व्याख्या नहीं करता। वह केवल अगणित समान रूप

---

१८. वही, ६०

१९. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ४७

जगतों की संभावना बतलाता है। यह माना जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति संसार को अपने ही दृष्टिकोण से देखता है परन्तु विभिन्न व्यक्तियों के अनुभव के पारस्परिक घनिष्ठ आदान-प्रदान से एक सामान्य जगत के अनुभव के सत्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। व्यक्तिगत रूप से अद्वितीय चिद्बिन्दुओं में किसी सामान्य तत्व की अनुपस्थिति में पूर्व निर्धारित सामंजस्य का नियम चिद्बिन्दुवाद की समस्याओं को ढँकने के लिये एक आवरणमात्र है। अविच्छिन्नता का नियम तात्विक तादात्मय चाहता है। समस्त विविधता अभिव्यक्ति की समृद्धिशीलता के कारण है।

नागार्जुन का शून्यवाद

नागार्जुन सर्वप्रथम प्रत्येक वस्तु को सम्बन्धों में परिवर्तित कर देता है और फिर अपने चतुष्कोटि न्याय द्वारा इन सम्बन्धों की अबुद्धिग्राह्यता सिद्ध करके यह दिखलाता है कि निरपेक्ष रूप से कुछ भी सत्य नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि-कोण से कुछ भी नहीं है, स्वयं आध्यात्मशास्त्र भी नहीं। शंकर के अनुसार ब्रह्म और जगत का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। नागार्जुन इस निश्चय पर पहुँचता है कि दोनों ही समान रूप से असद् और अस्तित्वहीन हैं।

परन्तु यह शुद्ध द्वन्द्वात्मक मत अनुभव पर आधारित ज्ञान का खण्डन नहीं कर सकता। सभी प्रतीतियाँ किसी सद्वस्तु की प्रतीतियाँ होनी चाहियें। शून्य से कुछ नहीं उत्पन्न हो सकता। नागार्जुन के शून्य के समान परम निषेध में जगत की व्याख्या नहीं पाई जा सकती। वास्तव में जो कुछ मानस को एक शून्य मात्र प्रतीत होता है वही चेतना के द्वारा एक असीम सम्पूर्ण ज्ञात होता है। सत उतना ही यथार्थ है जितना कि असत्। श्री अरविन्द के शब्दों में, "यह स्वयं में एक कोरी शून्यता मात्र नहीं है क्योंकि एक शून्य निरपेक्ष निरपेक्ष नहीं है। हमारा एक शून्याकाश अथवा शून्य का प्रत्यय उसको जानने अथवा समझने का हमारी मानसिक असमर्थता का एक प्रत्ययजन्य चिह्न मात्र है।"[२०]

श्री अरविन्द का सर्वांग मत

जगत शक्ति का क्रीड़ा है

श्री अरविन्द के अनुसार विश्व, असीम देश और नित्य काल में स्वयं को उड़ेलती हुई असीम अस्तित्व, असीम गति और अपरिमित क्रिया की एक असीम शक्ति है। प्राचीन यूनानी दार्शनिक हेराक्लाइटस के सा[illegible]रविन्द [illegible] यह माना है कि जगत एक शक्ति की सृष्टि है। विज्ञान, दर्शन, बुद्धि और [illegible]

२०. वही, पृष्ठ ४२१

द्वारा इस सत्य का समान रूप से समर्थन किया गया है। एक असीम चेतना-शक्ति समस्त वस्तुओं की सृष्टा, पालक और नाशक है। गुण और मात्रा में भेद केवल इस शक्ति के एकत्रीकरण की तीव्रता की विभिन्नता के कारण है। वह चेतना शक्ति अविभाज्य है और मानसिक चेतना के समान प्रत्येक वस्तु में स्वयं के एक समान अंश में नहीं बल्कि प्रत्येक वस्तु में एक साथ और एक ही समय में पूर्ण रूप से उपस्थित है। "क्रिया की शक्ति का रूप, प्रणाली और परिणाम अगणित प्रकार से परिवर्तित होता रहता है परन्तु नित्य, मौलिक, असीम शक्ति सब में वही है।"

शक्ति का स्वभाव

यह चेतना निश्चय ही साधारण बाह्य चेतना मात्र नहीं है क्योंकि जैसा कि मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों ने भली प्रकार दिखा दिया है, चेतना अचेतन की गहन पर्तों में छिपी शक्तियों का एक नगण्य अंश मात्र है। चेतना मानसिक नहीं है यद्यपि केवल मानव ही आत्म चेतन है। यहाँ पर गहन निद्रा का विश्लेषण करते हुये शंकर का चेतना और आत्मा चेतना का अन्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आत्म चेतना चेतना का एक पहलू मात्र है जोकि नित्य है और जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में रहती है। चेतना के जड़ पदार्थ से निकलने का सिद्धान्त वर्तमान काल में खण्डित किया जा चुका है। "चेतना मस्तिष्क का प्रयोग करती है जिसको कि उसकी उर्द्धोन्मुखी प्रवृत्तियों ने उत्पन्न किया है मस्तिष्क ने चेतना नहीं उत्पन्न की है और न ही वह उसका प्रयोग करता है।"[२२] यौगिक चमत्कार असामान्य मनोविज्ञान तथा परा मनोविज्ञान में आधुनिक अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि चेतना के लिये साधन अपरिहार्य नहीं है।

यह चेतना सब कहीं उपस्थित है। सर जगदीशचन्द्र वसु के प्रयोगों ने एक वैज्ञानिक आधार पर पौधों में चेतना की उपस्थिति सिद्ध कर दी और यह आशा करने के अनेक कारण हैं कि और भी अधिक सूक्ष्म यन्त्र उपलब्ध होने पर यह धातुओं के विषय में भी सिद्ध किया जा सकेगा। सभी विज्ञान इस मान्यता पर आधारित हैं कि प्रकृति में भी व्यवधान नहीं हैं। "विचार को वहाँ पर एकता मान लेने का अधिकार है जहाँ पर वह एकता प्रतीतियों के अन्य सभी वर्गों द्वारा मानी गई है और केवल एक वर्ग में निषेध नहीं की गई बल्कि केवल दूसरों की अपेक्षा अधिक छिपी हुई है।"[२३] वस्तु जगत की व्यवस्था में आवश्यक प्रत्येक वस्तु अस्तित्व रखती है यदि उसके अस्तित्व का तथ्यों से न तो निषेध होता है और न पुष्टि होती है। शुद्ध तर्क अपने निर्णयों की प्रामाणिकता के लिये एक अनुभव-पूर्व निश्चितता रखता है।

---

२१. वही, भाग १, पृष्ठ ८८

२२. वही, पृष्ठ १०३

२३. वही, पृष्ठ १०६

वज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक सभी ज्ञान ज्ञात से अज्ञात की ओर जा सकता है। अविच्छिन्नता यथार्थ भेदों के विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार की छलांग की महत्ता में एक आस्था सभी दार्शनिक चिन्तन के मूल में है। यही जगत में कार्य करने वाली शक्ति के सभी रूपों में चेतना के अस्तित्व के श्री अरविन्द के विचार की प्रामाणिकता है।

देश और काल

इस प्रकार "देश रूप और विषयों को एकत्रित रखने के लिये विस्तृत ब्रह्म होगा। काल रूप और विषयों को ले जाते हुये आत्मशक्ति की गति के विस्तार के लिये आत्मविस्तृत ब्रह्म होगा। तब दोनों ही विश्वगत चिरंतन की एक ही आत्माभिव्यक्ति के दो पहलू होंगे।"[२४] काल का स्तर चिरंतन की नित्यता है और देश का असीम की अपरिमितता। नित्यता के अनुसार सत् की तीन विभिन्न अवस्थायें हैं। कालातीत नित्यता, काल की सर्वांगता और काल की गति। परन्तु यह सभी एक ही नित्यता है। काल और कालातीत, परिवर्तन और स्थिरता काल में घटनायें नहीं हैं। सत्ता के मौलिक तत्व सनातन में सदैव उपस्थित रहते हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार देश और काल संबोधि के रूप नहीं हैं, न ही वे निरपेक्ष सत्ताएँ हैं और न केवल सम्बन्धों के रूप हैं। देश काल विषयक आधुनिक चतुर्आयामात्मक (Four-dimensional) सिद्धान्त के साथ श्री अरविन्द देश और काल को ताने-बाने के समान परस्पर गुँफित मानते हैं। परम सत्य चेतना के लिये काल एक नित्य वर्तमान है और देश एक अविभाज्य आत्मगत विस्तार। यह सिद्धान्त आधुनिक भौतिकशास्त्र के देश काल सिद्धान्त का विरोधी नहीं है बल्कि उससे भी आगे जाता है। भौतिकशास्त्र में सापेक्षता (Relativity) और परिमाण (Quantum) के सिद्धान्तों ने यह भली प्रकार दिखला दिया है कि इस समृद्ध जगत की विवेचना करने के अन्तिम शब्द विज्ञान के पास नहीं हैं। हीसेनबर्ग के अनियंत्रितता के सिद्धान्त (Principle of indeterminacy) ने विज्ञान में प्राचीन काल से स्थिर कार्यकारण के नियम का खण्डन कर दिया है और उसके स्थान पर एक संभावना (Probability) का मापदण्ड रख दिया है। इसी बात को आइन्सटाइन ने विश्व भौतिकशास्त्र (Macrophysics) के क्षेत्र में सिद्ध किया है। इस प्रकार आधुनिक भौतिक शास्त्र एक बल शक्ति (Energy-force) के सिद्धान्त पर पहुचता है जिसकी गतिविधियाँ यांत्रिक रूप से निश्चित नहीं हैं। सेमुअल अलैक्जैण्डर उसी को अपने दर्शन का आधार बना लेता है। श्री अरविन्द का दर्शन इससे आगे बढ़ा है और उसमें अलैक्जैण्डर की समस्याओं को हल किया गया है। विज्ञान के असीम देशकालात्मक जगत के आधार में श्री अरविन्द ने एक

---

२४. वही, भाग २, पृष्ठ १०७

अनिर्वचनीय असीम और देश कालातीत सत्ता की ओर संकेत किया है। तन्त्र के साथ श्री अरविन्द ने शिव और काली, सत् और संभूति दोनों को माना है। उसने भौतिकवाद और प्राणवाद को समान रूप से एकांगी मानकर छोड़ दिया है। ब्रह्म और माया परम सद्वस्तु के समान रूप से यथार्थ पहलू हैं। विकासवाद का सिद्धान्त यह दिखलाता है कि किस प्रकार प्रकृति, जोकि अपने प्रारम्भिक रूप में अचेतन है, क्रमशः चेतन और आत्मचेतन स्तरों पर विकसित होती है। यदि प्रकृति पूर्णतया अचेतन है तो उससे महत और अहंकार कैसे निकलते हैं? जो कुछ विवर्तित होता है वह निवर्तित भी होना चाहिये और इस कारण प्रकृति की अचेतनता केवल एक आवरण मात्र है जिसको वह क्रमशः हटाती है। श्री अरविन्द के अनुसार सांख्य सिद्धान्त के पीछे मूल विचार आत्मा और प्रकृति का बाह्य रूप से विरोधी स्वभाव है परन्तु यह द्वैत अन्तिम नहीं है।[२५] आत्मा और आत्मा, आत्मा और प्रकृति निरपेक्ष सत्ता में दोनों की एकता है। पुरुष और प्रकृति केवल तभी सम्बन्धित हो सकते हैं जबकि वे एक ही सद्वस्तु के भिन्न-भिन्न पहलू हों।

परन्तु शंकर के दर्शन जैसा एक निषेधात्मक अद्वैत सांख्य की समस्याओं का कोई हल नहीं है। शंकर के अध्यासवाद के विरुद्ध श्री अरविन्द ने एक "विश्वगत यथार्थवाद" की स्थापना की है। शंकर के समान ही उसने जगत की असत्यता को समझाने के लिये स्वप्न की उपमा के प्रयोग का विरोध किया है। स्वप्न भी असद् नहीं हैं। केवल अन्य अवस्थाओं द्वारा उनके निषेध के आधार पर उनका परित्याग नहीं किया जा सकता। निर्वाण का अनुभव संसार के अनुभव की असत्यता को सिद्ध नहीं करता जैसा कि शून्यवादी भूल से मान लेते हैं। न तो स्वप्न और न जीवन ही असत्य है। अपने पक्ष की पुष्टि के लिये श्री अरविन्द ने स्वप्न का एक महत्वपूर्ण विश्लेषण उपस्थित किया है। यहाँ तक वह शंकर से सहमत है। परन्तु फिर वह पारमार्थिक दृष्टिकोण से जगत के मिथ्यात्व के सिद्धान्त का विरोध करता है स्थिरता का सत्य साथ ही साथ उपस्थित परिवर्तन के सत्य का निषेध नहीं करता। व्यावहारिक और आध्यात्मिक सत्यों में कोई निरपेक्ष खाई नहीं है यद्यपि आध्यात्मिक स्तर निश्चय ही व्यावहारिक से उच्चतर है। श्री अरविन्द ने सिद्ध किया है कि किस तरह शंकर द्वारा प्रयुक्त घट आकाश, सर्प रज्जु, मृगतृष्णा, रजत सीप; इत्यादि की उपमाएँ दूसरे पर आरोपित वस्तु के अस्तित्व की पूर्वमान्यता पर आधारित हैं और इस कारण संसार की असत्यता को सिद्ध नहीं करतीं। मानस यथार्थ अनुभव से ही अयथार्थ मानसिक प्रतिमाएँ बनाता है। सद् सत की सद्शक्ति द्वारा उत्पन्न वस्तुएँ स्वयं भी सद् होनी चाहिएँ। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "चेष्टा, गति, क्रिया, सृष्टि में जो कुछ है वह ब्रह्म

२५. वही, पृष्ठ ६७

है; संभूति सत् की एक गति है; काल सनातन की एक अभिव्यक्ति है।"[२६] माया के सृष्टा के रूप में ईश्वर, यथार्थ प्रतीतियों के रूप में संसार और मोक्ष की खोज करते हुए व्यक्ति असद् नहीं हो सकता।

कान्ट और बुद्ध तर्क तक सीमित रहते हैं, शंकर ने तर्क और संबोधि के संघर्ष को बनाये रखा हैं, श्री अरविन्द ने स्वयं संबोधि में ही तर्क के लिये स्थान पाया है। भौतिक जगत का निषेध करने वाला दर्शन हमारे युगधर्म के विरुद्ध है। हमारे युग के दर्शन को यहीं और अभी हमारी समस्याओं का हल निकालना चाहिये, उनको असद् अहकर छोड़ न देना चाहिये। आज हमें चिरंतन सत्य के विविध रूपों को हमारे युग की माँगों के अनुसार नया जामा पहनाना होगा। यहीं पर श्री अरविन्द का दर्शन शंकर तथा अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है। वह केवल आध्यात्मशास्त्र की ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की समस्याओं को भी हल करता है। उसमें व्यावहारिक और आध्यात्मिक के बीच की खाई को भर दिया गया है। भौतिकशास्त्र वस्तु जगत के रहस्यों का उद्घाटन करता है। मनोविज्ञान मानव के व्यवहार और अन्तर्जगत का अध्ययन करता है। आध्यात्मशास्त्र को इन सभी के तथ्यों का एक उच्चतर सत्य में समावेश करना चाहिये। श्री अरविन्द का दर्शन हमारे युग में ज्ञान विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के सत्य का निरोध नहीं करता बल्कि सद्वस्तु के एक सर्वांग दर्शन में उन सबको समाहित करके उनकी व्याख्या करता है। मायावाद सृष्टि की समस्या का कोई सुलझाव नहीं है। वह ग्रन्थियों को सुलझाता नहीं बल्कि उनकी उपेक्षा करता है। दार्शनिक समस्याओं के एक यथार्थ हल को ईश्वर, जगत और व्यक्ति के सत्यों की व्याख्या ही नहीं करनी है बल्कि उनको एक सर्वांग पूर्ण में बाँधना भी है। अपने सृष्टि के सिद्धान्त में श्री अरविन्द ने केवल अन्य सिद्धान्तों की सीमाएँ ही नहीं दिखलाई हैं बल्कि उनके सत्यों को भी माना है। अस्तित्व, चेतना और आनन्द के दृष्टिकोण से जगत क्रमशः माया, प्रकृति और लीला है। अतः जगत के एक सर्वांग दर्शन के लिये ये सभी एक ही सत्य के विभिन्न पहलू हैं। श्री अरविन्द के अनुसार जगत केवल माया और प्रकृति ही नहीं बल्कि लीला भी है।[२७]

त्रिविध अभिव्यक्ति

श्री अरविन्द के अनुसार जगत अतिमानस चैतन्य की विविध एकाग्रता का परिणाम है। सृष्टा अतिमानस में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का अन्तर नहीं है। इस

---

२६. वही पृष्ठ २०२

२७. "लीला क्रीड़ा, बालक का आनन्द, कवि का आनन्द, अभिनेता का आनन्द, चिरयौवनमय, सदैव अणुण्ण वस्तुओं की आत्मा से यन्त्रकार का आनन्द, उस आत्म-सृष्टि और उस आत्माभिव्यक्ति के आनन्द मात्र के हेतु स्वयं को स्वयं में पुनः पुनः उत्पन्न करते हुये स्वयं क्रीड़ा, स्वयं खिलाड़ी और स्वयं ही क्रीड़ास्थल है।" —श्री अरविन्द : वही, पृष्ठ १२४

सन्तुलित एकाग्रता से भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक सत्ता की सृष्टि केन्द्रीकरण, चेतना की एक असमान एकाग्रता और शक्ति के विविध विभाजन के कारण है जिसमें आत्म विभाजन अथवा उसके व्यवहारिक प्रतीति जगत का उद्‌गम है। सर्व प्रथम ज्ञाता स्वयं को ज्ञान में विषयी के रूप में एकाग्र रखता है और अपनी चैतन्य शक्ति को अपने रूप में अपने से सतत् अभिव्यक्त होती हुई, उसमें कार्य करती हुई, स्वयं में वापस लौटती हुई और फिर पुनः प्रकट होती हुई पाता है। फिर इससे ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान; आत्मा, माया और आत्मा की संभूति का विभाजन होता है। इसके पश्चात् चेतन आत्मा की उसके प्रत्येक रूप में पुनरावृत्ति होती है। अब, यहाँ तक अनेक की क्रीड़ा यथार्थ है। यह अतिमानस की सृष्टि है। वह मानस को सृष्टि के साधन के रूप में प्रयोग करता है। अतः कुछ आगे बढ़कर के तृतीय अवस्था में मानस अज्ञान का स्तर बन जाता है जोकि वस्तुओं में निरपेक्ष विभाजन उत्पन्न करता है। इस प्रकार अतिमानस की जगत की स्थापना करने वाली चेतना की तीन अवस्थाएँ हैं। "प्रथम वस्तुओं की स्वाभाविक एकता की स्थापना करती है; द्वितीय अनेक की एक और एक की अनेक में अभिव्यक्ति के लिये उस एकता में संशोधन करती है; तृतीय एक विविध व्यक्तित्व के विकास के लिये जोकि अज्ञान की क्रिया के कारण हममें निम्न स्तर पर एक पृथक् 'अहं' का भ्रम बन जाता है, उस अवस्था को और भी संशोधित करती है।"[२८] परन्तु फिर भी, प्रथम सच्चिदानन्द की चेतना का शुद्ध एकीभूत रूप नहीं है क्योंकि वह देश काल से परे है और केवल बीज रूप में ही जगत को धारण करती है। दूसरी ओर वह सच्चिदानन्द की एक सर्वग्राही, सर्वाधिकारी और सर्वविधायक समान आत्माभिव्यक्ति है। परन्तु वहाँ कोई वैयक्तिकरण नहीं है। वह चेतन पुरुष की यथार्थ क्रीड़ा है। ये तीनों अवस्थाएँ एक ही सत्य पर कार्य करने की विविध पद्धतियाँ हैं। परस्पर विरुद्ध सृष्टि के सिद्धान्तों की समस्यायें इनमें से किसी एक पर विशेष बल देने के कारण उत्पन्न होती हैं। श्री अरविन्द का अतिमानस की विविध अवस्थाओं का विचार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत के सिद्धान्तों में एक समीचीन सामंजस्य प्रस्तुत करता है। यह स्मरणीय है कि श्री अरविन्द ने एक उच्चतर और निम्नतर माया, एक उच्च और निम्न प्रकृति में स्पष्ट भेद किया है। वैयक्तिकता की तृतीय अवस्था स्वयं अज्ञान नहीं है यद्यपि अज्ञान उसका परिणाम हो सकता है। वह एक एकता में एक प्रकार का आनन्दमय द्वैत है जो कि मानस की क्रिया द्वारा अज्ञान का विशेष द्वैत बन जाता है। अतिमानस ज्ञान में ग्रहण और निरीक्षण की दोहरी शक्ति को लेकर आगे बढ़ता है। सारभूत एकता से लेकर परिणामस्वरूप अनेकता तक वह समस्त वस्तुओं को अपने अनेक पहलुओं में एक के रूप में स्वयं में आत्मसात कर लेता है और अपने संकल्प तथा

२८. वही, भाग १, पृष्ठ १७७

ज्ञान के विषयों के रूप में स्वयं में सब वस्तुओं को पृथक्-पृथक् देखता है।

माता

तन्त्र और शक्ति दर्शन के साथ श्री अरविन्द ने दैवी शक्ति को माता कहा है। यह सच्चिदानन्द की चेतना शक्ति है और सृष्टि के बहुत ऊपर है। अपने व्यक्तिगत, सार्वभौम और सर्वातिशायी, त्रिविध रूपों में वह मानव और प्रकृति में मध्यस्थता करती है, जगत की सृष्टि करती और उसको परम से जोड़ती है। इस शक्ति की चार प्रमुख धाराएँ हैं जिनका श्री अरविन्द ने माता के विभिन्न व्यक्तित्वों के रूप में वर्णन किया है यथा महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। श्री अरविन्द के शब्दों में, "महेश्वरी विश्व-शक्तियों की विस्तृत रूप रेखा को निर्धारित करती है। महाकाली उनके वेग और शक्ति का चालन करती है। महालक्ष्मी उनकी गति और यति का पता लगाती है परन्तु महा-सरस्वती उनके संगठन और कार्य के विस्तार, अंशों के परस्पर सम्बन्ध और शक्तियों के प्रभावोत्पादक संगठन तथा परिणामों और पूर्ति की अव्यर्थ यथार्थता की अध्यक्षता करती है।"[२९] इन चार मुख्य शक्तियों के अतिरिक्त माता की और भी असंख्य शक्तियाँ हैं। हमारा समृद्ध जगत अणु, परमाणु और शक्ति मात्र की असंख्य रचनाओं का परिणाम नहीं है। वह विश्वमाता की सृष्टि है जोकि केवल ऊपर से ही शासन नहीं करती बल्कि व्यक्तिगत और निर्वैयक्तिक दोनों ही रूपों में नीचे भी उतरती है। इस प्रकार श्री अरविन्द ने सृष्टि में भगवद् कृपा का समावेश किया है।

लीला

यदि हम पूर्ण सत् में प्रयोजन को मान सकते हों तो इस जगत् की पृष्ठभूमि में मूल प्रयोजन लीला है। जिस प्रकार माया के प्रत्यय में अस्तित्व के पहलू पर और प्रकृति के प्रत्यय में चेतना-शक्ति पर बल दिया गया है उसी प्रकार आनन्द के दृष्टिकोण से जगत सच्चिदानन्द की लीला है। वह दैवी पुरुष और दैवी प्रकृति की शाश्वत क्रीड़ा, शिव और काली का अमर नृत्य है। इस प्रकार श्री अरविन्द ने दैवी सत्ता की सहज आत्माभिव्यक्ति, प्रयोजनहीन- प्रयोजन और जगत के 'क्यों' की व्याख्या की है। माया और प्रकृति के सिद्धान्त दैवी सत्ता के आनन्द पक्ष की व्याख्या करने में असमर्थ है। माया और प्रकृति के पीछे परम की लीला है। वह कोई इच्छा पूर्ति की क्रिया नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर ईश्वर अपूर्ण सिद्ध होगा। परन्तु फिर भी वह कोई अर्थहीन क्रीड़ा नहीं है क्योंकि यह मानने पर भी सच्चिदानन्द दोषपूर्ण हो जाता है। सृष्टा न तो एक अपूर्ण व्यक्ति है और न

---

२९. श्री अरविन्द : द मदर, पृष्ठ ६६

जगत से परे कोई देव। जगत सृष्टा की लीला है। वह संकल्प की चेष्टा से नहीं बल्कि उसकी स्वयं की प्रकृति के कारण दैवी चेतना की एक सहज अभिव्यक्ति है।

अभिव्यक्ति

जगत, अपने विरोधी में अपना साक्षात्कार करने के लिये, सच्चिदानन्द का आत्मगोपन है। सच्चिदानन्द असीम सत्, चिद, आत्म-पालक शक्ति, आनन्द और एकता है। दूसरी ओर, जगत में हम ससीम आत्माएँ, सीमित चेतनाएँ, परमाणुओं की अव्यवस्था, सुख दुःख और तटस्थता की एक अस्त-व्यस्त गति और अन्त में शक्तियों और जीवों में असामंजस्य पाते हैं। ये दोनों ही उसके दो रूप हैं। जगत अपने विरोधी में अपना साक्षात्कार करने के लिये सच्चिदानन्द के आनन्द की अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण सृष्टि और संभूति इस आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[३०] बालक की क्रीड़ा अथवा कवि की आत्माभिव्यक्ति न तो एक प्राप्त ध्येय को प्राप्त करने के लिंये किसी योजना के अर्थ में प्रयोजनमय है और न निरर्थक के अर्थो में प्रयोजनहीन। पूर्ण सद्वस्तु गतिहीन नहीं है। गति उसमें है यद्यपि वह गति में नही है। वह स्थिर भी है और गतिशील भी है। वह काल में है और कालातीत भी है। "निर्माण करने अथवा निर्मित होने के सामान्य अर्थों में निरपेक्ष न तो सृष्टि करता है और न सृजित ही है। हम केवल सत् के जो कुछ वह सार रूप में पहले से ही है वही रूप और गति ग्रहण करने के अर्थ में ही सृष्टि की बात कर सकते हैं।"[३१] इस प्रकार श्री अरविन्द का दर्शन सृष्टि के सिद्धान्त के विरुद्ध सभी परम्परागत आक्षेपों से बच जाता है।

सृष्टा : अतिमानस

सर्वेश्वरवाद ईश्वर की आन्तरिकता पर, देववाद (Deism) उसकी अतिशयता पर और ईश्वरवाद उसके व्यक्तित्व पर यथार्थ ही बल देता है। परन्तु ये सभी मत समान रूप में एकांगी हैं। ईश्वर अन्तःस्थ ही नहीं बल्कि अतिशायी भी है, व्यक्तित्वमय ही नहीं बल्कि निर्वैयक्तिक भी है। वह मानव में भी है और जगत में भी, यद्यपि ये दोनों मिलकर भी उसको समाप्त नहीं करते। देववाद ईश्वर और जगत में एक गहरी खाई बना देता है। सर्वेश्वरवाद दोनों को एक कर देता है। श्री अरविन्द ने जगत को दैवी चेतना की एक अभिव्यक्ति माना है। दैवी सत्ता के पूर्णतया विरुद्ध प्रतीत होने वाला जड़ रूप ही अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन है क्योंकि पूर्ण निवर्तन पूर्ण विरोध में ही सम्भव है। यह

---

३०. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग १, पृष्ठ १८४

३१. वही, पृष्ठ ४७

भौतिक रूप सत्य है क्योंकि "जो कुछ सृजित है वह उसका और उसमें ही होना चाहिये और जो पूर्णतया यथार्थ के सार से बना है वह स्वयं भी यथार्थ होना चाहिये।"[३२]

ससीम की असीम द्वारा सृष्टि के लिये एक निर्देशक और सक्रिय शक्ति आवश्यक है जोकि असीम संभावनाओं में से विशेष वस्तुओं की रचना करे। परन्तु यह शक्ति मानस नहीं है। बर्कले का "प्रत्यक्ष ही सार है" का सिद्धान्त यथार्थ जगत की व्याख्या नहीं करता। तार्किक क्रम सदैव आध्यात्मिक क्रम का प्रतिनिधित्व नहीं करता क्योंकि अनुभव के विभिन्न स्तरों पर स्वयं तर्क भी परिवर्तित हो जाता है। प्रत्यक्ष का विषय होने के पूर्व किसी वस्तु का अस्तित्व ज्ञात नहीं होता, केवल इस तथ्य से यह परिणाम नहीं निकलता कि प्रत्यक्ष ही वस्तुओं का सार है। फिर टी० एच० ग्रीन का विश्व-मानस तो एक मिथ्या नाम मात्र है। मानस सत्यों को प्रतिबिम्बित करने वाला एक दर्पण है। वह अनुभव के यथार्थ तथ्यों के आधार पर कार्य करके ही सत्यों को जान सकता है। एक असीम मानस एक मानसिक सृष्टि के दोषों से परिपूर्ण जगत ही उत्पन्न करेगा। अतः हेगेल के 'रचनाशील प्रत्यय' के विरुद्ध श्री अरविन्द ने उसको 'यथार्थ-प्रत्यय' (Real-Idea) कहना पसन्द किया है जोकि "यथार्थ सत् को अभिव्यक्त करने वाली, यथार्थ सत् से उत्पन्न और उसकी प्रकृति में भाग लेने वाली चेतन शक्ति का एक प्रभाव है।" सच्चिदानन्द निरपेक्ष प्रत्यय नहीं है। वह केवल सत् और चेतन ही नहीं बल्कि आनन्द भी है।

श्री अरविन्द के अनुसार सच्चिदानन्द और विश्व, ज्ञान और अज्ञान के मध्य की कड़ी अतिमानस (Supermind) है। "हम उसे अति मानस अथवा सत्यचेतना कहते हैं क्योंकि वह एक मानसिकता से श्रेष्ठ तत्व है और वस्तुओं की एकता और मौलिक सत्य में रहता, कार्य करता और आगे बढ़ता है, मानस के समान उनकी प्रतीति और रूपात्मक विभाजनों में नहीं रहता।"[३३] देशकालातीत से देशकालमय पर पहुँचने के लिये अतिमानस एक तार्किक आवश्यकता है। वह एक ज्ञान-संकल्प अथवा चेतन-शक्ति है। वह स्वयं सच्चिदानन्द का गतिशील पहलू है। वह ईश्वर का आत्म-ज्ञान और आत्म शक्ति है।

श्री अरविन्द के अनुसार जो कुछ हम जान सकते हैं उसमें सबसे पहले अविभाज्य सत्ता है; दूसरे, उसकी एकता है एकीभूत सब कुछ का विस्तार और तीसरे सत्य-चेतना में उसका दृढ़ आत्मविस्तार है जोकि उस फैलाव को आत्मसात और धारण करता है और उसको एक यथार्थ विशृंखलता होने से बचाता है। यह है अतिमानस, सत्य-चेतन, यथार्थ-प्रत्यय जोकि स्वयं को और संभूति को जानता है। इस प्रकार अतिमानस एकात्मक चेतना और मानस के बीच है।

---

३२. वही, भाग २, पृष्ठ २२

३३. वही, भाग १, पृष्ठ १७४

वह दैवी शक्ति के अवरोहण में चतुर्थ और हमारे आरोहण में भी चतुर्थ है। सत्य-चेतना के अपने प्रत्यक्ष अनुभव, मानसिक चेतना से उसकी तुलना तथा अन्त में वेदों और उपनिषदों के निर्देशों से श्री अरविन्द अतिमानस के इस प्रत्यय पर पहुँचा है। अतिमानस विश्व से परे नहीं है।[३४] श्री अरविन्द का विचार है कि उससे पूर्व दार्शनिकों का अतिमानस के विषय में कोई निश्चित विचार नहीं था। गीता के कृष्ण केवल एक अधिमानस देव हैं। इस प्रकार चेतना के क्रम में अतिमानस परम्परागत वेदान्त के ब्रह्म से कहीं अधिक उच्च है।[३५]

अतिमानस दैवी विज्ञान है जोकि जगत का सृजन, पालन और शासन करता है। उसमें विचारों, संकल्पों और शक्तियों में संघर्ष नहीं है क्योंकि सभी एक ही चेतना से सम्बद्ध हैं। अतिमानस सृष्टा है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, घटघटवासी, विभु और अन्तर्यामी है। उसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का कोई अन्तर नहीं है। वह समस्त त्रिपुटियों का आधार है। यह अतिमानस किस प्रकार जगत की सृष्टि करता और उसके विकास का निर्देश करता है इसका विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे।

---

३४. "अति मानसिक और विश्वातीत सत्ता एक ही नहीं है।"

श्री अरविन्द : लैटर्स, प्रथम सीरीज, पृष्ठ १०४

३५. "मैं ब्रह्म-चेतना मैं तीन दिन में पहुंच गया परन्तु अति मानसिक स्तर पर पहुंचने मैं एक दशाब्दि का समय लग गया।"

—श्री अरविन्द : मदर इण्डिया, अगस्त १९५२, पृष्ठ ६

७

विकास

"सार रूप में समस्त विकास चेतना की शक्ति को अभिव्यक्त सत् में बदल देना है ताकि वह जो कुछ अभी तक अभिव्यक्त नहीं है उसको उच्चतर तीव्रता में, जड़ से जीवन, जीवन से मानस, मानस से आत्मा तक उठाया जा सके।"

—श्री अरविन्द[1]

विकास एक ऐसा तथ्य है जिसके लिये अब और अधिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। औसवाल्ड स्पैन्गलर जैसे दार्शनिकों के विकास विरोधी तर्क अब गये बीते हो गये हैं। विकास का सिद्धान्त मानव ज्ञान के लगभग सभी क्षेत्रों में ग्रहण कर लिया गया है। स्वयं दर्शन के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं जिनकी तर्कपूर्ण समीक्षा की आवश्यकता है ताकि एक बुद्धि-सम्मत और अनुभव से प्रतिपादित सिद्धान्त पर पहुंचा जा सके।

लॉयड मॉर्गन के अनुसार "विकास वह नाम है जोकि हम सभी प्राकृतिक घटनाओं में क्रम की विस्तृत योजना को देते हैं।"[2] परन्तु इस योजना को यथार्थ रूप में सर्वग्राही बनाने के लिये इस व्याख्या को आगे बढ़ाकर उसमें मानस और आत्मा की घटनाओं को भी सम्मिलित करना पड़ेगा। विकास के सिद्धान्त को सत्ता के सभी स्तरों, जड़, प्राण, मानस और आत्मा का क्रम और प्रयोजन खोजना होगा और इस सामान्य योजना के अनुरूप ही भविष्य की प्रगति की भी कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रसंग में हम श्री अरविन्द के सिद्धान्त का मूल्यांकन करने से पूर्व विकास के अन्य सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

---

१. श्री अरविन्द : द लाइफ् डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ६५८

२. लायड मॉर्गन : एमर्जेन्ट एवाल्यूशन, पृष्ठ १

यन्त्रवादी सिद्धान्त

चार्ल्स डार्विन

चार्ल्स डार्विन जीवशास्त्र के क्षेत्र में विकास के यन्त्रवादी सिद्धान्त का सबसे बड़ा समर्थक है। उसके सिद्धान्त के मुख्य सूत्र "अस्तित्व के लिये संघर्ष" और "योग्यतम की विजय" हैं। विभिन्न प्रकार के वातावरण से यन्त्रवत् अनुरूपता के कारण एक सामान्य स्रोत से विभिन्न प्रकार के जीवित प्राणी विकसित होते हैं। इन भेदों के मुख्य कारण व्यक्ति के अपने जीवन में अनुभव और व्यवहार नहीं बल्कि उसमें स्थित जीवाणुओं के अन्तस्थ भेद हैं। डार्विन के अनुसार, वातावरण का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप में अर्थात् विशेष वातावरण के प्रतिकूल गुणों के उन्मूलन और अनुकूल गुणों की प्रतिष्ठा के द्वारा होता है। इस प्रकार छोटे और अस्पष्ट परिवर्तन होते हैं जिनके कालावधि में क्रमशः एकत्रित हो जाने से एक ही उद्गम से निकली अनेक शाखाओं में बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

परन्तु वीसमैन तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों की वंशानुक्रम के विषय में नवीनतम खोजों ने यह दिखला दिया है कि एक पीढ़ी के परिवर्तन वंशानुक्रम द्वारा दूसरी पीढ़ी में नहीं पहुँचते। परन्तु परिवर्तन आकस्मिक होते हैं जिनसे कि विकास में नव्योत्क्रान्ति के सत्य की पुष्टि होती है। सच तो यह है कि विकास नव्योत्क्रान्तियुक्त होना ही चाहिये। यन्त्रवत् विकास एक आत्म विरोधी बात है। मूल्य की नवीनता के लिये नव्योत्क्रान्ति का होना आवश्यक है। डार्विन के सिद्धान्तों में दूसरा दोष विभिन्न स्तरों को जोड़ने वाली कड़ियों की अनुपस्थिति है जिससे कि निरन्तरता में आघात उत्पन्न हो जाता है और जिनको डार्विन अपनी समस्त संग्रहीत सामग्री द्वारा भी जोड़ नहीं सका। यह तथ्य भी नव्योत्क्रान्तिवाद के पक्ष में जाता है क्योंकि उसमें नवीनता होते हुये भी निरंतरता रहती है। फिर विकास का सीधा क्रम भौतिक स्तरों की व्याख्या कर सकता है अन्यों की नहीं क्योंकि प्रत्येक स्तर के अपने नियम होते हैं।[3] अन्त में यन्त्रवाद विकास के 'क्यों' की व्याख्या नहीं करता जोकि किसी भी सिद्धान्त के लिये आवश्यक है। योग्यतम की विजय का सिद्धान्त एकांगी है क्योंकि जीवन में संघर्ष और विरोध के साथ-साथ प्रेम, सहयोग और सहानुभूति भी हैं।

हर्बर्ट स्पेन्सर

हर्बर्ट स्पेन्सर भी विकास के अपने दार्शनिक सिद्धान्त को यन्त्रवाद पर आधारित करता है। वह सत्ता के प्रत्येक स्तर की शक्ति के केन्द्रीकरण और विशृंखलन द्वारा व्याख्या करता है। जड़ पदार्थ अविनाशी है, गति चिरंतन है।

---

३. "प्रत्येक स्तर के अपने सत्य हैं।" —श्री अरविन्द : लाइट्स ऑन योग, पृष्ठ ५

शक्ति की निरन्तरता ही परम मौलिक सत्य है। प्रकृति में जड़ पदार्थ और गति का सतत् पुनर्वितरण होता रहता है। समस्त विश्व विकास और विनाश की दोहरी प्रक्रिया में रत है। विकास में जड़ का संगठन और गति का वितरण होता है। विनाश में जड़ का विशृंखलन और गति का संकोच होता है। विकास में जड़ पदार्थ अनिश्चित असामंजस्यपूर्ण एक रसता से एक निश्चित सामंजस्यपूर्ण विविधता पर पहुँचता है। इस प्रक्रिया में गति का भी एक समानान्तर रूपान्तरण होता है। स्पेन्सर प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र और मानसिक जीवन के सभी विभागों से उदाहरण देकर इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है। जब विकास एक अनुलंघनीय सीमा पर पहुँचता है तब उसमें स्वभावतया विनाश प्रारम्भ होता है, इस प्रकार चक्र चलता रहता है।

परन्तु इस प्रकार की यंत्रवत् प्रगति में कोई प्रयोजन नहीं है और वह जड़ और जीवन के क्षेत्र की व्याख्या करने में भी असमर्थ है। आन्तरिक सम्बन्धों की वाह्य सम्बन्धों से सतत् अनुकूलता के रूप में जीवन की व्याख्या करना इस बाह्य रूप से निष्प्रयोजन प्रगति के पीछे छिपे प्रकृति के यथार्थ प्रयोजन को खो देना है। मानसिक और आध्यात्मिक तथ्यों की व्याख्या करने के लिये शक्ति को आध्यात्मिक होना चाहिये जिसकी गति यंत्रवत् संगठन और विशृंखलता से कहीं अधिक गहन है।

नव्योत्क्रान्तिवादी विकास

सेमुएल अलैक्जैण्डर

अलैक्जैंडर के अनुसार समस्त सीमित जीव "किसी अर्थ में देश और काल की रचनायें हैं।" काल देश-काल के ढाँचे में ही अन्तस्थः प्रेरक है। काल की देश पर प्रक्रिया से सीमित गति उत्पन्न होती है। इस सीमित गति के पुनः संगठन से कुछ गहन 'गति समूह' बनते हैं जोकि मौलिक गुणों सहित जड़ पदार्थ को उत्पन्न करते हैं। इन गतिविधियों में और भी गहनता बढ़ने पर गौण गुणों सहित जड़ पदार्थ की उत्पत्ति होती है। इस मौलिक और गौण गुणों सहित जड़ पदार्थ में गति की विविधता और गहनता बढ़ने पर जीवन का प्रादुर्भाव होता है। अन्त में पर्याप्त जटिल जीवित रचना में मानस का उदय होता है। परन्तु मानस ही अन्तिम सृष्टि नहीं है क्योंकि कोई कारण नहीं है कि क्यों विकास उसके साथ रुक जाय। मानस से देवता (Deity) का उदय होता है और देवता से देवता के देवता का तथा इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। वह स्मरणीय है कि अलैक्जैंडर बहुधा देवता का अर्थ भावी सृष्टि से लगाता है।

इस प्रकार के सिद्धान्त में प्रथम समस्या विकास के "क्या" के विषय में उठती है। देश-काल विकास के सभी स्तरों की व्याख्या नहीं करते। यदि प्रत्येक नवीन मूल्य देश-काल की एक यंत्रवत् गहनता के कारण उत्पन्न होता है तो

विकसित पदार्थों में गुण के आधार पर कोई अन्तर नहीं रहता। एक वस्तु जिसकी दूसरी वस्तु के द्वारा पूर्णतया व्याख्या की जा सकती है निश्चय ही उससे उच्चतर नहीं है चाहे वह कितनी ही अधिक गहरी क्यों न हो। उच्च की निम्न व्याख्या सत्य से नितान्त विपरीत प्रक्रिया है। फिर, जो कुछ विवर्तनशील है उसका निवर्तन (Involution) भी अवश्यम्भावी है। चेतन अचेतन से विकसित नहीं हो सकता जब तक कि वह उसमें पहले से उपस्थित न हो। आदि शक्ति अचेतन नहीं हो सकती क्योंकि तब वह समस्त जगत का आधार नहीं हो सकती जिसमें कि केवल जड़ ही नहीं बल्कि प्राण, मानस तथा अस्तित्व के और भी उच्चतर स्तर हैं। अलैक्जैण्डर का देश-काल एक शून्य है जिसमें से विभिन्न गुणों के पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु की देश-काल के शब्दों में यंत्रवत् व्याख्या करने से प्रक्रिया की अपरिवर्तनीयता स्थिर नहीं रखी जा सकती। अचेतन काल कैसे मानस और देवता इत्यादि के उद्भव का प्रेरक हो सकता है ? फिर केवल जड़ पदार्थ ही लम्ब रूप में बढ़ता है। मानसिक अथवा आध्यात्मिक चेतना की गति तो विस्तार और संकोच, आरोहण (Ascent) और अवरोहण (Descent) के द्वारा होती है।

ए० एन० व्हाइटहैड

व्हाइटहैड के अनुसार "सत्ता क्रिया है" और सद् जगत अवयवीय रूप से एक है। अलैक्जैण्डर के समान ही उसका दृष्टिकोण प्रकृतिवादी है यद्यपि वह जगत की प्रक्रिया को जीवन और मानस के शब्दों में समझाता है और उच्च के प्रकाश में निम्न की व्याख्या करता है। इस प्रकार जड़ प्रकृति बीजरूप में प्राण और मानस को लिये हुए है और उनकी प्राप्ति के हेतु प्रयत्नशील है। समस्त प्रक्रिया के प्रयोजन को व्हाइटहैड ने "रचनात्मकता" (Creativity) कहा है और वह "समस्त सामान्य (Universal) का सामान्य" है। 'रचनात्मक प्रगति", जैसाकि व्हाइटहैड ने कहा है "रचनात्मकता के इस परम तत्व को उससे उत्पन्न प्रत्येक नवीन परिस्थिति में प्रयोग करना है।"[४] ईश्वर तक को भी रचनात्मकता की "आदिम कालातीत घटना" कहा गया है। जगत यथार्थ अवसरों (Occasions) अथवा यथार्थ बिन्दुओं (Actual entities) अर्थात् प्रक्रिया के सूक्ष्मतम अंशों से बना है। परन्तु ये यथार्थ अवसर प्रत्येक बार नवीन रूप में प्रयोग किये गये हैं। अतः "क्रियात्मकता नवीनता का तत्व है।"[५] क्रियात्मकता और यथार्थ अवसर "नित्य वस्तु" (Eternal objects) कहलाने वाले संभाव्य रूपों के अनुरूप जगत का निर्माण करते हैं जोकि "बीजरूप" कालातीत वस्तुयें हैं। "नित्य वस्तुयें

---

४. व्हाइटहैट, प्रॉसेस एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ २७

५. वही

विश्व के शुद्ध बीजरूप हैं।"[६] विभिन्न प्रकार के यथार्थ बिन्दुओं के अनुसार व्हाइटहैड ने आत्मगत और वस्तुगत नित्य वस्तुओं में भेद किया है। इस प्रकार नित्य वस्तु किसी विशेष वस्तु अथवा अनुभूति को बनाने के लिये यथार्थ बिन्दु में प्रविष्ट होती अथवा उतरती हैं। इस प्रक्रिया को व्हाइटहैड "प्रवेश" (Ingression) कहता है। उसके अनुसार "प्रवेश शब्द उस विशेष पर्याय का निर्देश करता है जिसमें एक नित्य वस्तु की गुप्त शक्ति किसी एक विशेष यथार्थ बिन्दु में उस यथार्थ बिन्दु को निश्चित बनाते हुए प्रगट होती है।"[७]

विकास की प्रक्रिया निरन्तर विस्तृत होती रहती है। प्रत्येक यथार्थ बिन्दु के द्वारा जगत निरन्तर विनष्ट और उत्पन्न होता रहता है। रचनात्मकता की गति एक बर्फ की गेंद की गति के समान है जोकि परिधि से केन्द्र की ओर बढ़ने में उभरती जाती है। एक अवयनीय रचना की वृद्धि के समान यह प्रगति व्यक्तिगत नहीं बल्कि सार्वभौम है। व्हाइटहैड यंत्रवाद में विश्वास नहीं करता। "प्रकृति के नियमों में से कोई भी बाध्यता का किंचित भी प्रमाण नहीं देता।"[८] सार्वभौम स्तर पर दिखाई देने वाला एकमात्र सत्य केवल नवोदित वस्तु की आत्म-सृष्टि के आनन्द के उद्देश्य से रचनात्मक प्रगति है।

व्हाइटहैड ईश्वर को सृष्टि के 'क्यों' का उत्तर देने के लिये लाता है। यद्यपि प्रत्येक यथार्थ बिन्दु अपने आत्मगत प्रयोजन से ही प्रेरित है तथापि सार्वभौम स्तर पर ईश्वर परम तत्व और निर्देशक शक्ति है। अतः वह परिसीमन अथवा "मूर्तता (Concretion) का तत्व"[९] कहलाता है। फिर, ईश्वर नित्य वस्तुओं का आधार भी है। "ईश्वर की प्रकृति आदर्श रूपों के राज्य का प्रत्यय रूप में पूर्ण साक्षात्कार है।"[१०] ईश्वर केवल सृष्टा ही नहीं बल्कि जगत का साथी भी है। जगत ईश्वर से उद्भूत होता है और वह उसका आनन्द भी लेता है। ईश्वर और जगत दोनों ही साथ-साथ विकसित होते हैं। न तो ईश्वर और न जगत ही स्थिर पूर्णता पर पहुँचते हैं। दोनों ही परम आध्यात्मिक आधार, नवीनता में रचनात्मक प्रगति के पाश में बँधे रहते हैं। ईश्वर और जगत में से प्रत्येक दूसरे के लिये नवीनता का साधन है।

---

६. वही, पृष्ठ २०८

७. वही, पृष्ठ ३१

८. व्हाइटहैड : नेचर एण्ड लाइफ़, पृष्ठ ६७

९. व्हाइटहैड ; प्रॉसेस एण्ड रीएलिटी, पृष्ठ ३४५ और ४८७

१०. व्हाइटहैड , रिलीजन इन द मेकिंग, पृष्ठ १३८

११. श्री अरविन्द: द लाइफ़ डिवाइन, भाग १, पृष्ठ २८

१२. देखिये, मैत्र. एस० के० : द मीटिंग ऑव द ईस्ट एण्ड वैस्ट इन श्री अरोविन्दोज फिलासफी, पृष्ठ ४२९

परन्तु ईश्वर का जगत से सम्बन्ध जगत के ईश्वर से सम्बन्ध जैसा नहीं है। जगत ईश्वर पर आधारित हो सकता है परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ईश्वर भी जगत पर आधारित है। जैसा कि श्री अरविन्द ने संकेत किया है, "जगत उसके कारण रहता है वह जगत के कारण नहीं रहता।"[११] व्हाइटहैड "विकास की ओर अन्त की नहीं बल्कि प्रारम्भ की दृष्टि से देखता है।"[१२] फिर जगत के साथ ईश्वर का विकास एक ऐसे द्वैतवाद की स्थापना है जिसको भरने में रचनात्मकता की आध्यात्मिक भूमि भी असफल होती है। जब जगत ईश्वर का प्रसार है तो विविधता केवल उसके अनेक पहलू का ही प्रतिनिधित्व करती है। सृष्टि के सिद्धान्त में संशोधन करने की आवश्यकता है। बिकास के प्रयोजन की भी स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिये। असीम स्वयं सीमित वस्तुओं के विश्व का प्रत्यक्ष सृष्टा नहीं हो सकता क्योंकि उनके किसी विशेष नित्य वस्तु के किसी विशेष यथार्थ बिन्दु में आने के निर्देश के हेतु एक निर्देशक शक्ति की आवश्यकता है। आदिम और परिणामस्वरूप (Consequent) ईश्वर का अन्तर इस प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता। फिर विकास के विभिन्न स्तरों में भी स्पष्ट भेद नहीं किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है मानों विकास का क्रम मानव स्तर पर ही रुक जाता हैं जिसके लिये व्हाइटहैड ने कोई तर्क नहीं उपस्थित किये हैं। 'प्रवेश' के बहुमूल्य विचार के होने पर भी निम्न का उच्च में कोई समावेश नहीं होता जोकि किसी भी ऐसे सिद्धान्त के लिये एक आवश्यक शर्त है जोकि यह विश्वास रखता है कि प्रगति के साथ-साथ विकास का क्रम फैलता है। ईश्वर और जगत का सम्बन्ध रचनात्मकता रहस्यमय ही रह जाती है। जिस सिद्धान्त पर ईश्वर किसी विशेष नित्य वस्तु को किसी यथार्थ बिन्दु में उतरने के लिये प्रेरित करता है वह स्पष्ट नहीं है अतः विकास के "क्यों" की व्याख्या नहीं होती। संक्षेप में, व्हाइटहैड अपने विवर्तन, निवर्तन, प्रवेश, प्रगति में वृद्धि, ईश्वर का निर्देश और क्रियात्मकता इत्यादि के सिद्धान्त के द्वारा विकास की समस्या में पर्याप्त अन्तर्दृष्टि दिखलाता है परन्तु इस सबमें अधिक सूक्ष्म भेद और अधिक सामंजस्य करने की आवश्यकता है।

रचनात्मक विकास

बर्गसाँ के अनुसार विकास न तो यंत्रवत् है, न प्रयोजनवादी ही बल्कि रचनात्मक है। समस्त वस्तुएँ जीवन की प्रवृत्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं जिसको बर्गसाँ "विश्व-प्राण" (Elan Vital) कहता है। चेतना के विकास में "वनस्पतीय जड़ता, मूल प्रवृत्ति और बुद्धि" तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। परन्तु ये तीन समस्त संभावनाओं को समाप्त नहीं करतीं यद्यपि ये अन्य संभावनाएँ उतनी सफल नहीं हुई हैं जितनी कि उपरोक्त तीन। फिर, विकास में प्रगति और अवनति दोनों ही सम्मिलित होती हैं। विकसित पदार्थ नवीन होते हैं और उनका पहले से ही

अनुमान नहीं किया जा सकता। जगत बढ़ने में फैलता है और पुनरावृत्ति विना ही सतत् बढ़ता रहता है। विकास की प्रक्रिया में मूल गुण हैं निरन्तरता, अनिश्चितता और रचनात्मकता। बर्गसाँ यंत्रवाद और उपेयवाद (Finalism) दोनों का ही तिरष्कार करता है। नव्योत्क्रान्तिवादी विकास का सिद्धान्त सब वस्तुओं के पीछे एक मूल प्रवृत्ति मानकर एकता और सामंजस्य की व्याख्या करने का दावा करता है और उसी तत्व के स्वाभाविक विभाजन को मानकर विविधता और विरोध की व्याख्या करता है। वह पूर्वगामी सिद्धान्तों से निश्चय ही श्रेष्ठ है और बर्गसाँ ने जीवशास्त्रीय तथ्यों के उदाहरणों से अपने वाद की विस्तारपूर्वक पुष्टि की है। जड़ और मन के बीच की खाई को भरने में जीवन को विकास का आधार मानने वाला सिद्धान्त देश-काल के सिद्धान्त से कहीं अधिक समर्थ है। जीवन जड़ के बाधक प्रभाव को जीतने के हेतु संघर्षशील और रचनात्मक क्रिया में अपनी अभिव्यक्ति करने वाली चेतना है।

परन्तु क्योंकि आत्मा के विरुद्ध जीवन केवल एक प्रकार की अभिव्यक्ति ही है, अतः बर्गसाँ का रचनात्मक विकास बहुत कुछ व्याख्या अपनी सीमा से बाहर ही छोड़ देता है। जीवन जड़ और मानस मे मध्यस्थ कड़ी हो सकता है परन्तु दोनों की व्याख्या करने के हेतु उसे दोनों का उत्क्रमण करना चाहिये और उनका संयोजन भी जोकि स्पष्ट रूप से असंभव है। बिकास की समस्त योजना की केवल प्राणात्मक प्रवृत्ति से ही व्याख्या करना समस्त प्रक्रिया को अति साधारण मान लेना है जोकि यंत्रवादी सिद्धान्तों से अधिक सफलता के साथ इस समृद्ध जगत की व्याख्या नहीं करता। विश्व प्राण के रूप में ईश्वर अन्तःस्थ है और विश्व के साथ पीड़ा सहन करता है। जब तक शक्ति सत् की शक्ति नहीं है तब तक संभूति में उसके प्रयोजन की व्याख्या नहीं होती। फिर एक पूर्ण अनियंत्रण नितान्त प्रयोजनहीन है और एक शुद्ध अवसर के दर्शन पहुँचता है। बर्गसाँ के सिद्धान्त में प्राणात्मक प्रवृत्ति प्रक्रिया का नियंत्रण करती है परन्तु निष्प्रयोजन होने के कारण यह एक अन्ध प्रवृत्ति प्रतीत होती है जो कि जगत के सामंजस्य की व्याख्या नहीं करती। ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति लक्ष्य नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर स्वयं ही प्रक्रिया में है। फिर, क्या उच्च और निम्न स्तरों में कोई सम्बन्ध है? यदि 'नहीं' तो समस्त तारतम्यता खंडित हो जाती है और यदि 'हाँ' तो फिर इस सम्बन्ध का स्वरूप क्या है? एक यथार्थ रूप में रचनात्मक विकास के निश्चित होने की आवश्यकता नहीं चाहे निश्चितता यंत्रवत् न होकर विश्व के प्रयोजन के अनुसार परिवर्तनशील हो। निम्न से सम्बन्ध रखने के

१३. लॉयड मॉर्गन : एमजन्ट एवाल्युशन, पृष्ठ १३३

लिये उच्च को उसे आत्मसात करना चाहिये। यदि वह उसे बहिष्कृत करता है तो दोनों में कोई तारतम्य नहीं रह जाता। बर्गसाँ की हिम कन्दुक की उपमा जोकि बढ़ने पर फैलता है, सामंजस्य को कुछ स्थान अवश्य देती है परन्तु उसमें यथार्थ संश्लिष्टता के लिये कोई स्थान नहीं है। वास्तव में संश्लिष्टता तो आत्मा का ही गुण है। समस्त स्तरों के तथ्यों की व्याख्या करने के लिये मूल आधार ऐसा होना चाहिये जिसमें यह सब बीजरूपों में विद्यमान हो जो उन सबको प्रकट करे, संश्लिस्ट करे और अपने उच्च सामंजस्य में उनसे परे भी हो तथा अन्त में अपनी अन्तर्प्रेरणा से ही विकासमान हो।

लॉयड मॉर्गन का सिद्धान्त

लॉयड मॉर्गन स्पेन्सर-डार्विन के सिद्धान्त और रचनात्मक विकास के सिद्धान्त में सामंजस्य करने की चेष्टा करता है। वह तारतम्यता और नवीनता, परिणाम रूप और नवोदित दोनों ही तत्वों को रखने की चेष्टा करता है। निम्न उच्च पर निर्भर है परन्तु तो भी उच्च पूर्णतया नवीन है। मॉर्गन का दृष्टिकोण विशुद्ध प्रकृतिवादी है। अतः उसकी दृष्टि सर्वप्रथम भौतिक क्रियाओं से परिपूर्ण देशकाल पर जाती है। इन क्रियाओं के बाह्य सम्बन्धों का परिणाम है जड़ पदार्थ ; जब वे आन्तरिक रूप में सम्बन्धित होते हैं तो जीवन की उत्पत्ति होती है। और भी उच्चतर स्तर अर्थात् मानव शरीर में विभिन्न भागों में एक दूसरे प्रकार का अन्त-सम्बन्ध रहता है और चेतना का आविर्भाव होता है। तब हम एक मानस-जीवन-जड़ की व्याख्या पाते हैं। चेतना सदैव जीवन के साथ है और जीवन जड़ के साथ इस प्रकार मॉर्गन उच्च के निम्न में निवर्तन का महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करता है यद्यपि किसी भी रचना की कार्य प्रणाली उसके विशेष स्तर पर ही निर्भर है। निम्न उच्च पर निर्भर रहता है। मॉर्गन ईश्वर को विकास के सम्पूर्ण क्रम के पीछे निर्देशक शक्ति मानता है। "निर्वतन की पाँति का नीचे की ओर अनुसरण करके वह भौतिक जगत पर और "निर्भरता की पाँति का ऊपर की ओर"[१३] अनुसरण करके ईश्वर पर पहुँचता है। फिर जबकि विकास के क्रम के अन्तर्गत क्रियाएं सकारण और नियंत्रित है ईश्वर स्वतन्त्र और परम है। विकास के प्रयोजन की व्याख्या करने के लिये मॉर्गन ईश्वर की रचनात्मकता की ओर संकेत करता है जोकि समस्त घटनाओं के पीछे है।

मॉर्गन की रासायानिक परिवर्तन से नव्योत्क्रान्ति की व्याख्या अनुपयुक्त है क्योंकि यह केवल भौतिक स्तर पर ही लागू होती है। इसी प्रकार मूल्य की उत्पत्ति की व्यक्ति में व्यवस्था के सरल सिद्धान्त से व्याख्या करना मूल्यों की प्रकृति के विषय में भारी भूल है। मॉर्गन के अनुसार मूल्य विशेषतया मानसिक स्तर से सम्बन्धित हैं और केवल एक मानस अथवा आत्मा ही उनकी उत्पत्ति की व्याख्या कर सकते हैं। इस प्रकार का सिद्धान्त मूल्यों के एक आत्मगत विचार पर पहुंचता है। मूल्य स्वतन्त्र, अनुपम और स्वयंभू होते हैं। वे जीवशास्त्रीय,

मनोवैज्ञानिक अथवा यान्त्रिक शब्दों में नहीं समझाये जा सकते। मॉर्गन की मूल्य तत्व और मनोवैज्ञानित्र तत्व में गड़बड़ी उसके प्रकृतिवादी पक्षपात की द्योतक है। मॉर्गन की योजना में यदि विकास के सिद्धान्त को उसकी तार्किक सीमा तक पहुंचा दिया जाय तो हम यथार्थ में इसी प्रकार के विचार पर आते हैं कि जड़ पदार्थ निवर्तित ईश्वर है परन्तु फिर भी अपने प्रकृतिवादी पक्षपात के कारण मॉर्गन इस विरोधी बात पर आता प्रतीत होता है कि ईश्वर विवर्तित (Evolved) जड़ पदार्थ है। यदि ईश्बर की रचनात्मकता ही इस सब का कारण है तब संगठन नहीं बल्कि ईश्वर का आनन्द ही विकास की प्रक्रिया का कारण है। मॉर्गन ने संश्लिटता का तत्व भी नहीं माना है जिसके बिना निम्न की उच्च में तारतम्यता की व्याख्या नहीं हो सकती। सम्बन्धों की विभिन्न प्रकार की व्यवस्था के रूप में जड़, जीवन और मानस की व्याख्या ईश्वर की रचनात्मकता के आरोपण के अनुकूल नहीं है। ईश्वर की रचनात्मकता मॉर्गन के प्रकृतिवाद में एक विदेशी तत्व प्रतीत होती है। प्रकृतिवाद और दैबी प्रेरणा में भी कोई सामंजस्य नहीं है।

द्वन्द्वात्मक विकास

हेगेलीय सिद्धान्त

जैसा कि हमने द्वन्द्वात्मक पद्धति के विवेचन में पहले ही स्पष्ट कर दिया है, हेगेल के अनुसार विकासक्रम वाद, प्रतिवाद और संवाद द्वारा चलता है। इतिहास और तर्क का एकीकरण करके हेगेल प्रकृति में प्रयोजन को विचार की पूर्ण की ओर उन्मुखता से समझाता प्रतीत होता है। विचार विरोधों में होकर बढ़ता है जिनमें वह रुक नहीं सकता और इस कारण विरोध प्रत्येक बार एक नवीन समन्वय की ओर ले जाता है। विकास की मौलिक प्रवृत्ति के रूप में लेने पर यह सिद्धान्त भौतिक, जैविक और मानसिक विकास के बहुत से तथ्यों की व्याख्या कर सकता है परन्तु विचार-प्रवाह के एक आदर्श के रूप में वह विश्व की समस्त व्यवस्था की विवेचना नहीं कर सकता क्योंकि वहाँ संश्लिष्टता (Integration) भी उतनी ही आवश्यक है जितना समन्वय, विभिन्न तत्व भी उतने ही यथार्थ हैं जितने विरोधी तत्व। विकास की समस्त प्रक्रिया को वाद, प्रतिवाद और संवाद के निश्चित गति क्रम में बाँधना एक प्रकार के यंत्रवाद की ही स्थापना के समान है जोकि यथार्थ विश्व को व्याख्या नहीं कर सकता। इस प्रक्रिया को खुला छोड़ देने में बर्गसाँ ने अधिक बुद्धिमानी की। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया यथार्थ विकास के क्या, कैसे और क्यों की व्याख्या नहीं कर सकती क्योंकि जगत का यथार्थ आधार विचार से कहीं अधिक विस्तृत, गहन और संश्लिष्ट है चाहे वह अमूर्त हो अथवा मूर्त।

क्रोचे का सिद्धान्त

हेगेल की त्रिविध गति के स्थान पर हम क्रोचे में एक द्विविध गति पाते हैं जिसमें कि द्वितीय पद प्रथम का विरोधी न होकर उस पर आश्रित है। इस प्रकार व्यवहारिक मौखिक पर और आर्थिक नैतिक पर निर्भर है। हेगेल के समान क्रोचे ने इतिहास का दर्शन से और सद्वस्तु का मूर्त विचार से तादात्म्य किया। क्रोचे के अनुसार आध्यात्मिक विकास के इतिहास में आध्यात्मिक क्रियाओं की गति केवल क्रमिक नहीं है। उसमें विकास ही नहीं बल्कि प्रगति में अधिकाधिक संश्लिष्टता भी है।[१४] इस प्रकार विवर्तन के साथ निवर्तन लगा है और उच्च में निम्न सम्मिलित है। ज्ञान क्रिया के रूप में प्रगट होता है जोकि उसमें पहले से ही उपस्थित है।

अपने विभिन्न तत्वों के सिद्धान्त और विवर्तन तथा निवर्तन के प्रत्ययों द्वारा क्रोचे हेगेल से कहीं आगे बढ़ गया है परन्तु विरोधी तत्वों के आधार को छोड़ने के कारण उसकी विकास की योजना में विचार के क्षेत्र तक में प्रगति के प्रेरक तत्व का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसके अतिरिक्त हेगेलीय द्वन्द्वात्मक विकास की प्रथम त्रिपदी को मान लेने पर जिसमें कि सत् और असत् का संभूति में समन्वय किया गया है, क्रोचे संभूति को ही सम्पूर्ण सद्वस्तु मान बैठता है जोकि एक ऐसी स्थिति है जिसकी हमने पीछे बर्गसाँ के विवेचन में पर्याप्त आलोचना की है। आलोचकों के इस कथन में पर्याप्त सत्य प्रतीत होता है कि क्रोचे हेगेल से आगे नहीं जाता और जहाँ कहीं भी वह उससे भिन्न मत की स्थापना की चेष्टा करता है वहीं उसके दर्शन में दोष उत्पन्न हो गये हैं।

सर्वांग विकास : श्री अरविन्द

विकास की प्रक्रिया

श्री अरविन्द के अनुसार विश्व में जो कुछ है उसका उद्गम, आधार, सार और परम तत्व, अतीत और असीम, सत्, चिद और आनन्द है जोकि दैवी सद्वस्तु की यथार्थ प्रकृति है। चेतना के दो पहलू हैं प्रकाशक और प्रभावी आत्म-ज्ञान की स्थिति और शक्ति तथा आत्मशक्ति की स्थिति और शक्ति जिससे अपनी स्थिर अवस्था अथवा गतिशील विकास में सत् स्वयं की धारणा करता है। अपनी रचनात्मक क्रिया में वह सर्वशक्तिमान आत्मचेतना द्वारा अपनी गुप्त शक्ति को जानता है और एक सर्वज्ञ आत्म शक्ति द्वारा जगत की उत्पत्ति और

---

१४. विल्डन कार : द फ़िलासफी ऑव क्रोचे, पृष्ठ १३

नियन्त्रण करता है। विश्व-सत्ता की इस रचनात्मक क्रिया का केन्द्र है अति-मानस का माध्यमिक तत्व, यथार्थ प्रत्यय, जिसमें आत्म सत्ता और आत्मज्ञान से एकीभूत एक दैवी ज्ञान और इस ज्ञान के पूर्ण सामंजस्य में एक संकल्प है क्योंकि वह स्वयं अपने तत्व और प्रकृति में ज्योतिर्मय क्रिया में गतिशील वह आत्म-चेतन आत्म-सत्ता है। यह अतिमानस अपने आत्म स्थित सत्य के अनुसार और उसकी अभिव्यक्ति के महत्व के सामंजस्य में वस्तुओं के नियम, रूप और गति का अनिवार्य रूप से विकास करता है।

मानस, प्राण और जड़ पदार्थ, अज्ञान के तत्व की अधीनता में कार्य करते हुए इन उच्चतर तत्वों के त्रिविध पहलू हैं। "मानस अतिमानस की एक गौण शक्ति है जोकि यहाँ पर एकता को भूलकर विभाजन के स्तर पर आधारित है यद्यपि अतिमानस से ज्योति पाकर वह उस पर लौट आ सकता है। उसी प्रकार जीवन भी सच्चिदानन्द के शक्ति पक्ष की एक गौण शक्ति है। वह मानस से उत्पन्न भेदों के दृष्टिकोण से चेतन शक्ति की क्रीड़ा और रूप को कार्यान्वित करने वाली शक्ति है। जड़ तत्व सत् के तत्व का वह रूप है जोकि सच्चिदानन्द की सत्ता उस समय धारण करती है जबकि वह स्वयं अपनी चेतना और शक्ति की प्रपञ्चात्मक क्रिया के आधीन हो जाती है।"[१५]

जड़ तत्व भी ब्रह्म है

बर्कले का "प्रत्यक्ष ही सार है" का सिद्धान्त, कान्ट का ज्ञान का विश्लेषण और बर्गसाँ का प्रस्तरीकरण (Platonisation) का प्रत्यय यह सिद्ध नहीं करते कि जड़ तत्व मानसिक सृष्टि है। मानस की ज्ञानात्मक प्राथमिकता उसकी आध्यात्मिक प्राथमिकता नहीं सिद्ध करती। पृथ्वी का अस्तित्व मानस की सृष्टि से बहुत पहले से है। इसी प्रकार जड़ तत्व किसी विश्वमानस की सृष्टि भी नहीं हो सकता। परन्तु क्योंकि, जैसा कि हम पिछले अध्याय में सिद्ध कर चुके हैं, जगत एक चेतन शक्ति की सृष्टि है इसलिये जड़ पदार्थ आत्मा का एक रूप मात्र है। वह सत् का एक आत्म विस्तार है जोकि जगत में चेतना के विषय के रूप में प्रकट होता है और जिसको विश्व मानस और जीवन अपनी रचनात्मक क्रिया में आणविक विभाजन और एकत्रीकरण के रूप में प्रकट करते हैं। आत्मा जड़ का जीव है, जड़ आत्मा का शरीर है परन्तु तो भी जड़ पदार्थ में आत्मा के विरोधी कुछ मौलिक गुण हैं। सर्वप्रथम वह अज्ञान के तत्व की चरम परिणति है। दूसरे, वह यांत्रिक नियम के बन्धन की सीमा है, एक ऐसी जड़ता है जोकि मुक्ति के सभी प्रयासों में बाधक है। वह विभाजन और संघर्ष के तत्वों का चरम रूप है। जड़ पदार्थ शुद्ध सत्ता के एक सार्वभौम सम्बन्ध के आधार की ओर

---

१५. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृष्ठ ३१८

विकास क्रम में अन्तिम सीढ़ी है जिसमें कि पहला शब्द आत्मा नहीं बल्कि रूप है और यदि द्रव्य में जड़ पदार्थ से आत्मा तक एक विकासोन्मुख पांति है तब उसमें जड़ पदार्थ के गुणों की क्रमशः न्यूनता और उसके विरोधी गुणों की अधिकाधिक वृद्धि होनी चाहिये जोकि हमको शुद्ध आध्यात्मिक आत्म विस्तार तक ले जायेगी। जड़ और आत्मा, रूप और सार, अज्ञान और ज्ञान की दो सीमाओं के बीच में अगणित श्रेणियाँ हो सकती हैं। जड़ पदार्थ में भी एक विकासोन्मुख शृंखला है जोकि हमें अधिक से कम घने और कम से अधिक सूक्ष्म की ओर ले जाती है।

जीवन

श्री अरविन्द के अनुसार जीवन "एक सार्वभौम शक्ति का एक रूप, उसका एक गतिशील प्रक्षेप अथवा धारा, स्वीकारात्मक अथवा निषेधात्मक, उस शक्ति की सतत् क्रिया अथवा क्रीड़ा है जोकि रूपों को बनाती है और उनके सार के विशृंखलन और प्रतिष्ठापन की सतत् प्रक्रिया के द्वारा उनको अनुप्राणित करती है।"[१६] विशृंखलन और प्रतिष्ठापन, स्थिरता और परिवर्तन, जीवन और मृत्यु सब एक ही जीवन की प्रक्रियायें हैं। "सभी नवीन रूप धारण करते हैं, कुछ नष्ट नहीं होता।" यह शक्ति के सुरक्षित रहने का नियम है। अव्यक्त, व्यवस्थित अथवा मौलिक, निर्वतित अथवा विवर्तित, जीवन सब जगह है। वह सार्वभौम, सर्वव्यापी और अविनाशी है केवल उसके रूपों और व्यवस्थाओं में ही अन्तर पाया जाता है। प्रत्येक रूप सामान्य शक्ति को सतत् ग्रहण कर रहा और बाहर निकाल रहा है। पौधे, पशु और मानव के जीवन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। सब कहीं हम वही जन्म, वृद्धि और मृत्यु, पोषण, उत्पत्ति और नपुंसकता, निद्रा और जागृति, शक्ति और जीवन गति की न्यूनता, शिशुपन से वृद्धावस्था की ओर गति और उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रिया पाते हैं। मूलरूप में शक्ति चित-तपस अथवा वेदान्त की चित शक्ति है। वह पौधे में मानसेतर संवेदना से परिपूर्ण नाड़ी शक्ति, प्रारम्भिक पाशविक रूपों में इच्छा-संवेदन अथवा इच्छा-संकल्प, विकासोन्मुख जीव में आत्मचेतन अनुभूति और शक्ति तथा मानव में मानसिक संकल्प अथना ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त होती है।

जीवन के विकास की तीन अवस्थायें

इस प्रकार जीवन जड़ पदार्थ में अचेतन रूप से कार्य करती हुई चेतन-शक्ति का सार्वभौम संगठन है। इस क्रिया में तीन अवस्थायें हैं जड़ जावन

---

१६. वही, पृष्ठ २१३

प्राणात्मक जीवन और मानसिक जीवन, अवचेतन, चेतन और आत्मचेतन। निम्नतम वह है जिसमें कि स्पन्दन अब भी जड़ की निद्रा में पूर्णतया अवचेतन है ताकि पूर्णतया यन्त्रवत् प्रतीत हो। मध्यम स्थिति वह है जिसमें कि वह एक प्रतिक्रिया के योग्य हो जाता है जो अब भी अधिमानसिक है परन्तु उसकी सीमा पर है जिसको हम चेतना कहते हैं। सर्वोच्च वह है जिसमें जीवन मानसिक प्रत्यक्ष के योग्य संवेदन के रूप में चेतन मानसिकता विकसित करता है जोकि इस परिवर्तन में इन्द्रिय-मानस अथवा बुद्धि के विकास का आधार बन जाता है।[17] जीवन जड़ और मानस के बीच की कड़ी है। वह मानस के समान एक पृथक् तत्व अथवा गति नहीं है परन्तु उसकी प्रत्येक क्रिया में समस्त चेतन शक्ति उसके पीछे है और केवल यह चेतन शक्ति ही अस्तित्वमय है तथा उत्पन्न वस्तुओं में कार्य करती है।

जीवन तीन अवस्थाओं में होकर आगे बढ़ता है। अपने प्रारम्भिक रूप में वह एक विभाजित और अवचेतन संकल्प है जोकि रूप तथा उसके वातावरण के अन्तर्परिवर्तन पर शासन करने वाली यान्त्रिक शक्तियों के नियंत्रण में है। अपने अन्तिम रूप में वह एक सन्तुलन प्राप्त कर लेता है जोकि चेतन मानस की ओर उसके विकास के साथ-साथ बढ़ता जाता है। मध्य में हैं मृत्यु, इच्छा और सामर्थ्यहीनता, जो कि वातावरण की विषय और आत्मा के विस्तार, अधिकार तथा नियंत्रण की ओर संतोष और सुरक्षा की एक स्थिति के हेतु अस्तित्व के लिये संघर्ष को प्रेरित करता है। अलैक्जेंडर यह न देख सका कि जीवन तत्वों पर अधिकार रखता है और इस कारण देश-काल की व्यवस्था मात्र के रूप में उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। जीवन में आक्रामक प्रवृत्तियों की क्रीड़ा पर विशेष बल देते समय डार्विन यह भूल गया कि वह जीवन का केवल एक पहलू है। जैसे-जैसे जीवन मानस की ओर अथवा मानस अतिमानस और आत्मा की ओर बढ़ता है वैसे-वैसे आत्म-गौरव, आत्मरक्षा और संघर्ष की प्रवृत्तियाँ प्रेम, सहयोग और पारस्परिक सहायता के आधीन होती जाती हैं जोकि स्वयं भी क्रमशः अधिकाधिक परिस्कृत, सार्वभौम और आध्यात्मिक होती जाती हैं। डार्विन का सिद्धान्त मानसिक और अतिमानसिक स्तरों के तथ्यों की व्याख्या नहीं करता। जीवन के क्षेत्र में भी वह मृत्यु, इच्छा और सामर्थ्यहीनता की मध्यम अवस्था में ही कार्य करता है, प्रथम और तृतीय अवस्था में नहीं, जोकि प्रथम की विरोधी प्रतीत होने पर भी यथार्थ में उसकी पूरक ही है। अणु विभाजन का प्रतीक है क्योंकि वह संयोग से विनाश की प्रक्रिया का विरोध करता है। जीवन की द्वितीय अवस्था में प्राणात्मक अहं का भौतिक आधार समाप्त हो जाता है और सत् का सत् से अन्तर्परिवर्तन, अन्तर्मिश्रण और तादात्म्य होता है।

---

१७. वही, पृष्ठ २२५

तृतीय अवस्था में व्यक्ति की आत्मा की प्रतिष्ठा पारस्परिक अनुकूलता, अर्न्त-परिवर्तन और तादात्म्य के साथ होती है। यह मानस के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण होती है जिसका भौतिक जीवन के विरुद्ध नियम दान के द्वारा समृद्धि, आत्म-त्याग के द्वारा आत्म-संतोष है। जीवन के मूल स्तर में द्वितीय पद अव चेतन संकल्प द्वितीय अवस्था में भूख और इच्छा बन जाते हैं जोकि जीवन की तृतीय अवस्था में प्रेम की वृद्धि के साथ-साथ रूपान्तरित और परिपूर्ण हो जाते हैं। भौतिक जीवन में त्याग की कोई इच्छा नहीं होती परन्तु जैसे-जैसे जीवन और मानस की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता हुआ प्रेम बढ़ता है वैसे-वैसे आदान से प्रदान अधिक महत्वपूर्ण होता जाता है।

मानस

पिछले अध्यायों में हम मानस के विषय में श्री अरविन्द के विचारों का विस्तारपूर्वक विवेचन कर चुके हैं अतः यहाँ पर हम उसका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन करेंगे। तत्व रूप से मानस एक ऐसी चेतना है जोकि एक अविभाज्य पूर्ण से वस्तुओं के रूपों को नापती, सीमित करती और काटती है तथा उनको एक पृथक् पूर्ण के रूप में रखती है। वह वस्तुओं को एक पृष्ठभूमि अथवा समूह से कठोरता से पृथक् करके सोचता, देखता और अनुभव करता है और उनको सृष्टि अथवा अधिकार के लिये दिये हुए पदार्थ की निश्चित इकाइयों के रूप में प्रयोग करता है। यदि वह और भी परे जाकर एक यथार्थ पूर्ण को सोचने की चेष्टा करता है तो वह स्वयं को एक विदेशी तत्व में खो देता है जहाँ पर न तो वह देख पाता है, न सोच पाता है और न अनुभव कर पाता है। मानस सीमित जगत की सृष्टि का साधन है। परन्तु मूल चेतना में वह अज्ञान न होकर केवल सीमा निर्धारण की एक प्रक्रिया ही है। अतः मानस यथार्थप्रत्यय की एक पृथक् क्रिया न होकर केवल एक गौण शक्ति मात्र है।

८

विकास

"अनिश्चित जड़ पदार्थ से प्रकृति-शक्ति के द्वारा एक यंत्रवत्, क्रमिक और कठोर विकास के स्थान पर हम एक अतिचेतन ज्ञान द्वारा एक चेतन, सरल, नमनीय, अत्यधिक आश्चर्यमय और निरन्तर नाटकीय विकास के प्रत्यक्ष की ओर बढ़ते हैं जो वस्तुओं को जड़ जीवन और मानस के एक ऐसे अगाध अचेतन से निकालकर प्रगट करती है जिससे वे उदित होते हैं।"[१] —श्री अरविन्द

मानस से अतिमानस की ओर

परन्तु मानस सृष्टि के कार्य को चलाते रहने के लिये उठाता है समाप्त करने के लिये नहीं। इस प्रकार स्पेन्सर और डार्विन के सिद्धान्तों के विरुद्ध श्री अरविन्द विकास-क्रम को बर्गसाँ और अलैक्जेंडर के मतों के समान उन्मुक्त मानते हैं। परन्तु इस अवस्था में गति अधिक तीव्र और अबाध हो जाती है क्योंकि अब तक के अज्ञान में होने वाले विकास के विरुद्ध अब यह क्रम ज्ञान के अधिकाधिक ऊँचे स्तरों से गुजरता है जब तक कि वह सच्चिदानन्द तक नहीं पहुँच जाता। मानस और अतिमानस के स्वभाव में भारी अन्तर के कारण उनमें श्रेणियाँ होना स्वाभाविक ही है अन्यथा आरोहण और अवरोहण कठिन हो जाता है। यह सत्य है कि जड़ से जीवन और जीवन से मानस पर पहुँचने में क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है परन्तु धीमे क्रमविकास के कारण वह बुद्धिग्राह्य और संभव हो गया है। मानस और अतिमानस में और भी अधिक व्यवधान है। जब हम मानस से परे उठते हैं तब हमारी शान्त आत्मा में प्रकाश, ज्ञान, शक्ति, आनन्द तथा अन्य असाधारण शक्तियों का विशाल गतिशील अवरोहण होता है।

उच्च मानस

उच्च-मानस (Higher Mind) आत्मा की भारी स्पष्टता का मानस है।

---

१. एवाल्यूशन, पृष्ठ ४

वह एक ज्योतिर्मय विचार-मन, एक आध्यात्मिक प्रत्ययजनित ज्ञान का मन है। "तेजी से, विजय की भावना, विविधता से विचार करते हुए, बनाते हुए और प्रत्यय की आत्म शक्ति से उसके विचारों की प्रभावोत्पादक रूप में अनुभूति करते हुए, स्वयं में स्थित तादात्म्य, सत्यों को ले जाने वाले मौलिक तादात्म्य से उत्पन्न होने वाली एक सर्वज्ञता ही ज्ञान के इस उच्चतर मानस का स्वभाव है।"[२] उच्च-मानस में जो ज्ञान हमको होता है वह सर्वांग तो नहीं परन्तु सम्पूर्ण अवश्य है। वह एक नित्य ज्ञान की आत्माभिव्यक्ति है। वह सरल प्रत्ययों में स्वतन्त्रता से स्वयं को प्रगट कर सकता है परन्तु उसकी सर्वाधिक स्वाभाविक गति है सामूहिक प्रत्यय, एक ही झांकी में सत्य दर्शन की एक व्यवस्था अथवा सामूहिकता। प्रत्यय के प्रत्यय से और सत्य के सत्य से सम्बन्ध तर्क से नहीं स्थापित किये जाते परन्तु पहले से ही उपस्थित रहते हैं और एक सर्वांग पूर्ण में पहले ही से आत्मदर्शित उत्पन्न होते हैं। ज्ञानात्मक पहलू के अतिरिक्त उच्च मानस का एक संकल्प तथा अनुभूति का पहलू भी है। वह ज्ञान के द्वारा ही शुद्ध करता है, मुक्त करता है और रचना करता है। हृदय और जीवन विचार के प्रति सचेत बन जाते हैं और उनकी गतियों का प्रत्युत्तर देते हैं। अनुभूतियाँ, संकल्प और क्रियाएँ इस उच्चतर ज्ञान के स्पन्दन बन जाते हैं। यह विचार शरीर में भी कार्य करता है ताकि उसमें रोग के प्रति आस्था और स्वीकृति के स्थान पर स्वास्थ्य का शक्तिशाली विचार अथवा संकल्प आ जाता है अथवा शक्ति का विचार शक्ति के सार, आवेग, गति और स्पन्दन का आह्वान करता है। विचार अपने अनुकूल शक्ति उत्पन्न करता है और उसको हमारे मानस, जीवन और जड़ पर आरोपित करता है।

ज्ञान दीप्त मानस

उच्च-मानस का अवरोहण संश्लिष्ट नहीं करता बल्कि, केवल एक उच्चतर शक्ति ज्ञानदीप्त मानस (Illumined Mind) के आरोहण के लिये आधारभूमि बनाता है। यह एक आध्यात्मिक ज्योति का मानस है, एक ज्योतिर्मय आन्तरिक वेग और शक्ति जोकि उच्च मानस की मन्द और क्रमिक प्रक्रिया की तुलना में एक तीव्र और क्रान्तिकारी रूपान्तरण करता है। यहाँ पर विचार दृष्टि के आधीन है जोकि स्वयं सत्य को पकड़ता है केवल उसके प्रतिबिम्ब को नहीं। "जिस प्रकार उच्च मानस आध्यात्मिक विचार और उसकी सत्य की शक्ति के द्वारा जीव में एक उच्चतर चेतना लाता है उसी प्रकार ज्ञान दीप्त मानस एक सत्य-दृष्टि और सत्य-प्रकाश के द्वारा और उसकी देखने और पकड़ने की शक्ति से एक और भी उच्चतर चेतना लाता है।"[३] जिस प्रकार उच्च मानस विचार

---

३. वही, भाग १, पृष्ठ ३३४

२. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ७८८

को रूपान्तरित और परिपूर्ण करता है उसी प्रकार ज्ञान दीप्त मानस दृष्टि को रूपान्तरित और परिपूर्ण करता है। वह एक और भी शक्तिशाली और गतिशील संश्लिष्टता उत्पन्न कर सकता है। वह हृदय में एक आध्यात्मिक दृष्टि लाता है और उसकी अनुभूति और संवेग में एक आध्यात्मिक प्रकाश और शक्ति। वह जीवन शक्ति को एक आध्यात्मिक प्रेरणा देता है जोकि क्रिया को गतिमान करती और जीवन की गतियों को ऊँचा उठाती है। वह इन्द्रियों में आध्यात्मिक संवेदना की एक प्रत्यक्ष और सम्पूर्ण शक्ति भर देता है ताकि हमारा प्राण और भौतिक जीव भी समस्त वस्तुओं में दैवी सत्ता का स्पर्श कर सके। वह भौतिक मानस पर एक रूपान्तरकारी प्रकाश फेंकता है जोकि उसकी परिमितताओं, तन्द्रा, संकीर्ण विचार शक्ति और संदेहों को तोड़ देता है।

संबोधिमय मानस

उच्च मानस और ज्ञान दीप्त मानस दोनों ही अपने अधिकार के लिये एक उच्चतर शक्ति संबोधिमय मानस (Intuitive Mind) पर निर्भर रहते हैं। वह ज्ञान अथवा दृष्टि के द्वारा कार्य नहीं करता बल्कि सहज ज्ञान के द्वारा कार्य करता है जिसका हम तृतीय अध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुके हैं। वह केवल मानस को ही नहीं बल्कि हृदय, जीवन, इन्द्रियों और शरीर तक को रूपान्तरित करता है। वह समस्त चेतना को संबोधि के तत्व में परिवर्तित कर देता है क्योंकि वह संकल्प, अनुभूतियों और संवेगों में स्वयं अपनी उच्चतर ज्योतिर्मय गति लाता है। वह जीवन और शरीर का सत्य के प्रकाश और शक्ति में पुनर्निर्माण करता है।

अधिमानस

संबोधिमय मानस के परे अधिमानस (Over Mind) है जोकि अज्ञान में अतिमानस का प्रतिनिधि है। अधिमानस और अतिमानस को विभाजित करने वाली रेखा मुक्त आदान-प्रदान के लिये स्थान छोड़ देती है। अधिमानस में अतिमानस की संश्लिष्टता नहीं होती परन्तु फिर भी वह संपूर्ण को आत्मसात करता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "जो मानसिक बुद्धि के लिये असंगत भेद हैं वे अधिमानस बुद्धि के सन्मुख साथ-साथ रहने वाले परस्पर सम्बन्धी है"। जो मानसिक बुद्धि के लिये विरोधी हैं "वे अधिमानसिक बुद्धि के लिये पूरक हैं।"[४] वह पूर्ण और अविभाज्य सर्वव्यापी एकता की शक्तियों और पहलुओं के पृथक्करण और संयोग की एक असीम सामर्थ्य के द्वारा आगे बढ़ता है। इस प्रकार अधि-

४. वही, पृष्ठ ३३९

मानस में विभाजन का उद्‌गम है परन्तु फिर भी उसका आधार अब भी एक अन्तःस्थ एकता है। पृथक् की हुई शक्तियों और पहलुओं में सम्बन्ध और संयोग की सभी संभावनाएँ यहाँ पर मुक्त रूप से संगठित होती हैं। इस प्रकार वह सच्चिदानन्द को असीम संभावनाओं से परिपूर्ण स्वरूप प्रदान करता है जो कि अनेक जगत में विकसित की जा सकती है अथवा एक ही जगत में एकत्रित फेंकी जा सकती है।

फिर, मानस के विरुद्ध अधिमानस चेतना अपने ज्ञान में सार्वभौम है और कितने ही मौलिक प्रतीत होने वाले भेदों को एक सामंजस्यपूर्ण दृष्टि में बांध सकती है। अधिमानस एक प्रकार का निम्न अतिमानस है यद्यपि वह निरपेक्षों की अपेक्षा व्यावहारिक सत्यों से ही अधिक सम्बन्धित है और पूर्ण न होकर सार्वभौम ही है। केवल अधिमानस में ही हम पूर्ण का एक यथार्थ सामंजस्य अनुभव करते हैं जोकि मानस के लिये सम्भव नहीं है। अज्ञान की मानसिक माया के विरुद्ध, अधिमानसिक माया ज्ञान की है। इस स्तर पर विश्वमानस स्वयं अपनी एकता को अनुभव के द्वारा जानता है। उसकी इकाइयों में पारस्परिक व्याप्ति नहीं बल्कि केवल सह-अस्तित्व है। वह आत्मा अथवा जगत का एक सत्य और पूर्ण ज्ञान न होकर एक एकांगी ज्ञान है। परन्तु फिर भी मानवीय मानस के विरुद्ध यहाँ पर सामंजस्य, आदान-प्रदान और पारस्परिकता की शक्ति और मानसिकता की उन्मुक्त क्रीड़ा रहती है। उसका अज्ञान सीमित करने वाला है परन्तु सदैव असत्य बनाने वाला नहीं।

बोधिमय मानस द्वारा किया हुआ परिवर्तन अतिमानस के आरोहण से पूर्ण होता है। यह चेतना का ऊर्ध्वोन्मुख ही नहीं बल्कि क्षैतिजीय विस्तार भी चाहता है। इस स्तर पर विचार, अनुभूति और संवेग सभी सार्वभौम, सर्वव्यापी, उदार, असीम और आध्यात्मिक बन जाते हैं। वह जो कुछ निम्न तीन पदों में है उसको ले लेता है और उनकी स्वाभाविक क्रियाओं को, उनमें चेतना और शक्ति को एक सार्वभौम विस्तार, ज्ञान का एक सामंजस्यपूर्ण राग और सत् का एक और भी विविध आनन्द जोड़ते हुए उनकी उच्चतम और विशालतम शक्ति पर ले जाता है। परन्तु अधिमानस सम्पूर्ण प्रकृति का रूपान्तरण नहीं कर सकता। ना ही वह अचेतन के अधोमुखी वेग को ही रोक सकता है। अतः सम्पूर्ण प्रकृति का एक पूर्ण सर्वांग रूपान्तरण प्राप्त करने के लिये अतिमानस का अवरोहण अनिवार्य है। अतिमानस का हम छठे अध्याय में पहले ही वर्णन कर चुके हैं।

कोई कठोर व्यवस्था नहीं

परन्तु उपरोक्त विवेचन आध्यात्मिक आरोहण का कोई स्पष्ट, तार्किक और

कठोर वर्णन नहीं है क्योंकि "जब उच्चतर निम्न चेतना में अवरोहण करता है वह निम्न को परिवर्तित कर देता है परन्तु उससे स्वयं भी संशोधित और न्यून हो जाता है। जब निम्न का आरोहण होता है तब उसका उन्नयन (Sublimation) होता है परन्तु तभी वह उन्नयनकारी पदार्थ और शक्ति में परिवर्तन कर देता है।"[५] इस प्रकार यह सत्य होते हुये भी कि आरोहण केवल तभी संभव है जबकि निम्न स्तर भी पूर्णतया संश्लिष्ट हो चुका हो, प्रकृति में हेगेलीय विकासवाद के समान कोई तार्किक क्रम नहीं है बल्कि विकासमान शक्तियों की एक सम्पूर्णता है जोकि परस्पर गुम्फित होकर एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। अतः विभिन्न मध्यम शक्तियों और जीवों की सृष्टि होती है और किसी एक शक्ति से पूर्ण संयोग कठिन हो जाता है। श्री अरविन्द ने अधिमानस की एक उठते हुए सागर, एक लहर, अथवा चढ़ते हुए ज्वार से उपमा दी है जोकि एक पहाड़ी की उच्चतर श्रेणियों को छूता है अबकि शेष अभी नीचा ही रहता है, अथवा "एक दलों में विभक्त बढ़ती हुई सेना जोकि नवीन भूमि पर अधिकार जमा लेती है जबकि मुख्य भाग अब भी विजित भूमि में पीछे छूट जाता है जोकि भली प्रकार अधिकृत करने के लिये अधिक बड़ी है जिससे कि आधीन देश का संगठन करने और उस पर अधिकार का निश्चय रखने तथा उसकी जनता को मिलाने के लिये बारम्बार रुकना और विजित क्षेत्र में पुनः लौटना आवश्यक होता है।"[६] अतः प्रत्येक अवस्था में प्रकृति के उच्चतर भाग एक नवीन चेतना में कुछ समय के लिये और अपूर्ण रूप में संगठित किये जा सकते हैं जबकि निम्न परिवर्तन मूल रूप में ही है। निम्न के भली प्रकार संश्लिष्ट होने पर उच्च स्तर प्रगट होता है परन्तु उच्च के प्रादुर्भाव और उसके प्रभाव से ही निम्न का पूर्ण संगठन होता है। यह क्लिष्ट इसलिये होती है क्योंकि प्रकृति पर अपने प्रभाव की तीव्रता के कारण प्रत्येक अवतरित होने वाली शक्ति उसको उच्चतर स्तरों पर उठाती है। संश्लिष्टता के स्वभाव के कारण ही प्रक्रिया और भी अधिक गहन जाती है जिसमें आरोहण के साथ-साथ अवरोहण की भी आवश्यकता होती है। यह अवरोहण निम्न प्रकृति के कारण बाधित और विच्छिन्न हो जाता है और इस कारण उच्चतर प्रथम अवतरित स्तर के पूर्ण रूपान्तरण की प्रतीक्षा नहीं करता बल्कि सबको अंशतः रूपान्तरित करते हुए अवतरित होता चला जाता है जिससे कि "जब तक सब कुछ प्राप्त नहीं होता तब तक कुछ भी प्राप्त नहीं होता।"[७] अन्त में वैयक्तिक विकास में इस तथ्य के कारण और भी गहनता आ जाती है कि चेतना के सभी स्तरों का समान रूप में साथ-साथ रूपान्तरण नहीं होता क्योंकि आन्तरिक तत्व बाह्य से अधिक शीघ्र परिवर्तित होता है। मानव का पूर्ण रूपान्तरण तभी हो सकता है जबकि केवल आन्तरिक ही नहीं बल्कि बाह्य चेतना भी आध्यात्मिक हो

५. वही, भाग २, पृष्ठ ८०७

६. वही, पृष्ठ ८०८

जाये। यह तब तक संभव नही है जब तक सम्पूर्ण प्रकृति आध्यात्मिक न हो जाये क्योंकि बाह्य चेतना केवल हम से ही नहीं बल्कि वातावरण से भी बनती है। परन्तु अतिमानस तत्व और उसकी विश्वजनीन क्रिया के एक बार स्थायी रूप से स्थापित हो जाने के पश्चात् अधिमानस और आध्यात्मिक मानस की शक्तियाँ उस पर सुरक्षित रूप में स्थापित हो सकती हैं और अपनी पूर्णता को पहुंच सकती हैं। जगत सत्ता में वे मानस और भौतिक जीवन से लेकर परम आध्यात्मिक स्तर तक जाने वाली चेतना की अवस्थाओं की एक क्रमबद्ध शृंखला बन जायेंगे। इसी की समस्त धर्मों ने भूतल पर स्वर्ग के राज्य के रूप में कल्पना की है।

दो गोलार्द्ध

विकास की यह समस्त शृंखला दो गोलार्द्धों में विभाजित की गई है पर और अपर। चेतना के जगत के परार्द्ध और अपरार्द्ध में एक रेखा खींच दी गई है। यह रेखा है अधिमानस जोकि स्वयं ज्योतिर्मय होने पर भी पूर्ण अविभाज्य अतिमानसिक ज्योति को हमसे पृथक् रखता है। परार्द्ध सत्, चिद्, आनन्द और महस (अतिमानसिक) से बना है तथा अपरार्द्ध मानस, जीवन और जड़ से। इस प्रकार दोनों गोलार्द्ध मानस और अतिमानस की सीमा पर मिलते हैं। इस आवरण को भेदना तथा निम्न का उच्च में अवरोहण ही मुख्य समस्या है।

मानव का आरोहण

विवर्तन सच्चिदानन्द के जड़ पदार्थ में निवर्तन से प्रारम्भ होता है। अतः वह उच्चतर रूपों में होकर सत्, चिद् और आनन्द की क्रमशः अभिव्यक्ति है। सत्ता सर्वप्रथम जड़ पदार्थ में उत्पन्न होती है। चेतना सर्वप्रथम प्राणात्मक और फिर मानसिक जीवन में प्रगट होती है। मानव को प्रादुर्भाव विश्व विकास में एक मोड़ उत्पन्न करता है। भौतिक मानव, प्राणमय मानव और मानसिक मानव, आध्यात्मिक मानव की सृष्टि की ओर प्रकृति के विकासोन्मुख कदम हैं। आध्यात्मिक मानव में प्रकृति को एक नवीन आरोहण करना है। वह गत प्रक्रिया से दो बातों में भिन्न है। उसमें मानव मन के चेतन प्रयत्न की आवश्यकता है और वह व्यक्ति का आन्तरिक बाह्य और ऊपर, चैत्य आत्मा, जगत और ईश्वर की ओर विस्तार करता है। यहाँ पर अज्ञान तीव्रता से ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। सम्भवतया यह सामूहिक आरोहण न हो परन्तु उसमें आदर्श सार्वजनीन प्रयत्न और चेतन एकाग्रता अनिवार्य है। इस नवीन परिवर्तन का आधार सर्वांग चेतना होगी।

---

७. वही, पृष्ठ ८०६

इस प्रकार श्री अरविन्द की विकास की योजना में केवल आरोहण ही नहीं बल्कि रूपान्तरण (Transformation) और चैत्यीकरण (Psychisization) भी है। श्री अरविन्द के अनुसार "चैत्यीकरण का अर्थ है मानस में सम्यग् दृष्टि, प्राण में सम्यग् प्रवृत्ति और अनुभूति, शरीर में सम्यग् गति और आदत लाकर, सब कुछ दैवी शक्ति की ओर मोड़कर, सब कुछ प्रेम, पूजा, भक्ति पर आधारित करके, अन्त में सब कहीं माता का ध्यान और अनुभूति, सब में तथा हृदय में उसकी शक्ति जीव इत्यादि में कार्य करती हुई, श्रद्धा, निवेदन, समर्पण इत्यादि से निम्न प्रकृति का परिवर्तन।"[८] आन्तरिक चैत्य पुरुष का विकास समस्त योग और मानव विकास की कुँजी है। यह चैत्य पुरुष मानव में अन्तःस्थ यथार्थ व्यक्ति, यथार्थ आत्मा है। इस प्रकार विकास आन्तरिक भी है। वह सार्वभौम भी है और व्यक्तिगत भी है। परन्तु पूर्ण रूपान्तरण के लिये चैत्यीकरण ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिये अतिमानस के अवरोहण की भी आवश्यकता है। केवल तभी अज्ञान पूर्णतया ज्ञान में परिवर्तित हो सकता है। इस अतिमानस अवरोहण और परिणामस्वरूप अतिमानव के विकास का आगे दशम अध्याय में वर्णन किया गया है।

यांत्रिकता के साथ नव्योत्क्रान्ति

श्री अरविन्द के विकासवाद में यांत्रिकता भी है और नव्योत्क्रान्ति भी, नियन्त्रण भी है और स्वतन्त्रता भी। जगत एक परम सत्ता है जोकि सत्ता की एक असीम शक्ति के साधन से और अपने आनन्द के स्वभाव में स्वयं को अपने स्वयं के प्रत्ययजनित विस्तार में देशकाल के रूप में ढाल रही है। सृष्टा अतिमानस है परन्तु वह सच्चिदानन्द की एक शक्ति है। अतः विकास की प्रक्रिया मुक्त और सच्चिदानन्द द्वारा आत्मारोपित और स्वयं नियंत्रित है क्योंकि वह निरपेक्ष असीम तथा वस्तु जगत का सार है और उसमें ज्ञान, शक्ति और संकल्प के अगणित रूपों में अभिव्यक्त होने की असीम सामर्थ्य है। दैवी सत्ता मुक्त है यद्यपि निरंकुश नहीं है।[९] जगत कोई आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं है बल्कि परम की एक आत्माभिव्यक्ति हैं। अग्राह्य जगत की विज्ञान के नियमों द्वारा बुद्धिग्राह्यता के पीछे यही रहस्य है। प्रकृति की प्रक्रियायें हमें इसी कारण यंत्रवत प्रतीत होती हैं क्योंकि उनमें प्रयोजन छिपा हुआ है। सच तो यह है कि

---

८. श्री अरविन्द मन्दिर एनुअल. सं० ६, अगस्त १९२७, पृष्ठ ४१

९. "दैवी सत्ता भी क्रीड़ा के नियमों के अनुसार कार्य करती है। वह उनको बदल सकती है परन्तु उसे पहले उन्हें बदलना है, उन अवस्थाओं को स्थिर रखते हुये चमत्कारों की शृंखला तथा कार्य करने के लिये आगे नहीं बढ़ना है।"

—श्री अरविन्द : मदर इण्डिया, दिसम्बर १९५२, पृष्ठ ६२

कुछ भी बाहर से उत्पन्न नहीं होता। प्रत्येक वस्तु चेतन शक्ति से क्रमशः अभिव्यक्त होती है क्योंकि दैवी रचना में सत्ता का चेतना से निकट सम्बन्ध है। अतः हम प्रकृति में गुण और परिमाण में एक निकट सम्बन्ध पाते हैं। यथार्थ-प्रत्यय में सब कुछ बीजरूप से उपस्थित है। यही कारण है कि क्यों एक बीज से एक वृक्ष उत्पन्न होता है। श्री अरविन्द का प्रकृति के प्रयोजन में दृढ़ विश्वास है। "रचित वस्तु यथार्थ वस्तु की ओर आकर्षित होती है। संभूति सत् की ओर प्राकृतिक प्रकृति से परे, चिह्न वस्तु की ओर, प्रकृति ईश्वर की ओर आकर्षित होती हैं।"[10] क्योंकि चेतना जड़ में निवर्तित है अतः हम जीवाणु में वंशानुक्रम-जनित विशेषतायें पाते हैं। यही देहात्म सम्बन्ध के मूल में भी है जिसकी श्री अरविन्द ने एक ऐसी चेतना द्वारा व्याख्या की है जोकि दोनों का ही आधार है। जड़ पदार्थ आत्मा के विकास में एक अवस्था है जबकि मानस केवल एक उच्चतर अवस्था है। उच्च निम्न का नियंत्रण कर सकता है निम्न उच्च का नहीं। स्वयं शरीर को ही आध्यात्मिक बनाया जा सकता है। प्रकृति में आध्यात्मिक तत्व को चेतना की अपने विरोधी तत्वों में उत्पत्ति द्वारा समझाया जा सकता है। "....जो कुछ उत्पन्न होता है वह उससे उच्चतर है जिसमें वह उत्पन्न होता है जैसे कि मानस जड़ पदार्थ से अधिक उच्च है, जीव, मानस से, और आत्मा, सबसे अधिक गुप्त, परम उत्पत्ति, अन्तिम अभिव्यक्ति, सबसे महान् है।"[11]

शाश्वतता और तारतम्यता

श्री अरविन्द के अनुसार विकास कोई घटना नहीं है। दैवी सत्ता किसी विशेष तिथि पर जड़ पदार्थ में अवतरित नहीं होती। वह शाश्वत है और केवल बुद्धि की स्वाभाविक सीमितता के कारण कालक्रम के रूप में दिखाई पड़ती है। "अचल से उत्पत्ति और गति एक शाश्वत तथ्य है और क्योंकि हम उसका अनादि, अनन्त तथा नित्य नवीन क्षण में जोकि कालातीत की शाश्वतता है विचार नहीं कर सकते इसीलिये हमारे विचार और प्रत्यक्ष उसको क्रमागत स्थिति की एक कालात्मक शाश्वतता में रखने को बाध्य हैं जिसमें सदैव आवृति करने वाले आदि, मध्य और अन्त के विचार जुड़े हैं।"[12]

विकास सतत् है। उसमें सदैव ही एक भूत, भविष्य और वर्तमान होता है जब तकव कि आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति न हो जाय। सच्चिदानन्द स्वयं प्रत्येक वस्तु के पीछे है और इस कारण जहाँ पर जगत में एक तत्व की अभिव्यक्ति होती है वहाँ पर शेष सभी केवल उपस्थित और निष्क्रिय रूप में छिपे ही नहीं

---

११. श्री अरविन्द : श्री अरविन्द मन्दिर एनुअल, सं० ११, पृष्ठ ३३

१०. श्री अरविन्द : द लाइफ़ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ७१

१२. वही, भाग १, पृष्ट ६२

रहते बल्कि गुप्त रूप से कार्य करते रहते हैं। प्रगति विराम अथवा चमत्कार से नहीं होती। आत्मा की अभिव्यक्ति एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें अन्य सब एक आध्यात्मिक पूर्ण के तत्वों के रूप में रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक में प्रत्येक है। जिस प्रकार जड़ पदार्थ अवरोहण में अन्तिम पद है उसी प्रकार वह आरोहण में प्रथम पद है। जो कुछ निर्वतित है उसका विवर्तन भी होना चाहिये। जिस प्रकार ये समस्त स्तर, जगत, श्रेणियाँ और क्रम भौतिक सत्ता में निर्वतित हैं उसी प्रकार वे उससे विवर्तित होने के भी योग्य हैं।

आरोहण और अवरोहण

विकास में प्रेरणा दो प्रकार की हैं नीचे से वेग और ऊपर से दबाव। इस प्रकार मोक्ष के प्रयोजन को अतिमानसिक स्तरों द्वारा जड़ पदार्थ पर दबाव से बड़ी सहायता मिलती है जोकि उसको उनके अन्दर से निर्वतित तत्व और शक्तियों का विकास करने के लिये बाध्य करता है। उच्चतर स्तरों की इस उत्पत्ति से निम्न को एक नवीन मूल्य मिलता है। यह तांत्रिक सिद्धान्तों में सम्भव नहीं है क्योंकि वहाँ पर निम्न स्तर केवल निष्क्रिय रूप में ग्रहण कर सकते हैं, सम्पर्क को मूल्यों में परिवर्तित नहीं कर सकते। समस्त भागों को उच्च, गहन, सूक्ष्म, उत्तम और समृद्ध बनाने का यह कार्य आत्मा का है। अतः जड़, प्राण अथवा मानस के सिद्धान्तों में वह सम्भव नहीं है।

संश्लिष्टता

इस प्रकार सर्वांग विवर्तन में तीन प्रकार का विकास है। जड़ पदार्थ के रूपों का चेतना की एक विकासोन्मुख, गहन और सूक्ष्म व्यवस्था की क्रिया के द्वारा अधिकाधिक सूक्ष्म और गहन संगठन एक अनिवार्य भौतिक आधार है। उच्च से उच्चतर श्रेणी की ओर एक विकास, एक आरोहण, एक अनिवार्य वर्तुलाकार पंक्ति है जोकि विकास में अवश्य होनी चाहिये। इस प्रकार जो कुछ विकसित हो चुका है उसको प्रत्येक उच्चतर श्रेणी में लेना और उसके पहुंचने पर सम्पूर्ण पुरुष और प्रकृति की एक पूर्ण परिवर्तित क्रिया को सम्मिलित करने के लिये एक रूपान्तर भी उतना ही अनिवार्य है। यह संश्लिष्टता की ओर ले जाता है। नीत्शे के प्राचीन के अवशेष से नवीन के उदय के विचार के विरुद्ध सर्वांग विकास में चेतना की शक्ति क्रमशः विभिन्न स्तरों के आविर्भाव की ओर ले जाते हुये, किसी को न छोड़ते हुये बल्कि सभी को अपनी वर्तुलाकार गति में संश्लिष्ट करते हुए अभिव्यक्त पुरुष में क्रमशः गहन होती जाती है। मानव के सात प्रकार के अज्ञान से सात प्रकार के ज्ञान की ओर आरोहण में हमारी मानसिक, भौतिक और प्राणात्मक सत्ताओं के आध्यात्मिक होने से न्यून और क्षत होने की आवश्यकता नहीं परन्तु वे और भी अधिक समृद्ध महान् शक्ति-

शाली और पूर्ण बन जाती हैं। अपने दैवी परिवर्तन में उनमें ऐसी सम्भावनायें बन जाती हैं जोकि आध्यात्मिक के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में व्यावहारिक अथवा कल्पनीय नहीं हैं।

अनेक लोक

सर्वांग विकास केवल जड़ जगत तक ही सीमित नहीं है। अन्य उच्चतर स्तर भी इस प्रक्रिया में भाग लेते हैं। आत्मा में अपनी अभिव्यक्ति को केवल जड़ तत्व पर ही नहीं बल्कि मानस अथवा जीवन तत्व पर भी आधारित करने की सामर्थ्य होनी चाहिये। अतः मानस और जीवन के लोकों की सत्ता की परिकल्पना तर्कहीन नहीं है। हमारे भौतिक जगत के अतिरिक्त सूक्ष्मतर और अधिक नमनीय तथा चेतन जड़ पदार्थ पर आधारित लोक भी हो सकते हैं। इन लोकों की सत्ता का प्रमाण क्या है? उनका स्वभाव और जड़ जगत से उनका सम्बन्ध क्या है? इन प्रश्नों के उत्तरों की खोज करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि अतिभौतिक लोकों के लिये भौतिक प्रमाण की मांग असंगत है। वे हमको केवल अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित कर सकते हैं और हम उनको सूक्ष्म इन्द्रिय सम्पर्क, मानस सम्पर्क, जीवन सम्पर्क और प्रच्छन्न चेतना इत्यादि के सम्पर्क से जानते हैं। यह अनुभव विभिन्न प्रकार का हो सकता है यथा भौतिक, प्राणात्मक, मानसिक, आध्यात्मिक, प्रच्छन्न इत्यादि। भूल की सम्भावना के आधार पर इस अनुभव की अवहेलना नहीं की जा सकती क्योंकि भूल तो बाह्य इन्द्रियों के अनुभव के विषय में भी सम्भव है। अतिभौतिक लोकों की सत्ता का निषेध करने के लिये प्रयुक्त मनोवैज्ञानिक अथवा तार्किक युक्तियाँ भौतिक जगत पर भी लागू होती हैं। इन लोकों की कल्पना में हम विकास की प्रक्रिया में उनके विभिन्न स्तरों की पूर्ण क्रीड़ा पाते हैं। अतः वे केवल विकास के स्तर ही नहीं हैं बल्कि समानान्तर स्तर भी हैं जोकि जड़ विकास की प्रक्रिया और मानव जीवन पर प्रभाव डालती हैं।

विकास का "क्यों"

श्री अरविन्द ने विकास के "क्यों" की सच्चिदानन्द के आनन्द से व्याख्या की है। ब्रह्म सापेक्ष और प्रपञ्चात्मक चेतना के रूपों में अपनी आत्माभिव्यक्ति का आनन्द लेने के लिये जगत में अभिव्यक्त होता है। "ब्रह्म इस संसार में जीवन के मूल्यों में अपना प्रतिनिधित्व करने के लिये है।"[१३] विकास के "क्यों" का यह प्रश्न अलैक्जैण्डर, बर्गसाँ, सांख्य अथवा डार्विन के सिद्धान्तों में नहीं उठता जहाँ पर कि मूल आधार अचेतन हैं क्योंकि वहाँ पर समस्त गति उस आधार के

१३. वही, पृष्ठ ४४

स्वभाव के कारण है। परन्तु जैसे ही हम श्री अरविन्द के साथ सत्ता को चेतन सत् के रूप में मान लेते हैं वैसे ही यह प्रश्न उठता है कि आखिर उसकी अभिव्यक्ति का प्रयोजन क्या है ? चेतन सत्ता में इच्छानुसार अभिव्यक्त होने की आन्तरिक स्वतन्त्रता होती है। आनन्द ही उसकी गति और रूप में क्रीड़ा का एकमात्र कारण हो सकता है। श्री अरविन्द के अनुसार "समस्त सीमाहीनता, समस्त अनन्तता, समस्त निरपेक्षता शुद्ध आनन्द है।"[१४] सभी वस्तुयें सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति हैं। आनन्द शब्द का अर्थ सुख नहीं है जिसका उपभोग करने वाला सीमित और अपूर्ण होता है। सत् का आनन्द सार्वभौम, असीम, आत्मस्थित और विशेष कारणों से मुक्त होता है। वह समस्त पृष्ठभूमि की पृष्ठभूमि है जिससे सुख, दुःख तथा अन्य अधिक तटस्थ अनुभवों का प्रादुर्भाव होता है। जब सत् का आनन्द स्वयं को संभूति के आनन्द में प्रगट करने की चेष्टा करता है तब वह शक्ति की गति में चलता है और स्वयं गति के विभिन्न रूप ग्रहण कर लेता जिसकी सुख और दुःख विभिन्न धाराएँ हैं। जड़ में अवचेतन, मानस के परे अतिचेतन यह आनन्द संभूति में उदय होकर जीवन और मानस से अपना साक्षात्कार करने की चेष्टा करता है। उसकी प्रथम अभिव्यक्ति द्वैतमय और अशुद्ध है। यह सुख और दुःख के बीच घूमता है। परन्तु उसका लक्ष्य सत् के परम आनन्द की विशुद्धता में आत्माभिव्यक्ति है जोकि आत्मस्थित और वस्तुओं और कारणों से स्वतन्त्र है। जिस प्रकार सच्चिदानन्द व्यक्ति में सार्वभौम सत्ता और शरीर तथा मानस में चेतना से अधिक रूप के साक्षात्कार की ओर बढ़ता है उसी प्रकार वह विशेष अनुभवों और वस्तुओं के प्रपञ्च में सार्वभौम, आत्मस्थित और निर्विषय आनन्द के साक्षात्कार की ओर बढ़ता है। आनन्द उस अस्तित्व के प्रति आग्रह उस विकास के बलशाली संकल्प का कारण है जो आत्मरक्षा की मूलप्रवृत्ति और जड़ की अनश्वरता में पाई जाती है। मानसिक स्तर पर वह अमरत्व की अनुभूति के रूप में प्रगट होता है जोकि रूपात्मक सत्ता के आत्म विकास की सभी अवस्थाओं में उसके साथ रहती हैं और आत्म विनाश की आकस्मिक प्रवृत्ति भी जिसका केवल एक उल्टा रूप है। "आनन्द अस्तित्व है, आनन्द सृष्टि का रहस्य है, आनन्द उत्पत्ति का मूल है, आनन्द सत्ता के रहने का कारण है, आनन्द जन्म का अन्त है और वह भी जिसमें कि सृष्टि समाप्त होती है।"[१५] अस्तित्व का आनन्द सर्वप्रथम स्वयं एकत्रित, सोखा हुआ और भौतिक जगत के आधार में अवचेतन होता है, तब तटस्थ गति के एक विशाल द्रव्य में आविर्भूत जोकि अब संवेदन नहीं है। मानस और उसके विश्व शक्ति के आघातों के सन्मुख रहने से जिसको कि वह अपने माप और स्तर के सामंजस्य में नहीं पाता, निकलते हुये सुख, दुःख

---

१४. वही, पृष्ठ ११०

१५. वही पृष्ठ १०१

और तटस्थता के स्पन्दनों में उत्पन्न होता है। अन्त में है सार्वभौमिकता, समानता, आत्माधिकार और प्रकृति की विजय के द्वारा पूर्ण सच्चिदानन्द की अपनी सृष्टि में चेतन उत्पत्ति।

अशुभ, दुःख, भूल और असत्यता की समस्या

इस प्रकार के सिद्धान्त में अशुभ, दुःख, भूल और असत्य की समस्या आ जाती है। क्या दैवी सत्ता अपने शुद्ध आनन्द में अशुभ और असत्य उत्पन्न कर सकती है? यदि हाँ तो वह किस प्रकार शैतान से भिन्न है? यदि नहीं तो फिर ये सब कहाँ से आये? जब यह सब कुछ दैवी सत्ता है तब वह स्वयं ही इस सब का कारण होना चाहिये। परन्तु फिर ईश्वर शुभ कैसे है? केवल दुर्बोध रहस्य कहने मात्र से यह समस्या हल नहीं होती क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ है। दूसरी ओर, ईश्वर के विरोध में इस सब की रचना करने वाले शैतान की परिकल्पना से दैवी सत्ता को सीमित और अशक्त मानना पड़ता है।

अशुभ के पूर्ण निषेध अथवा पूर्ण स्वीकार के मतों के विरुद्ध श्री अरविन्द ने पाप की यथार्थता तो मानी है परन्तु उसको कोई निरपेक्ष पद नहीं दिया है। उसने इस समस्या की ओर तीन पहलुओं क्रमशः निरपेक्ष, जगत् और व्यक्ति की ओर से देखा है। असत्य और अशुभ अज्ञान की सृष्टि हैं और इस कारण परम प्रकृति में उनका कोई स्थान नहीं है क्योंकि वह पूर्ण ज्ञान है। जैसे ही अज्ञान के स्थान पर ज्ञान की स्थापना होती है वैसे ही अशुभ और असत्य अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। जहाँ तक ज्ञान प्रामाणिक है वहाँ तक वह सत्य है क्योंकि जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है "प्रामाणिकता निरपेक्षता की ओर पहला कदम है।"[१६] सत्य और भूल शुभ और अशुभ, सापेक्ष और अनिश्चित मानवीय मूल्य हैं। यह सत्य और असत्य चेतना के मिश्रण के कारण हैं जिसमें एक शुभ और दूसरा अशुभ उत्पन्न करता है। सर्वांग सत् की दैवी शक्ति की उपस्थिति में भौतिक दुःख और कष्ट भी नहीं रहेंगें। इस प्रकार शुभ और अशुभ, प्रकाश और अन्धकार से अधिक परस्पर सम्बद्ध नहीं है यद्यपि अशुभ शुभ पर और अन्धकार प्रकाश पर आधारित है। जहाँ पर चेतना की एकता और पारस्परिकता है वहाँ पर भूल, अशुभ और असत्य के ये तत्व विविधता और भेद में भी नहीं मिलते। अतः श्री अरविन्द ने लिखा है 'असत्य और अशुभ में कोई प्रामाणिक सार्वभौमिकता नहीं है जैसी कि निरपेक्षता में भी नहीं है। वे ऐसी परिस्थितियाँ अथवा परिणाम हैं जोकि केवल एक विशेष अवस्था में ही उत्पन्न होते हैं जबकि पृथकता विरोध में समाप्त होती है और अज्ञान ज्ञान की एक मूल अचेतनता और मिथ्या संकल्प, मिथ्या अनुभूति, मिथ्या क्रिया और मिथ्या प्रतिक्रिया सहित एक परिणामजनित मिथ्या चेतना और मिथ्या ज्ञान में समाप्त होता है।"[१७]

---

१६. वही, भाग २, पृष्ठ ३७२
१७. वही, पृष्ठ ३७५

इन रूपात्मक सत्ताओं का उद्गम

अब प्रश्न यह उठता है कि ये विरोधी तत्व किस अवस्था में विश्व अभिव्यक्ति में उत्पन्न होते हैं। सत्ता के किस स्तर से उनका सम्बन्ध है ? क्या ये सृष्टि में आवश्यक हैं ? श्री अरविन्द ने इस भारतीय परम्परागत विश्वास की पुष्टि की है कि इन विरोधी तत्वों के पीछे समानुकूल शक्तियाँ हैं। विज्ञान के आधुनिक सिद्धान्त भी इन संभावना के विरोधी नहीं हैं। अपनी प्रच्छन्न सत्ता में डूबकर व्यक्ति उनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर सकता है। बहुधा उनका प्रभाव अत्यन्त तीव्र होता है। परन्तु यह असीमता उनकी निरपेक्षता को सिद्ध करने का तर्क नहीं हो सकती। निरपेक्ष होने पर अशुभ और दुःख का प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है। या तो वे समाप्त हो जाते हैं या अपने विरोधियों में परिवर्तित हो जाते हैं। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "सार अथवा आत्मस्थित रूप शाश्वत अन्तःस्थता के रूप में आत्मस्थिति निरपेक्षता की शर्त है। मूल, असत्य और अशुभ विश्व शक्तियाँ हैं परन्तु उनकी प्रकृति सापेक्ष है। वे निरपेक्ष नहीं हैं क्योंकि वे अपने अस्तित्व के लिये अपने विपरीत तत्वों की भ्रष्टता अथवा विरोध पर आधारित हैं और सत्य तथा आत्मस्थित निरपेक्षों के समान परम आत्मस्थित के आन्तरिक पहलू नहीं हैं।"[१८] इस प्रकार ये सार्वभौम तत्व नहीं हैं बल्कि केवल निश्चेतना के चेतना की ओर लौटने में उत्पन्न होते हैं।

परन्तु अशुभ जड़ पदार्थ से सम्बन्धित नहीं है। प्रकृति में नैतिक गुणों के लिये कोई स्थान नहीं है। केवल चेतन प्राणियों के सम्पर्क से और मात्र उन्हीं के लिये मूल्यों का अस्तित्व है। शुभ और अशुभ का यह द्वैत चेतन जीवन के साथ प्रारम्भ होता है और जीवन में मानस के विकास के साथ पूर्णतया अभिव्यक्त होता है। प्राणमय मानस, इच्छा और संवेदना का मानस अशुभ के सत्य और अनुभूति का सृष्टा है। नैतिक मूल्य तो पूर्णतया मानवीय ही हैं यद्यपि वे किसी भी प्रकार असत्य नहीं हैं। विकासोन्मुख प्रकृति की प्रक्रिया में नैतिक स्तर एक अनिवार्य कदम है।

इस प्रकार शुभ और अशुभ का प्रथम श्रोत प्राण है। यही नीतिशास्त्र में मनोवैज्ञानिक, विकासवादी अथवा नैतिक सुखवाद का आधार है। यह स्वार्थवादी भी हो सकता है और परार्थवादी भी, वैयक्तिक भी और सामाजिक भी। जैवकीय प्राण के अतिरिक्त विचारशील मानस पर आधारित मूल्य होते हैं जोकि बुद्धिवाद, सहज ज्ञानवाद, नैतिक बोध, सौन्दर्य बोध और कर्म का नियम इत्यादि के सिद्धान्तों को उत्पन्न करते हैं। कुछ दार्शनिक नैतिकता का धार्मिक आधार पर समर्थन करते हैं। इन समस्त सिद्धान्तों के पीछे एक गहन अनुभूति है जिसका

---

१८. वही, पृष्ठ ३८०

आधार अन्तर्चेतना अथवा चैत्य पुरुष है। श्री अरविन्द के अनुसार "मूल्यों में यथार्थ सहमति आन्तरिक, आध्यात्मिक और चैत्य है।[१९]

अशुभ और असत्य के तत्व निश्चेतना से मानसिक और प्राणमय चेतना की उत्पत्ति के साथ उदय होते हैं। इसका नियंत्रण दो प्रकार की अवस्थाओं द्वारा होता है। सर्वप्रथम आन्तरिक शक्ति को निर्ज्ञान (Nescience) की ऊपरी पर्त के कठिन माध्यम से मानसिक तत्व की उत्पत्ति के हेतु स्वयं को बाह्य सत्ता पर आरोपित करना पड़ता है। तब जीवन का उदय होता है जोकि जड़ पदार्थ के अधोमुखी वेग मे सतत् संघर्ष करता रहता है। इस जीवन को फिर अपने अस्तित्व के हेतु वातावरण से संघर्ष करना पड़ता है और जैसे-जैसे मानस का विकास होता है वह एक सतत् आत्मश्लाघावान् मानसिक, प्राणमय और भौतिक अहंकार का रूप ग्रहण करता जाता है। प्रथम दृष्टि में चेतना जड़ पदार्थ से नितान्त विरुद्ध प्रतीत होती है। परन्तु फिर भी पशु और मानव जीवन के तथ्य हमें इस निष्कर्ष पर ले आते हैं कि वस्तुओं में एक गुप्त चेतना है जोकि क्रमशः सतह पर आ आती है। जीव पहले मूल प्रवृत्तियों के द्वारा और फिर प्रत्यक्ष तथा संवेदना से ज्ञान प्राप्त करता है। यह तभी सम्भव है जबकि विषय और विषयी दोनों के मूल में एक ही प्रच्छन्न चेतना हो। इसी कारण गुप्त चेतना बाह्य संवेदना और प्रत्यक्ष में परिवर्तित हो जाती है तथा गुप्त शक्ति बाह्य प्रवृत्ति में यदि यह प्रच्छन्न चेतना बाह्य स्तर पर आ जाये तो एक प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है परन्तु निर्ज्ञान के दबाव के कारण और क्योंकि विकासवादी प्रयोजन एक अपूर्ण परन्तु विकासोन्मुख बाह्य चेतना के द्वारा क्रमशः विकसित होता है इसलिये वह सम्भव नहीं हो पाता। क्रमशः विकास के द्वारा जीवन और मानस अन्य तत्वों से पृथक् करके अपनी विशेष प्रकृति को प्राप्त कर लेते है। परन्तु इस विकास के साथ भूल की सम्भावना भी बढ़ती जाती है। यह तभी तक नियंत्रित रहती है जब तक सहज ज्ञान का बोल-बाला है। परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है क्योंकि प्रकृति में निश्चेतना क्रमशः अज्ञान बन जाती है और अज्ञान एकांगी ज्ञान से होकर सम्पूर्ण ज्ञान की ओर बढ़ता है। अतः मानसिक अवस्था एक आवश्यक कदम है। आन्तरिक चेतना द्वारा प्राप्त सहज ज्ञान के और भी भ्रान्तिपूर्ण हो जाने के कारण एक दोहरी भूल की संभावना हो जाती है। अतः भूल अज्ञान से ज्ञान की ओर जाने में एक आवश्यक कदम है। भूल को रोकना केवल तभी सम्भव है जबकि हम ज्ञान प्राप्ति के अवसरों को ही सीमित कर दें। भूल निश्चित रूप से असत्य नहीं है। वह कुछ दिशाओं में नवीन ज्ञान की ओर भी ले जा सकती है। भूल और असत्य का एक अन्य श्रोत है मानस की अहंमन्यता। व्यक्ति की स्वाभाविक प्रकृति के कारण सीमितता बहुधा भूल और

---

१९. वही, भाग १, पृष्ठ ३८४

असत्य का कारण बन जानी है । यह केवल ज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि संकल्प और अनुभूति के क्षेत्र में भी सत्य है । मिथ्या चेतना अज्ञान से उत्पन्न होती है और मिथ्या कर्मों की ओर ले जाती है । किसी शक्ति की अनुपस्थिति में प्राणमय शक्ति ही प्रकृति के कार्य का मुख्य साधन है । जब इसके स्थान पर यथार्थ प्राणमय पुरुष आ जाता है तब जीवन शक्ति आत्मा की यथार्थ सेवक बन जाती है । श्री अरविन्द के शब्दों में, "...निश्चेतना से उदय होती हुई एक सीमित चेतना मूल का श्रोत है, उससे उत्पन्न सीमितता और भूल से एक व्यक्तिगत आकर्षण असत्य का श्रोत है, प्राणमय अहंकार से शासित एक मिथ्या चेतना अशुभ का श्रोत है ।"[२०] जब व्यक्तिगत अहं एक पृथक् अहं के रूप में प्रत्येक कार्य अपनी रुचि के लिये करता है तब दूसरों से विरोध और असामंजस्य उत्पन्न होता है और परिणाम मिथ्या और अशुभ होता है । इस अशुभ और शुभ की अनुभूति का एक विकास-वादी प्रयोजन है जो वह मानव की उसकी वर्तमान अवस्था का उत्क्रमण करके किसी शाश्वत् और अनन्त शुभ की ओर ले जाता है ।

अशुभ का प्रयोजन

परन्तु अशुभ की इस चेतना का प्रयोजन क्या है ? अद्वैतवादियों के अनुसार वह जगत के निषेध की ओर ले जाता है और पलायनवाद में समाप्त होता है । बौद्ध दार्शनिक अपने निर्वाण के सिद्धान्त को दुःख के मौलिक तथ्य पर आधारित करते हैं । परन्तु श्री अरविन्द के अनुसार वह स्वयं विकास की ही आवश्यकता है । जैसा कि स्वर्गीय डॉ० एस० के० मैत्र ने संकेत किया है "वह कैसे से सम्बन्धित समस्या है क्यों से नहीं ।"[२१] जगत को आत्मा के निर्माण की घाटी समझने में श्री अरविन्द कीट्स (Keats) के साथ हैं । समस्त अशुभ और असत्य की उपस्थिति अपने विरोधियों के द्वारा आत्मा के प्रयोजन से है । यह चैत्य संबोधि कभी-कभी मानसिक तर्क के अनुरूप नहीं होता परन्तु फिर भी उसमें उच्चतर प्रकाश की एक गहरी अनुभूति होती है । चैत्य प्रत्यक्ष निश्चय ही शुभ और अशुभ के परे हैं यद्यपि यह मूल प्रवृत्ति के अर्थ में नहीं बल्कि एक उच्चतर नियम के अर्थ में है । प्रकृति के विकासवादी प्रयोजन का साक्षात्कार ही अशुभ की समस्या का एकमात्र सुलझाव है । समस्त नीतिशास्त्र, कला, विज्ञान, धर्म, दर्शन और अन्त में समस्त योग इस प्रयोजन की प्राप्ति का प्रयत्न हैं । इस उद्देश्य की पूर्ति में धर्म कहाँ तक सहायक है इसका विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे ।

---

२० वही, पृष्ठ ४०२

२१. मैत्र, एस० के० : द मीटिंग ऑव द ईस्ट एण्ड वैस्ट इन श्री अरोबिन्दोज फ़िलासफ़ी, पृष्ठ १३६

९

धार्मिक अनुभव

> "क्योंकि धर्म मनुष्य में वह मूल प्रवृत्ति, विचार और अनुशासन है जिसका लक्ष्य सीधे दैवी सत्ता है जब कि शेष सभी उसकी ओर केवल अप्रत्यक्ष रूप से लक्ष्य करते और वस्तुओं की बाह्य तथा अपूर्ण छायाओं की खोज में बहुत अधिक चक्कर काटने और ठोकरें खाने के पश्चात् बहुत अधिक कठिनता से पहुँचते हैं।"[१]
>
> —श्री अरविन्द

अब योग और मानव विकास के प्रसंग को उठाने से पूर्व हम धार्मिक अनुभव के स्वभाव और प्रकृति में विकासवादी प्रयोजन के साक्षात्कार में उसके महत्व का विवेचन करेंगे। यह विषयान्तर इसलिये आवश्यक है क्योंकि दर्शन के समान धर्म भी परम सद्वस्तु के साक्षात्कार का एक महत्वपूर्ण मार्ग माना गया है और क्योंकि हमारा मत है कि मानसिक स्तर पर दर्शन और धर्म समान रूप से आवश्यक हैं चाहे मानस का अतिक्रमण करने पर इन दोनों का स्थान उनके भावी उत्तराधिकारी अतिमानसिक ज्ञान और सर्वांग योग के अतिमानसिक आनन्द को प्राप्त हो जाये। धार्मिक अनुभव के इस दार्शनिक विवेचन का उद्देश्य धर्म के आवश्यक सत्य की खोज करना और यह देखना है कि इस क्षेत्र में बुद्धि का कहाँ तक प्रवेश है और विकासवादी प्रयोजन के साक्षात्कार में उसका क्या नैतिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक मूल्य है।

हेगेलीय मत : जॉन केअर्ड

धर्म में बुद्धि के महत्व पर सबसे अधिक हेगेल के अनुयायियों ने जोर दिया है। जॉन केअर्ड के अनुसार "जो कुछ यथार्थ है वह बौद्धिक है और जो कुछ है उस पर बौद्धिक दर्शन को विचार करने का अधिकार है।"[२] बुद्धिवादी केअर्ड

---

१. द ह्यूमन साइकिल, पृष्ठ २१४

२. केअर्ड, जे० : इन्ट्रोडक्शन टु द फ़िलॉसफ़ी ऑव रिलीजन, पृष्ठ १

बुद्धि की सीमाओं को मानता है। परन्तु उसके अनुसार ये सीमायें स्वयं बुद्धि ने ही अपने ऊपर आरोपित की हैं।[३] जो दार्शनिक धर्म के क्षेत्र से तर्क का पूर्ण बहिष्कार करना चाहते हैं उनको ऐसा करने के लिये तर्क तो उपस्थित करने ही होंगे। फिर यह तथ्य कि बुद्धि अपना परिसीमन करती है यह भी दिखलाता है कि वह सीमा का अतिक्रमण भी करती है। बुद्धि से परे कुछ भी नहीं है। है। अतः केअर्ड के अनुसार जो कुछ अतिमानसिक अथवा बुद्धि से परे है वह बुद्धिहीन अर्थात् निरर्थक है। केअर्ड का तात्पर्य यह नहीं है कि धार्मिक अनुभव तार्किक निगमन का विषय है। धर्म में अज्ञानमय आश्चर्य, अन्ध समर्पण और एक दुष्कर समस्या के सामने विचारावरोध ही नहीं बल्कि यह बौद्धिक प्रशंसा, प्रेम और विश्वास है कि असीम का क्षेत्र हमारे लिये खुला है और कि ईश्वर का ज्ञान एक अमर जीवन की प्राप्ति है। दर्शन धर्म को मानता है, उसको उत्पन्न करने का दावा नहीं करता। धर्म में अनुभूति एक आवश्यक तत्व है यद्यपि बुद्धि द्वारा इस अनुभूति को दूसरों से पृथक् करना पड़ेगा। अनुभूतियों की गहराई नहीं बल्कि एक बौद्धिक आधार और अवयवीय पूर्ण में अनुकूलता ही सच्चे धर्म की कसौटी है। केअर्ड के अनुसार "एक और उसी चेतना के लिये एक साथ ही शुद्ध रूप में सापेक्ष होना और अपनी सापेक्षता के प्रति सचेत होना सम्भव नहीं है।"[४] केअर्ड का यह वक्तव्य वहाँ तक ठीक है जहाँ तक कि वह मानव से असीम के तत्व की ओर निर्देश करता है परन्तु मानसिक चेतना को सार्वभौम चेतना मान लेना केवल अज्ञान का ही परिचायक है। बुद्धि के समर्थन के उत्साह में केअर्ड सम्बोधि की अवहेलना करने लगता है। उसने ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान के महत्व को पूरी तरह नहीं समझा है विशेषतया तब जबकि उसने यह तर्क किया है कि जिस प्रकार से पदों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये एक तीसरा पद होना चाहिये जिससे कि वे सम्बन्धित हों उसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान में भी एक विचार प्रक्रिया होनी चाहिये अर्थात् उसमें वह सब होना चाहिये जोकि अप्रत्यक्ष अथवा बौद्धिक ज्ञान का विषय है।'[५] इस प्रकार के दृष्टिकोण में आधारभूत भूल चेतना और आत्मचेतना में भेद न क ना है। केवल कर्ता के रूप में अपनी चेतना के लिये ही आत्मा को अनात्मा की आवश्यकता है अन्यथा वह स्वप्नहीन सुषुप्ति और अचेतन अवस्थाओं में भी स्वयं अपने ही प्रकाश से चमकती है। ईश्वर की चेतना अचेतना नहीं है, न ही वह वस्तु की चेतना है। वह सत्व से सत्व का तादात्म्य है।

केअर्ड विभिन्न प्रकार के सम्बोधि ज्ञान में भेद नहीं कर पाता जब कि वह यह कहता है कि "वह जो कि सत्य और असत्य, व्यर्थ और महत्वपूर्ण सम्बोधि में

---

३. वही, पृष्ठ ४
४. वही, पृष्ठ १६
५. वही, पृष्ठ ४

भेद करता है केवल मात्र सम्बोधि ज्ञान नहीं हो सकता परन्तु कोई उच्चतर तत्व होना चाहिये।"[६] वास्तव में यह उच्चतर तत्व बुद्धि नहीं बल्कि आध्यात्मिक सम्बोधि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसमें अनुकूलता से ही किसी विशेष सम्बोधि का सत्य निर्धारित होता है। बुद्धि तो पशुओं के भौतिक और प्राणात्मक सम्बोधि के भी सत्य को जानने में असफल होती है। आध्यात्मिक सम्बोधि निर्बुद्धि नहीं हो सकता क्योंकि वह संश्लिष्टता और सानुकूलता के सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु निश्चय ही वह बुद्धि से अधिक है। वह हमारे भावात्मक और संकल्पात्मक पहलुओं को भी सम्मिलित कर लेता है। यह कहते समय कि "इस अर्थ में जो कुछ बुद्धि से परे है वह निर्बुद्धि अथवा अर्थहीन है"[७] केअर्ड अतिमानसिक का अज्ञेय से तादात्म्य कर देता है मानो कि मानस ही ज्ञान का एकमात्र साधन है। कभी-कभी ऐसा अवश्य ही प्रतीत होता है कि हेगेल के अनुयायियों ने बुद्धि को जिस अर्थ में लिया है वह केवल तार्किक बुद्धि मात्र नहीं है। परन्तु एक ही प्रत्यय का अत्यधिक भिन्न तथ्यों के लिये प्रयोग गड़बड़ी ही उत्पन्न करता है। बुद्धि में मनुष्य के भावात्मक और संकल्पात्मक पहलू सम्मिलित नहीं हैं अतः वह धार्मिक अनुभव के लिये कोई उपयुक्त साधन नहीं हो सकती क्योंकि धार्मिक अनुभव हमारी समग्र सत्ता के द्वारा प्राप्त होता है।[८] किसी भी अनुभव की प्रामाणिकता की कसौटी उसकी तार्किक समीचीनता नहीं बल्कि सत्यता है। बुद्धि नहीं बल्कि आध्यात्मिकता ही समस्त धर्म का सार है।

व्यवहारवादी मत: विलियम जेम्स

व्यवहारवादियों के अनुसार किसी विशेष धार्मिक अनुभव के सत्य की कसौटी उसकी कार्यशीलता, जीवन में उसका व्यावहारिक मूल्य है। विलियम जेम्स के शब्दों में "ईश्वर यथार्थ है क्योंकि वह यथार्थ प्रभाव उत्पन्न करता है।"[९] धार्मिक विश्वास अपने साथ व्यक्ति के लिये बहुत अधिक शुभ लाता है। आस्था वैज्ञानिक, विवेचनात्मक और स्वयं प्रामाणिक है। उसका चुनाव प्राणमय, अनिवार्य और महत्वपूर्ण है। अविश्वासी अपने अविश्वास के कारण भी बहुत कुछ खो देता है। जेम्स के अनुसार धर्म में "हम अब भी अपने विश्वास के कारण कुछ महत्वपूर्ण शुभ पाते हैं और अविश्वास के कारण खो देते हैं।"[१०]

---

६. वही, पृष्ठ ५५

७. वही, पृष्ठ ५८

८. "धर्म सम्पूर्ण प्रयोजन का विषय है।"

—विलियम, ई० कैनिक : द फ़िलॉसॉफ़िकल रिव्यू, जनवरी १९६०, पृष्ठ ६८

९. जेम्स, डब्लू : वैराइटीज ऑव रिलीजस एक्सपीरियेन्स, पृष्ठ ५०७

१०. जेम्स, डब्लू : द विल टू बिलीव, पृष्ठ २६

ईश्वर हमारी समग्र सत्ता, मानस, हृदय और संकल्प सभी को सन्तुष्ट करता है।" "एक ही चोट में वह जगत के मृतक शून्य 'उस' को एक जीवनमय 'तू' में परिवर्तित कर देता है जिससे कि समस्त मानव व्यवहार कर सकता है।"[११]

धार्मिक अनुभव के आलम्बन की प्रकृति के विषय में जेम्स का मत एक व्यवहारवादी के अनुरूप है। "हम में से प्रत्येक को स्वयं अपने लिये उस सन्तपन के परिमाण का पता लगाना है जो कि उसके सबसे अधिक अनुरूप हो जिसको कि वह अपनी शक्ति मानता है और अपना सबसे सच्चा लक्ष्य और कार्य समझता है।"[१२] यद्यपि धर्म का सत्व सार्वभौम है परन्तु व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अनुसार उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहता है क्योंकि "ईश्वर के लिये प्रमाण मूलरूप में आन्तरिक वैयक्तिक अनुभवों में रहता है।"[१३] कान्ट धर्म को नैतिकता के अधीन मान लेता है। उसके अनुसार धर्म एक जैविक और व्यावहारिक आवश्यकता है। बर्गसाँ के अनुसार पूर्ण रहस्यवादी बिना किसी भौतिक बाधा के ईश्वर की रचनात्मक क्रिया में भाग लेता है क्योंकि "वह जिस प्राण का अतिरेक चाहता है वह उसी श्रोत से मिलता है जो कि जीवन का भी श्रोत है।"[१४] धर्म मानसिक चिकित्सा के समान है। विज्ञान और धर्म दोनों ही मानव जीवन के मूल्यवान खजानों के द्वार खोलने के लिये समान रूप से प्रभावशाली कुंजियाँ हैं।

व्यवहारवादी मत में वह सत्य निहित है कि धार्मिक अनुभव केवल असाधारण नहीं है बल्कि मानव के भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक पहलुओं को संयोजित करता और आध्यात्मिक बनाता है। परन्तु फिर भी धर्म जीवन का साधन मात्र नहीं है और न अतिरिक्त जैविक शक्ति को निकालने का मार्ग ही है। ईश्वर की सत्ता उन प्रभावों पर निर्भर नहीं है जो कि वह संसार में उत्पन्न करता है यद्यपि वे कुछ सामान्य जनों को सन्तुष्ट करने के लिये अच्छे तर्क हो सकते हैं। दूसरी ओर, प्रभावों की सत्ता ही उनके ईश्वर द्वारा उत्पन्न किये जाने पर निर्भर है। ईश्वर को साधन मात्र बना कर जेम्स और कान्ट ईश्वर के दैवी रूप को खो देते हैं। उच्च निम्न की व्याख्या करता है। आत्मा जीवन की व्याख्या करती है। ईश्वर मनुष्य की व्याख्या करता है। जेम्स द्वारा निर्देशित धर्म के सामान्य गुण उसके आकस्मिक परिणाम मात्र हैं। ईश्वर-प्रेम किसी साँसारिक शुभ का साधन मात्र न होकर स्वयं साध्य है। सामाजिक उपयोगिता धर्म का सार नहीं बल्कि उससे एक गौण उत्पत्ति मात्र है। धार्मिक मनुष्य धर्म

---

११. जेम्स, डब्लू० : रिफ्लेक्स एक्शन एण्ड थीज्म, पृष्ठ १२६-२७

१२. जेम्स, डब्लू० : वैराइटीज ऑव रिलीजस एक्सपीरियेन्स, पृष्ठ ३६८

१३. जैम्स, डब्लू० : प्रैग्मैटिज्म, पृष्ठ १०६

१४. बर्गसाँ, हेनरी : टू सोर्सेज ऑव मोरैलिटी एण्ड रिलीजन, पृष्ठ १६८

में कोई पुरस्कार नहीं खोजता चाहे वह अमरत्व ही क्यों न हो। धर्म का सार सच्चा प्रेम और पूर्ण आत्मसमर्पण बदले में कोई वस्तु नहीं चाहते। भक्त का समस्त कार्य देना, त्याग, समर्पण और पूजा के विषय से तादात्म्य है। विज्ञान और धर्म में बाह्य समानतायें न तो विधियों और न साध्यों की एकता सिद्ध करती हैं। धार्मिक अनुभव का सार सामग्री को एकत्रित करने, उसके वर्गीकरण और तुलना इत्यादि करने के आधार पर बने हुये किसी सामान्य सिद्धान्त पर आधारित नहीं किया जा सकता न ही वह विभिन्न प्रकार के धर्मों का सामान्य तत्व है। धर्म में अन्त ही उद्‌गम की व्याख्या करता है। ईश्वर से रहस्यवादी एकता का प्रयोजन जीवन के लिये अधिक प्राणशक्ति प्राप्त करना ही नहीं बल्कि दैवी आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव है।

प्रकृतिवादी मत : जे० एच० ल्यूबा

अपने गुरु जेम्स के साथ प्रो० ल्यूबा का कहना है कि "ईश्वर जाना नहीं जाता, उसको समझा नहीं जाता, उसका उपयोग किया जाता है।"[१५] इस प्रकार प्रो० ल्यूबा भी धर्म के व्यवहारवादी और जैविक पहलू पर जोर देता है। उसके अनुसार धर्म मानव का ईश्वर के मानव रूप के प्रति व्यवहार है। एक मनोवैज्ञानिक के रूप में प्रो० ल्यूबा समाज विज्ञान, शरीर रचना शास्त्र और मनोविज्ञान से खुल कर सहायता लेता है। उसका सिद्धान्त उपयोगितावाद और प्रकृतिवाद का प्रतिनिधि है। उसके अनुसार धर्म का सार कुछ आधारभूत आवश्यकताओं की तृप्ति है। जैसा कि वह लिखता है "प्रेम के ईश्वर की उपस्थिति का साक्षात्कार करना ही रहस्यवादी की अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने की विधि है।"[१६] सब कहीं मानव अपनी इच्छाओं की पूर्ति चाहता है। केवल धर्म में वह उनको दैवी सत्ता, ईश्वर अथवा अन्य किसी परम शक्ति में पूर्ण करता है। धर्म में और कुछ भी नया नहीं है और इस कारण इस विशेष प्रकार के मानव व्यवहार की व्याख्या करने के लिये किसी भी नवीन प्रत्यय की आवश्यकता नहीं है। एक वैज्ञानिक के रूप में प्रो० ल्यूबा मितव्ययिता के सिद्धान्त (Law of Parsimony) का प्रयोग करता है और जैवकीय शब्दों में धर्म की व्याख्या करता है। धर्म में एक महान् और उच्चतर चैत्य शक्ति में विश्वास सम्मिलित है चाहे वह वैयक्तिक हो अथवा निर्वैयक्तिक और साथ ही सम्मिलित है मानव और किसी उच्चतर शक्ति में व्यवस्थित अथवा अव्यवस्थित क्रियात्मक सम्बन्ध जिसके परिणामस्वरूप जीवन की वृद्धि होती है। मानव को धर्म की आवश्यकता इसलिये है क्योंकि उसकी आवश्यकतायें भौतिक ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक भी हैं।

---

१५. ल्यूबा, जे० एच० : मोनिस्ट, जुलाई १६०१

१६. ल्यूबा, जे० एच० द साइकॉलॉजी ऑव रिलीजस मिस्टीसिज्म, पृष्ठ १२०

तथापि उनमें उतना ही अधिक अन्तर है जितना कि दर्शन और भौतिकशास्त्र में। संसार में अपने अनुभव में हम नैतिक व्यक्ति को नास्तिक भी पाते हैं और धार्मिक व्यक्ति को सदैव ही नैतिक नहीं पाते। ब्रैडले के अनुसार, "नैतिकता अपनी चरम परिणति के लिये धर्म में रूपान्तरित हो जाती है।"[२७] यह विरोधाभास इस प्रकार है "नैतिक न होना एक नैतिक कर्तव्य है" और यह है "धार्मिक होने का कर्तव्य।"[२८] अलैक्जैण्डर इस दृष्टिकोण का तिरस्कार करता है और धर्म की व्याख्या के लिये स्वयं धार्मिक मूल प्रवृत्ति की ओर ही संकेत करता है। "वास्तव में जिस प्रकार भूखे होने का कोई कर्तव्य नहीं है उसी प्रकार धार्मिक होने का भी कर्तव्य नहीं है।"[२९] धार्मिक स्थायी भाव हमारी मानवीय संरचना में ही उपस्थित है। मानव में धर्म स्वाभाविक है। उसमें किसी प्रकार का संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व नहीं है। परन्तु आध्यात्मिक विकास में नैतिकता और धर्म दोनों ही समान रूप से आवश्यक कदम हैं। नैतिकता बुद्धिगत है, धर्म बुद्धि से परे है। अतः धर्म अनैतिक न होकर भी नैतिकता से परे है। ईश्वर शुभ की ओर अवश्य है परन्तु नैतिक नियमों से बाध्य नहीं है। धर्म में "चाहिये" का स्थान भगवद् कृपा ले लेती है। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है "कोई यह निर्धारित कर रहा था, कि ईश्वर को यह अथवा वह होना चाहिये अन्यथा वह ईश्वर ही नहीं होगा। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं केवल यह जान सकता हूँ कि ईश्वर क्या है और मैं नहीं जानता कि मैं उसको यह कैसे बतला सकता हूँ कि उसको क्या होना चाहिये।"[३०]

श्री अरविन्द का सर्वांगवाद

धार्मिक अनुभव में तर्क का स्थान

श्री अरविन्द धर्म को "आध्यात्मिक प्रवृत्ति का उसकी पूर्णता में अनुसरण करना" और आध्यात्मिकता को "सर्वोच्च आत्मा, दैवी सत्ता और सर्वव्यापक एकता को जानना और उसमें रहना और जीवन का उसके सभी भागों में अधिकतम सम्भव दैवी मूल्यों की ओर विकास करना"[३१] मानता है। इस प्रकार आध्यात्मिक अनुभव से अनुरूपता ही धार्मिक अनुभव के सत्य की कसौटी है। यह कहा जा सकता है कि अनुरूपता (Coherence) बुद्धि का सिद्धान्त है और श्री अरविन्द ने यह माना है कि अति मानसिक तत्व में सदैव ही बुद्धि का तत्व रहता है, परन्तु यह बौद्धिक तत्व आत्मा के सामंजस्य में रूपान्तरित और संश्लिष्ट होता

---

२९. एलेक्जेण्डर, एस० : स्पेस, टाइम एण्ड डीटी, भाग २, पृष्ठ ४०६

३०. श्री अरविन्द : द एडवेन्ट, संख्या ६, अंक ४, पृष्ठ २२३

३१. श्री अरविन्द : द रेनेसाँ इन इन्डिया, पृष्ठ ८०

है। धार्मिक अनुभव के क्षेत्र में बौद्धिक तर्क का प्रयोग केवल भ्रान्तियाँ ही उत्पन्न करेगा। धार्मिक अनुभव की प्रामाणिकता के विषय में बुद्धि के प्रश्न तद्विषयक अज्ञान पर आधारित हैं। ईश्वर के अस्तित्व अथवा धर्म की प्रामाणिकता के विषय में भौतिक प्रमाणों की मांग नितान्त अनुचित है क्योंकि धर्म का सार आध्यात्मिक और अतिभौतिक है।[३२] मत, सम्प्रदाय, कर्मकांड और प्रतीकों के बाह्य आवरण से अलग धर्म का आन्तरिक सार ईश्वर की खोज और उसका साक्षात्कार है। धर्म का लक्ष्य आत्म-उत्क्रमण, निरपेक्ष निवेदन, आकांक्षा और अनुभव दिव्य दर्शन, प्रेरणा और सम्बोधि इत्यादि के द्वारा प्राप्त किया जाता है। भगवद्-साक्षात्कार का आनन्द अनिर्वचनीय है। धर्म में भक्त को अपनी समस्त सत्ता का समर्पण करना पड़ता है। धर्म का मार्ग निरपेक्ष है। "उसका कार्य मानव और ईश्वर के मध्य सच्चे और निकट सम्बन्धों, एकता के सम्बन्धों, भेद के सम्बन्धों, एक ज्योतिर्मय ज्ञान के सम्बन्धों, एक परम मोहक प्रेम और आनन्द, एक निरपेक्ष समर्पण और सेवा की स्थापना और अपनी सत्ता के प्रत्येक भाग को उसके सामान्य स्तर से निकाल कर दैवी सत्ता की ओर मानव के ऊर्ध्वगमन में रूपान्तर और दैवी सत्ता के मानव में अवरोहण का एक सच्चा जीवन व्यतीत करना है।"[३३]

श्री अरविन्द ने धर्म के क्षेत्र में बुद्धि का तिरस्कार नहीं किया है बल्कि केवल उसको सीमित और अधीनस्थ कर दिया है। बुद्धि धार्मिक अनुभव, दैवी प्रेम अथवा भक्ति के आनन्द और कार्य के लिये नियम निर्धारित नहीं कर सकती। उसका यथार्थ क्षेत्र हमारी अतिमानसिक और आध्यात्मिक सत्ता के सत्यों, अनुभवों और नियमों की अपनी भाषा में व्याख्या करना है। श्री अरविन्द ने धर्म-दर्शन की आवश्यकता की दृढ़ता से पुष्टि की है। धार्मिक सत्य बौद्धिक जामे में प्रस्तुत किये जाने चाहियें।

बुद्धि से परे के क्षेत्रों के विरुद्ध, बुद्धि से निम्न क्षेत्रों में तर्क का सर्वोच्च महत्व है। यह मूल प्रवृत्तियों, अन्ध प्रवृत्तियों, सवेदनाओं, परिष्कृत संवेगों और प्राणात्मक क्रियाओं का क्षेत्र है। धर्म में निम्न प्रकृति सम्मिलित है और विशेषतया प्रतीक पूजा, प्रकृति पूजा, मूर्ति पूजा तथा अन्य आदिम प्रकार के धर्मों में मुख्यतया इसी निम्न प्रकृति का सन्तोष खोजा जाता है। धार्मिक विकास की इस प्रारम्भिक अवस्था में अत्यधिक अशुद्धियाँ, अज्ञान और अन्धविश्वास हैं।

---

३२. "वास्तव में गणित के बाहर 'प्रमाण' का कोई अस्तित्व नहीं है। यथार्थ में व्यावहारिक विज्ञान में कोई प्रमाण नहीं होता। वहाँ केवल प्रगतिशील जाँच और सिद्धि होती है। धर्म के दर्शन में यह सत्य है कि ईश्वर की सत्ता के 'प्रमाणों' अथवा 'प्रदर्शनों' की बात करने की परिपाटी रही है। यह निश्चय ही पांडित्याभिमानयुक्त भाषा है।"

—एल० ए० रीड : द हिबर्ट जर्नल, अक्टोबर १९५५, पृष्ठ १४

३३. श्री अरविन्द : द ह्यूमन साइकिल, पृष्ठ १६०

यहीं पर मूल तथा अन्य प्रवृत्तियों की क्रियाओं को विशुद्ध, प्रकाशमय और तर्कयुक्त बनाने के लिये बुद्धि का हस्तक्षेप हो सकता है। परन्तु धर्म के निम्न पहलू को शुद्ध करने की चेष्टा में कभी-कभी बुद्धि उसको बिल्कुल निकाल देने का प्रयास करती है। तथाकथित परिष्कृत धर्मों में बहुधा आध्यात्मिक समृद्धि और संवेगों की पूर्णता की कमी होती है और वे नग्न, ठण्डे और थोथे प्रतीत होते हैं। धर्म का प्राण उसकी मानसिक आस्था और बुद्धि से निम्न तत्व है। कोई भी धर्म अपने तर्कों के आधार पर टिका नहीं रह सकता। फिर, धर्म केवल वैयक्तिक नहीं बल्कि सामाजिक भी है और इस कारण भी उसमें बुद्धि से निम्न तत्व आवश्यक हैं। सामान्य मानव को प्रभावित करने के लिये उसको समस्त सत्ता को, केवल अति मानसिक भागों को नहीं बल्कि अन्य पहलुओं को भी प्रभावित करना चाहिये।[३४]

रहस्यवाद और बुद्धि विरोधी मत

यद्यपि हेगेलीय मत वादियों के समान श्री अरविन्द ने धर्म में बुद्धि के स्थान का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया है परन्तु वह विचार और आत्मा में भी स्पष्ट भेद करता है जिनको हेगेल ने एक ही मान लिया है। प्रत्येक प्रकार के तथ्यों को जानने की एक विशेष पद्धति है और विभिन्न तथ्यों की व्याख्या करने के लिये भिन्न-भिन्न वर्गों और प्रत्ययों की आवश्यकता है। इस प्रकार प्रिंगिल पैटीसन के समान श्री अरविन्द ने धार्मिक अनुभव को अन्य तथ्यों में प्रयुक्त वर्गों से समझाने के प्रकृतिवादियों के प्रयत्न की घोर भर्त्सना की है। धर्म बौद्धिक होकर भी बहुत कुछ और भी है और इस 'बहुत कुछ' का कुछ अंश सदैव ही बौद्धिक विश्लेषण से परे छूट जाता है। यह समस्त धर्मों में रहस्यवादी तत्व है।

रहस्यवाद के साथ श्री अरविन्द की बड़ी सहानुभूति है। वह अनेक आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की रहस्यवाद के विरुद्ध प्रवृति को कड़ी आलोचना करते हैं। धर्म का अत्यधिक तिरस्कार अन्ध स्वीकार से अधिक उत्तम नहीं है। आस्था के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता यद्यपि यह ठीक है कि आस्था बुद्धि पर आधारित होनी चाहिये। अपने लक्ष्य के स्वभाव के अनुसार ही रहस्यवादी पद्धति आत्मगत होनी चाहिये। रहस्यवादियों के अनुभवों की विभिन्नतायें उनके असत्य की प्रमाण नहीं बल्कि आत्मा के एक ऐसी सद्वस्तु के निकट पहुंचने के चिन्ह हैं जोकि जीवित है और एक कठोर मानसिक व्यवस्था के समान निश्चित नहीं है। इस प्रकार यदि रहस्यवाद से हमारा तात्पर्य ईश्वर के एक प्रत्यक्ष आध्यात्मिक साक्षात्कार से है तो श्री अरविन्द भी एक रहस्यवादी हैं। परन्तु निषेधात्मक अर्थ में लेने पर वह साध्य अथवा साधन किसी भी दृष्टि से रहस्य-

---

३४. श्री अरविन्द : द फाउन्डेशन्स ऑव इन्डियन कल्चर, पृष्ठ १०३

वादी नहीं है। कुमारी एवलिन अन्डरहिल के अनुसार रहस्यवाद में "जानना नहीं" बल्कि होना ही सच्चे साधक का चिन्ह है।"[३५] परन्तु श्री अरविन्द जानने और होने में भेद नहीं मानता। प्लॉटिनस के निष्कर्ष के अनुसार रहस्यवाद "एकाकी की ओर एक उड़ान"[३६] है। परन्तु श्री अरविन्द के अनुसार ईश्वर का जगत में और जगत के माध्यम से साक्षात्कार किया जाता है। प्रकृति में विकास का लक्ष्य वैयक्तिक नहीं बल्कि सार्वभौम मोक्ष है। इस प्रकार श्री अरविन्द ने रहस्यवाद के केवल एकांगी पहलू की आलोचना की है। वह उसको और भी दार्शनिक भूमि पर रख देता है और सार्वभौम बना देता है। प्रो० के० ए० हकीम के अनुसार "वह एक ऐसे रहस्यवाद का प्रतिपादन करता है जिसका लक्ष्य रहस्यमय नहीं बल्कि स्पष्ट बनाना है।"[३७] हमारे मत में वह रहस्यवाद केवल स्पष्ट ही नहीं बल्कि सार्वभौम भी बनाता है।

धर्म का विकास

श्री अरविन्द के अनुसार प्रत्येक धर्म विकास में अपनी अवस्था के अनुसार एक विशेष सत्य की अभिव्यक्ति करता है। अपने विकास में धर्म कई सोपानों से गुजरा है। प्रकृति में प्रत्येक वस्तु निश्चेतना में प्रारम्भ होती, अज्ञान, अवनति और मूलप्रवृत्तिजन्य विरोधों में होकर डगमगाते हुए कदमों से क्रमशः आगे बढ़ती और अन्त में कुछ एकांगी गहराइयों तथा अधिक स्पष्ट रूपों को प्रदर्शित करती है। इसी अवस्था पर ही एक तीव्र परिवर्तन, एक निश्चित नव्योत्क्रान्ति होती है जो गहरी, विस्तृत और सूक्ष्म होकर एक ऐसे सत्य पर पहुंचती है जो कि प्रारम्भिक रूपों की भाषा में नहीं समझाया जा सकता। अतः प्रतीकों, प्राकृतिक वस्तुओं और पत्थरों की पूजा में उत्पत्ति धर्म के सत्य के विरुद्ध कोई तर्क नहीं हो सकती। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "यह अस्त-व्यस्त इतिहास सभी मानवीय प्रयत्नों से सम्बन्धित है और यदि उसको धर्म के सत्य और आवश्यकता के विरुद्ध गिना जायेगा तो यह मानवीय प्रयत्नों के प्रत्येक अन्य पहलू मानव की समस्त क्रियाओं, उसके आदर्शों, उसके विचारों, उसकी कला और उसके विज्ञान के सत्य और आवश्यकता के भी विरुद्ध गिना जायेगा।"[३८] श्री अरविन्द ने उन दोषों से इनकार नहीं किया है जिन्होंने धर्म में पैठकर उसको कठोर, गतिहीन और मानव जाति के लिये हानिकारक तक बना दिया है परन्तु वह सच्चे और झूठे धर्म में और धर्मवाद (Religionism) में स्पष्ट रूप से भेद करता है। इस

---

३५. अन्डरहिल, ई० : मिस्टीसिज्म, पृष्ठ ८६

३६. प्लॉटिनस, द नियो प्लेटॉनिस्ट्स, पृष्ठ १७०३

३७. श्री अनिल बरन रॉय द्वारा उधृत, द वर्ल्ड क्राइसिस, पृष्ठ १३४

३८. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ६६६

धार्मिक रहस्यवाद पर अपनी पुस्तक में ल्यूबा ने विधियों, प्रेरणाओं, प्रत्यक्ष, समाधि और लघिमा (leviation) इत्यादि का विस्तृत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है परन्तु सब कहीं वह उनके पारमार्थिक महत्व का निषेध करता है। रहस्यवादियों का ईश्वर दर्शन का सद्ब्रह्म नहीं है। "यदि दर्शन के देवता धर्मों के ईश्वर के स्थान पर स्थापित हो जायें तो प्रत्येक वर्तमान धर्म के कर्मकांड की विशेषता प्रत्यक्ष सम्बोधन फिर नहीं रहेगा।"[१७] परन्तु कर्मकांड धर्म का सार नहीं है। फिर यदि धर्म का ईश्वर परम सद्वस्तु नहीं है तो सभी धार्मिक पूजा एक झूठा विश्वास, एक आत्म संकेत अथवा अधिक से अधिक मानसिक चिकित्सा की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। ईश्वर की कृपा और दया उसमें अपूर्णता नही उत्पन्न करती। ल्यूबा के विचार ईश्वर के मानवीयकरण (anthropomorphism) के दोष से युक्त हैं।

ल्यूबा धर्म की उपेक्षा करना अथवा मानव जीवन के लिये उसके मूल्य को कम करना नहीं चाहता। उसकी यह आशा यथार्थ है कि "धर्म और विज्ञान दोनों ही एक अधिक उत्तम, अधिक आनन्दित और अधिक दैवी मानव की उत्पत्ति के लिये हाथ में हाथ मिलाकर कार्य करेंगे।"[१८] परन्तु यह समझना कठिन है कि यदि धार्मिक अनुभव वस्तुगत आधार के बिना और केवल एक अन्धविश्वास ही है तो फिर इस प्रकार की आशा कैसे पूर्ण हो सकती है? कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि ल्यूबा स्वयं दैवी सत्ता नहीं बल्कि केवल एक वैयक्तिक ईश्वर के परम्परागत विचार के ही विरुद्ध है। परन्तु धर्म को वैज्ञानिक बनाने के फेर में वह उसका बहुत कुछ तत्व खो देता है। धर्म एक वैयक्तिक मिलन, एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध खोजता है। ईश्वर के वैयक्तिक पहलू से सम्बन्धित कृपा, प्रेम, पूजा इत्यादि इतने मूल्यवान हैं कि उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। प्रो० ल्यूबा की दी हुई धार्मिक अनुभव की व्याख्याओं में मनोवैज्ञानिक सुलभ दोष (Psychologist's fallacy) है। ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किये हुए और मनोविज्ञान में पूर्णतया शिथिल एक धार्मिक व्यक्ति ही धार्मिक अनुभव का सच्चा वर्णन कर सकता है। धर्म का सार केवल रहस्यवादियों की जीवनियों के अध्ययन अथवा निरीक्षण से नहीं समझा जा सकता। इन उच्चतर अनुभवों का वर्णन करने में मानवीय भाषा अत्यधिक अक्षम है। रहस्यवादियों द्वारा प्रयोग किये गये चिन्हों और रूपकों को उनके शाब्दिक अर्थ में लेने पर धर्म निश्चय ही एक सामान्य अनुभव बन जायेगा। रहस्यवादियों द्वारा भौतिक

---

१७. वही, पृष्ठ ३[illegible]

१८. वही पृष्ठ ३१८

और प्राणात्मक प्रतीकों के अत्यधिक प्रयोग से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि धार्मिक अनुभव में मानव के शारीरिक और प्राणात्मक भागों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है परन्तु उससे उच्चतर तत्वों की इसलिये उपेक्षा नहीं होनी चाहिये कि वे अव्यक्त ही रहते हैं। दैवी समाधि में बाह्य रूप से अचेतन रहने पर भी रहस्यवादी आध्यात्मिक रूप में सदा से अधिक चेतन रहता है क्योंकि वह अनुभव एक अमूल्य स्मृति के रूप में सदैव उसके साथ रहता है जो कि उसको सदैव एक नवीन आशा के साथ उस प्रदेश की ओर बढ़ने को प्रेरित करती है जोकि अज्ञात होते हुए भी अज्ञेय नहीं है। फिर यदि "विज्ञान के क्षेत्र में रहने वाले मनोवैज्ञानिक के लिये धार्मिक रहस्यवाद ईश्वर की नहीं बल्कि मानव की अभिव्यक्ति है।"[१९] तो इससे केवल धर्म के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक विधियों की सीमितता ही दिखाई पड़ती है। "पूर्ण अचेतनता में समाप्त होने वाली और अधिकाधिक सरल होने वाली मानसिक अवस्थाओं के अनुक्रम" के रूप में रहस्यवादी समाधि की व्याख्या केवल अज्ञान दिखलाती है। अपने गुरु जेम्स के साथ-साथ ल्यूबा भी रहस्यवादियों और मानसिक रोगियों में अन्तर मानता है परन्तु विभिन्न प्रकार के अनुभव को केवल मानसिक रोग जनित व्यवहार या अधिक से अधिक मानसिक चिकित्सा बना देता है, यह भी इसलिये कि दोनों में प्रयोजन जीवन की समृद्धि और वृद्धि ही है। जिसका ल्यूबा विश्लेषण करता है वह केवल एक आदिम रूप का धर्म अथवा रहस्यवाद है परन्तु जैसा कि जॉन केअर्ड ने ठीक ही कहा है "धर्म में उसके इतिहास के सच्चे उद्‌गम और यथार्थ व्याख्या के लिये हमें उसके आदि नहीं बल्कि अन्त की ओर देखना चाहिये।"[२०] फिर ल्यूबा ईश्वर के प्रत्यय और उसकी यथार्थ सत्ता में भेद नहीं करता। उसकी व्याख्या धार्मिक अनुभव का केन्द्र नहीं बल्कि अधिक से अधिक किनारा ही छू पाती है।

मनोविश्लेषणवादी मत : सिगमंड फ्रायड

मनोविश्लेषणवाद ने धार्मिक अनुभव की लगभग सभी मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं को प्रभावित किया है। फ्रॉयड के अनुसार धर्म का प्राचीनकाल में पिता की हत्या की ऐतिहासिक घटना और उसके परिणामस्वरूप अपराध की भावना से अनिवार्य सम्बन्ध है जिसके परिणामस्वरूप एक अत्यन्त वैभवशाली और सर्व शक्तिमान परमेश्वर के रूप की पुनर्स्थापना हुई जिसके सन्मुख मनुष्य अपने अपराध को स्वीकार करने के रूप में आत्मसमर्पण करते और उससे मुक्ति पाने की की आशा करते हैं। अपने 'टोटम और टैबू' नामक ग्रन्थ में फ्रॉयड चिह्नवादी धर्म (Totemism) का मनोवैज्ञानिक विकास दिखलाता है। यह धर्म का

---

१९. वही, पृष्ठ ३१६

२०. ल्यूबा, जे० एच० : इन्ट्रोडक्शन टु द फिलॉसफी ऑव रिलीजन, पृष्ठ ३३२

ऐतिहासिक प्रारम्भ है। शीघ्र ही ईश्वर धार्मिक चिह्न का स्थान ले लेता है। ईश्वर भी पहले आधा पशु और आधा मानव था। इसके पश्चात् उसको एक शक्तिशाली मानव माना गया है। धर्म शीघ्र ही बहुदेवतावाद से 'हीनोथीज्म' में होकर एकदेववाद पर आ पहुंचा। "केवल तभी" जैसा कि फ्रॉयड लिखता है "आदि पिता का वैभव पुनः स्थापित हुआ। उससे सम्बद्ध भावनाओं को अब दोहराया जा सकता था।"[२१]

फ्रॉयड धर्म को पिता पुत्र के सम्बन्ध की विरोधी भावना (ambivalence) में दिखलाता है। जैसा कि वह कहता है, "इस प्रकार धर्म मानवता का एक सार्वभौम अवरोधक स्नायु रोग है। जिस प्रकार बालक के विषय में वह उसी प्रकार पितृविरोधी ग्रन्थि में पिता के सम्बन्ध में उत्पन्न हुआ।"[२२] आदिम अपराध की चेतना नैतिक शुद्धि, हठवाद, पलायनवाद, शरीर से घृणा और आत्म नियन्त्रण तथा शरीर को कष्ट देने की असंख्य विधियों के अनेक रूपों में उदित हुई। मानव को इसी अपराध भावना से मुक्त कराने के लिये यीशु ने क्रॉस पर अपने प्राण दिये।

फ्रॉयड धर्म को एक भ्रान्ति मानता है। जैसा कि वह कहता है "इस प्रकार हम किसी विश्वास को एक भ्रान्ति कहते हैं जबकि उसकी प्रेरणा में यथार्थ से उसका सम्बन्ध न होकर, इच्छा पूर्ति ही विशेष रूप से होती है।"[२३] इस प्रकार का मत निश्चय ही उच्चतर धर्मों पर लागू नहीं हो सकता यद्यपि फ्रॉयड स्वयं दार्शनिक सत्यों पर आधारित धर्म को नहीं मान सकता था। यदि परम्परागत तथा कथित धर्म ही फ्रॉयड की आलोचना का विषय होता तो उससे कोई झगड़ा नहीं था परन्तु जब हम उसकी प्रसिद्ध पुस्तक "फ्यूचर ऑव एन इल्यूज़न" के पन्ने उलटते हैं तो हम उसको वास्तविक धर्म का ही तिरस्कार करते पाते हैं। वह शुद्ध वैज्ञानिक आधार पर स्थापित एक धर्महीन समाज का अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचता है। उसके शब्दों में "जितना ही अधिक ज्ञान के फल मानव को सुलभ होंगे उतना ही विस्तृत धार्मिक विश्वास का पतन होगा, सर्व प्रथम उसकी गई गुजरी और आशंकनीय अभिव्यक्ति का और तब उसकी आधारभूत मान्यताओं का भी।"[२४] इन शब्दों में फ्रॉयड समस्त धर्म का स्पष्ट निषेध करता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण धर्म और विज्ञान के परस्पर विरोध की धारणा पर आधारित है। परन्तु विवेकशील व्यक्तियों ने कभी भी धर्म का गम्भीरतापूर्वक विरोध नहीं किया है। "द फ्यूचर ऑव एन इल्यूज़न" का निष्कर्ष समयानुकूल नहीं

२१. फ्रॉयड, एस० : मोसेज़ एण्ड मोनोथीज्म, पृष्ठ २१०
२२. फ्रॉयड, एस० : द फ्यूचर ऑव एन इल्यूजन, पृष्ठ ७६
२३. वही, पृष्ठ ५५
२४. वही, पृष्ठ ६२

लगता जबकि फ्रॉयड कहता है "नहीं, विज्ञान कोई भ्रान्ति नहीं है। परन्तु यह धारणा एक भ्रान्ति ही होगी कि जो कुछ वह हमें नहीं दे सकता उसको हम कहीं और पा सकते हैं।" फ्रॉयड की मानव जीवन के उच्चतर मूल्यों के स्रोत की व्याख्या विशेषतया असमीचीन है। उत्पत्ति प्रामाणिकता की कसौटी नहीं है। यदि धर्म की उत्पत्ति पिता के लिये दमित इच्छा अथवा अपराध की भावना में भी है तो भी यह मानव के आध्यात्मिक रूपान्तर में उसके मूल्य अथवा उसके लक्ष्य की यथार्थता के विरुद्ध कोई तर्क नहीं है। धर्म का इतिहास स्थूल रूपों से अधिकाधिक सूक्ष्म रूपों की ओर एक क्रमिक विकास दिखलाता है। जैसे-जैसे धर्म आध्यात्मिकता में आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसकी स्थूलता भी कम होती जाती है। फ्रॉयड की व्याख्यायें तथ्यों को अति साधारण बना देती हैं। उसके धर्म के विश्लेषण में दार्शनिक, नैतिक तथा उच्च संवेगजनित पहलुओं को या तो गलत समझा गया है अथवा बिल्कुल ही भुला दिया गया है।

फ्रॉयड का दृष्टिकोण अत्यधिक विश्लेषणात्मक, उपयोगितावादी और व्यवहारवादी है। जैसा कि वह कहता है "तर्क के परे कोई अपील नहीं हो सकती। और यदि धार्मिक सिद्धान्तों का सत्य किसी आन्तरिक अनुभव पर आधारित है जोकि उस सत्य का साक्षी है तो वह उन अनेक मनुष्यों के लिये क्या होगा जिनको वह असामान्य अनुभव कभी हुआ भी नहीं।"[२५] यद्यपि निषेधात्मक मार्ग का परित्याग युग की माँग के साथ है तथापि रहस्यवाद के सत्य का तिरस्कार अनुचित है। चाहे दर्शन में हो अथवा विज्ञान में, तर्क सब कहीं कुछ भौतिक मान्यताओं पर आधारित होता है, जोकि सम्बोधि द्वारा मिलती हैं और जिनमें सबसे अधिक व्यापक रहस्यवादी सम्बोधि है। रहस्यवाद समस्त धर्म का सार है। हमें केवल उसे सार्वभौम बनाने की आवश्यकता है।

नैतिकता और धर्म

प्रिंगिल पैटीसन के अनुसार "एक ऐसा सिद्धान्त जिससे मानव जीवन पर प्रभाव डालने वाली कोई बात नहीं निकलती अथवा जो किसी क्रिया अथवा सहनशीलता का श्रोत नहीं हो सकता कोई ध्यान देने योग्य तथ्य नहीं प्रतीत होता।"[२६] प्रिंगिल पैटीसन नैतिक संकल्प की प्राथमिकता और नैतिक मूल्य की यथार्थता पर जोर देता है। इस दृष्टिकोण के विरुद्ध सेमुअल अलेक्जैण्डर का यह मत है कि यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में धर्म और नैतिकता में कोई भेद नहीं किया गया

---

२५. वही, पृष्ठ ४६

२६. प्रिंगिल पैटीसन : द आइडिया ऑव गॉड, पृष्ठ २४

२७. ब्रैडले, एफ० एच० : एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृष्ठ ४३६

२८. वही, पृष्ठ ४४१

होना और पूरी तरह होना मानव और प्रकृति का लक्ष्य है। पूरी तरह होने का अर्थ स्वयं को पूरी तरह और सर्वांग रूप में जानना है। पूरी तरह होने का अर्थ अपने सत् पुरुष की आन्तरिक और सर्वांग शक्ति को प्राप्त करना है। अन्त में, पूरी तरह होने का अर्थ प्रच्छन्न सत्, चिद् और आनन्द का साक्षात्कार करना है। फिर भी पूरी तरह होने का अर्थ सार्वभौम रूप में होना है क्योंकि समस्त सत् एक है और अन्त में सार्वभौम रूप में होने का अर्थ अतिशायी रूप में होना भी है।[३] मानव को भौतिक, प्राणात्मक तथा मानसिक स्तरों का उत्क्रमण करना होगा। तभी आत्मा निम्न प्रकृति का नियन्त्रण करेगी। वैयक्तिक और सार्वभौम चेतना केवल उत्क्रमण से ही अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सकती है। मानव का विकास अब और अधिक अज्ञान में और निश्चेतना के द्वारा विकास नहीं है। वह ज्ञान से अतिचेतना के और भी पूर्ण ज्ञान की ओर विकास है।

प्रकृति में प्रयोजन

इस विकास की एक दोहरी प्रक्रिया है यथा दृष्य और अदृष्य, भौतिक और आध्यात्मिक, सार्वभौम और वैयक्तिक। श्री अरविन्द ने प्रकृति में प्रयोजन को माना है। वह अन्तरंग आत्मा में चेतन एक आन्तरिक सत्य-आवश्यकता की प्रेरणा है। क्रीड़ा का भी अपना लक्ष्य होता है। लीला निष्प्रयोजन नहीं है। आनन्द में आन्तरिक सत्य की क्रिया की अवहेलना नहीं है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "एक उच्चतर और आध्यात्मिक सृष्टि के रूप में समस्त सत् के जड़ जगत में स्वयं अभिव्यक्त हो जाने तक सत्ता की उच्चतर शक्तियों की अभिव्यक्ति विकास में प्रयोजन के रूप में मानी जा सकती है।"[४] स्पैन्गलर तथा अन्य निराशावादी विद्वान चाहे जो भी कहें, विकास निश्चित रूप से सत्ता और मूल्यों के सभी क्षेत्रों में अधिकाधिक गहनता, नमनीयता, गहराई और विस्तार की ओर बढ़ा है। अवनतियाँ भी वर्तुलाकर विकास की अधोमुखी गतियाँ हैं। मानव जाति में आध्यात्मिकता का जोर मानव के आध्यात्मिक भविष्य का सूचक है। श्री अरविन्द यह नहीं कहता कि विकास एक साथ और सार्वभौम होगा। जब मानव मस्तिष्क एक विशेष अवस्था में पहुंच जायेगा तो दिव्य स्तर की ओर क्रमशः विकास होने की सम्भावना है। मानव की भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक सभी सत्ता का रूपान्तर होना चाहिये। परन्तु सबसे बड़ा परिवर्तन चेतना का परिवर्तन है, मानव के चैत्य पुरुष में उठने की एक नित्य प्रेरणा है। मानव में विकास चेतन हो गया है। शरीर के परिवर्तन के द्वारा नहीं, जैसा कि प्रारम्भिक अवस्थाओं में था बल्कि चेतना के उत्थान से ही मानव में विकास आगे बढ़ेगा। परन्तु यह

---

३. वही, पृष्ठ ८८८-९४

४. वही, पृष्ठ ६५०

विकास सदैव आध्यात्मिक है। केवल प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही उसकी आध्यात्मिक प्रकृति निश्चेतना के कारण छिपी रहती है। मानव को अपने आध्यात्मिक और भौतिक विकास और रूपान्तर में चेतन रूप से प्रकृति की सहायता करनी चाहिये। आत्मा में निम्नतर से उच्चतर की ओर उठने की एक प्रवृत्ति है परन्तु निम्न को संश्लिष्ट करने और दैवी बनाने की प्रवृत्ति भी उतनी ही मौलिक है। यदि मानव उस स्तर तक नहीं उठ सकता तो उसे दूसरे प्राणियों के लिये स्थान छोड़ देना पड़ेगा। परन्तु यदि वह उठ सकता है तो कोई कारण नहीं है कि वह क्यों न उठे। प्रकृति में तत्व बाह्य कारण से उपस्थित रहता है और केवल उपयुक्त समय पर ही अभिव्यक्त होता है। आत्मा अन्तिम विकासवादी उत्क्रान्ति है क्योंकि वह मूल विवर्तित तत्व है।

आध्यात्मिकता का स्वरूप

आध्यात्मिकता आत्मा का स्वाभाविक प्रकाश और आन्तरिक शक्ति है। वह न तो नैतिक चेतना है, न धार्मिक आस्था और न आदर्शवाद अथवा न ही इन सबका सम्मिश्रण है। वह विचार, अनुभूति और संकल्प से भिन्न है। वह आत्मा की सच्ची शक्ति है और इस कारण बुद्धि की पहुंच के परे है। वह रहस्यमय, गुह्य और अन्तःस्थ है। हमारे स्वतन्त्र चुनाव के रूप में वह समस्त चेतना में छा जाती है और उसको प्रकाशित एवं विस्तृत करती है। वह समस्त सत्ता को मुक्त और रूपान्तरित करती है। वह समस्त धर्म की चरम परिणति है। वह हमको दैवी सत्ता के प्रत्यक्ष सम्पर्क में लाती है। वह सत्ता का आवश्यक और सार्वभौम सत्य, समस्त प्राणियों की एक अमर आत्मा है। शरीर, प्राण और मानस जड़ पदार्थ में उसकी आत्माभिव्यक्ति के साधन हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में, "आध्यात्मिकता अपने सार रूप में हमारी सत्ता के आन्तरिक सत्य, एक आत्मा, अहं और जीव की ओर एक जागरण है जोकि हमारे मानस, प्राण और शरीर से भिन्न है। वह जानने, अनुभव करने, 'वह' बनने, जगत में व्यापक और उससे परे की वृहत्तर सद्वस्तु से जोकि हमारे अपने अन्दर भी है सम्बन्ध जोड़ने, उससे सम्पर्क स्थापित करने और संयुक्त होने तथा एक नवीन प्रकृति में प्रेरणा, सम्पर्क, ऐक्य, विकास अथवा जागरण के फलस्वरूप हमारी समग्र सत्ता को मोड़ने, परिवर्तित करने और रूपान्तरित करने की एक आन्तरिक प्रेरणा है।"[५] इस प्रकार आध्यात्मिकता एक उच्चतर, प्रकाशमान और असीम चेतना की शक्ति है। वह ढक्कन को तोड़ना, आवरण को फोड़ना अथवा दैवी सत्ता की ओर एक मार्ग को खोल देना है और केवल यही समस्त विज्ञान, नैतिकता, धर्म और दर्शन के लक्ष्य को पूर्ण कर सकता है। यह योग में यथार्थ रूप से प्राप्त होता है।

---

५. वही, पृष्ठ ६८८

आत्मा का दोहरा विकास

चेतना शक्ति एक दोहरा विकास खोजती है—बाह्य प्रकृति का विकास और साथ ही आन्तरिक सत्ता का भी विकास। कभी-कभी शरीर की भारी जड़ता और आग्रह, प्राण के अस्त-व्यस्त संवेग और मानस के सन्देह तथा निषेध इतने असह्य हो जाते हैं कि बहुधा आत्मा शरीर को कष्ट देना, जीवन का त्याग और मानस को शान्त करना चाहती है और प्रकृति से पृथक् होकर अपना वैयक्तिक मोक्ष खोजती है। यह प्रवृत्ति हठवाद, मायावाद और पलायनवाद की ओर ले जाती है। इस प्रकार आत्मा के विकास में एक दोहरी प्रवृत्ति है एक तो कभी-कभी अन्य भागों का परित्याग करके भी उसकी स्थापना और दूसरे प्रकृति के अन्य भागों में उसका विस्तार। इसी आन्तरिक पुरुष को खोलने के लिये ही प्रकृति ने धर्म, गुह्य विज्ञान, दर्शन और आध्यामिक साक्षात्कार का प्रयोग किया है। प्रथम तीन केवल प्रयास मात्र हैं और अन्तिम निश्चित प्रवेश है।

दर्शन और धर्म का मूल्य

धर्म और दर्शन ने कभी-कभी परस्पर सहयोग किया है परन्तु अन्य अवसरों पर नितान्त भिन्न मार्ग अपनाये हैं। आध्यात्मिक अनुभव भी इन दोनों से सम्बन्ध तोड़कर बिल्कुल भिन्न राह पर चला है। परन्तु सर्वांग ज्ञान और चेतना की ओर सच्चा और पूर्ण मार्ग प्राप्त करने के लिये प्रकृति के विकास में स्वतन्त्ररूप से इन प्रयोगों का भी अपना महत्व रहा है। यह इस कारण भी आवश्यक था क्योंकि ये सभी मानव की किसी न किसी मौलिक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। धर्म मानव को दैवी सत्ता से जोड़ना और विचार, जीवन तथा शरीर का दमन चाहता है ताकि वे आत्मा का अनुसरण कर सकें। इस ज्ञान का विज्ञान के तथ्यों से सामंजस्य होना चाहिये और यह कार्य दर्शन का है। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में धर्म और दर्शन दोनों ही योग के आधीन होने चाहियें क्योंकि योग में उन दोनों की ही चरम परिणति है। श्री अरविन्द के दर्शन में परिपूर्ति और अतिशयता में कोई विरोध नहीं है क्योंकि अतिशयता में संश्लिष्टता भी है। इस प्रकार योग साधन भी है और साध्य भी। ज्ञान, संकल्प और अनुभूति सभी आध्यात्मिकता के साक्षात्कार के साधन हैं।

परन्तु इससे श्री अरविन्द दर्शन का महत्व घटाना नहीं चाहता। वह योगी

६. "दर्शन, सत्य की बौद्धिक अभिव्यक्ति रह सकता है परन्तु केवल इस बृहत्तर खोज और उसके उतने तत्व की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में जितना कि उन लोगों के लिये मानसिक भाषा में प्रकट किया जा सकता है जो कि अब भी मानसिक बुद्धि में रहते हैं :"

—श्री अरविन्द : द रिडिल ऑव दिस वर्ल्ड, पृष्ठ २६

ही नहीं बल्कि दार्शनिक भी था, केवल वह समग्र सत्ता में बुद्धि के मूल्य को अत्यधिक नहीं मानता। दर्शन उसके लिये अतिमानसिक नहीं बल्कि बौद्धिक ज्ञान है। अतः आध्यात्मिक मूल्यों की श्रेणी में उसको अपना उपयुक्त स्थान मिलना चाहिये।[६] विज्ञानमय (Gnostic) स्तर पर मानसिक स्तर के धर्म, दर्शन, कला तथा अन्य समस्त तत्वों की एक उच्चतर, स्वाभाविक, अतिमानसिक ज्ञान और संकल्प में परिपूर्ति होगी। जब तक कि हम मानव हैं, तब तक ये सभी समान रूप से आवश्यक हैं। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है "मानव प्राणियों में प्रकृति के इस आन्दोलन में सर्वोच्च ज्ञान की ओर एक बौद्धिक प्रयास, मानस पर उसका अधिकार एक अपरिहार्य सहायता है।"[७] बुद्धि को प्रकाशित और सन्तुष्ट किया जाना चाहिये। आध्यात्मिक विकास में विचार शक्ति और आलोचनात्मक तर्क की सहायता भी उतनी ही आवश्यक है। बुद्धि को प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से ही दैवी सम्पर्क प्राप्त करना चाहिये। दर्शन का सम्बन्ध सामान्य आध्यात्मिक सत्य के वर्णन, असीम के तर्क, वस्तुओं के तर्क, उनके परस्पर सम्बन्धों और आध्यात्मिक विकास में उनके स्थान से है। अतः श्री अरविन्द के अनुसार दर्शन "आध्यात्मिक होना चाहिये।"[८] परन्तु कितना भी आध्यात्मिक होने पर भी दर्शन योग का स्थान नहीं ले सकता। एक आध्यात्मिक मानस, जैसा कि दर्शन की अधिकांश व्यवस्थाओं का विधान है, अधिक से अधिक एक वैयक्तिक मोक्ष या अन्य जगत की ओर पलायन खोज सकता है परन्तु वह आध्यामिकता का स्थान नहीं ले सकता। आध्यात्मिक विकास के लिये मानस से उच्चतर साधन की आवश्यकता है।

अतिमानस की ओर

सार्वभौम प्रयोजन केवल आत्मा की अभिव्यक्ति ही नहीं बल्कि प्रकृति का सर्वांग रूपान्तर भी है। अतिमानव कोई उच्चतर मानव अथवा रहस्यवादी नहीं है। अति-मानव मानव का उत्क्रमण करता है। अलेक्जैंडर के देव के समान अति-मानसिक स्थिति मानस के लिये अज्ञेय ही रहती है यद्यपि किसी मध्यस्थ चेतना के द्वारा वह उसकी ओर देख सकता है। केवल बौद्धिक से आत्मिक स्तर पर पहुँचने की उपमा से इस स्थिति का ज्ञान किया जा सकता है। यहाँ पर आध्यात्मशास्त्र से बहुत कम सहायता मिल सकती है यद्यपि यह सत्य कभी-कभी रहस्यवादी अनुभव से जाना जा सकता है।

मानस से अतिमानस की ओर जाना प्रकृति से परा-प्रकृति की ओर जाना है। अन्य सभी निम्न स्तर चेतन-शक्ति के निश्चेतना अथवा अज्ञान पर क्रिया

७. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ७१३

८. वही, पृष्ठ ७१५

प्रकार जैसा कि उसने लिखा है, "सच्चा धर्म आध्यात्मिक धर्म है जोकि बुद्धि से परे, मानव की सौन्दर्यात्मक, नैतिक और व्यावहारिक सत्ता से परे और हमारी सत्ता के इन अंगों को आत्मा के उच्चतर प्रकाश और नियमों से सूचित और शासित करने के लिये आत्मा में रहता है। इसके विरुद्ध धर्मवाद अपने को निम्न सदस्यों की कुछ संकीर्ण धार्मिक उन्नति में सीमित रखता है अथवा बौद्धिक सिद्धान्तों, रूपों और विधियों, कुछ निश्चित और कठोर नैतिक नियमावली, कुछ धार्मिक-नैतिक अथवा धार्मिक सामाजिक व्यवस्था पर विशेष रूप से जोर देता है।"[39] धर्मवाद के स्थान पर सच्चे धर्म की स्थापना होनी चाहिये जिसका कार्य मानव को दैवी सत्ता की ओर ले जाना, उसने जो कुछ अब तक इस दिशा में प्राप्त किया है उस सबको एक स्वरूप देना और उसको उसकी सामर्थ्य के अनुसार सत्य के निकट पहुंचने का मार्ग दिखलाना है।

जब समस्त विभिन्न प्रवृत्तियाँ और भी अधिक स्पष्ट तथा दूसरे से पृथक और स्वतन्त्र हो गईं तो धर्म की यह बुद्धेतर अवस्था क्रमशः बौद्धिक अवस्था में परिवर्तित हो गई। जैसे-जैसे बौद्धिक तत्व बढ़ता गया, वैसे-वैसे प्रत्येक वस्तु मत, कर्मकांड और संस्थाओं के आधीन होती गई। यह प्रवृत्ति गुह्य, अतिभौतिक और धार्मिक तत्वों के पूर्ण निराकरण में अपने अज्ञान की सीमा तक पहुंच गई। परन्तु इसके साथ ही साथ एक दूसरी प्रवृत्ति भी थी जिसने गुप्त आध्यात्मिक तत्वों को व्यक्त करने और उनको एक सार्वभौम स्तर पर रखने की चेष्टा की। यह आध्यात्मिक तत्व पुनः धर्म की गहन पद्धति के द्वारा सामान्य और गुप्त रूपों में विकसित हुआ। इन दोनों के सम्मिश्रण से मत, सम्प्रदाय और सिद्धान्तों की रचना हुई। इस प्रकार महान धर्मों का विकास हुआ जिनका सार आध्यात्मिक सत्य था जो कि तब तक स्थिर रहा जब तक कि वह समय-समय पर नवीन होता रहा। इन महान धर्मों में भी दो रूप विकसित हो गये कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट, पहला धर्म का मौलिक नमनीय स्वभाव, उसकी अनेकांगिता और मानव सत्ता की समस्त प्रकृति का आवाहन करने की ओर प्रवृत्ति और दूसरी इस उदारता को खण्डित करने वाली और विश्वास, पूजा तथा व्यवहार में एक आस्था पर जोर देने वाली और सामान्य बुद्धि, हृदय और संकल्प को शीघ्र प्रभावित करने के लिये सरलता लिये हुए एक प्रवृत्ति है। यह दूसरी प्रवृत्ति ही अत्यधिक बौद्धिकता की ओर ले गई जो कि अपनी चरम सीमा पर पहुंच कर धर्म में एक मात्र शुष्क बुद्धि को छोड़कर समस्त आध्यात्मिक तत्व को निकालकर जीवित धर्मों के स्थान पर एक समृद्धहीन और निष्प्राण व्यवस्था स्थापित करती है।

धर्म के विकास की इस लम्बी प्रक्रिया में प्रत्येक धर्म ने मानव जाति की सहायता की है। मूर्तिपूजावाद ने मानव के जीवन की विशालता और ऊँचाई

---

३९. श्री अरविन्द। द ह्यूमन साइकिल, पृष्ठ २२०

और सौन्दर्य का प्रकाश बढ़ाया है और अनेकाँगी पूर्णता की ओर लक्ष्य किया है। ईसाइयत ने उसको दैवी प्रेम और दान के विषय में दिव्य दृष्टि प्रदान की है। बुद्ध धर्म ने उसको अधिक बुद्धिमान, शुभ और शुद्ध बनने का एक उत्तम मार्ग दिखलाया है। यहूदी धर्म और इस्लाम ने उसको कार्य में धार्मिक रूप से विश्वसनीय होना और ईश्वर के प्रति उद्दाम भक्ति करना सिखलाया है। हिन्दू धर्म ने उसके सन्मुख सर्वाधिक विशाल और गहन आध्यात्मिक सम्भावनाओं को उन्मुक्त कर दिया है।[४०] इन सभी धर्मों ने अनेक आत्माओं की रक्षा की है परन्तु मानव जाति को आध्यात्मिक बनाने के लिये मत सम्प्रदाय की नहीं बल्कि आध्यात्मिक आत्म-विकास के लिये एक सतत और सर्वग्राही प्रयत्न की आवश्यकता है। ल्यूबा तथा अन्य विद्वानों के साथ श्री अरविन्द ने यह माना है कि धर्म मानव की आधारभूत आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करता है परन्तु इस संकीर्ण लक्ष्य के पीछे उसने प्रकृति के एक अधिक विस्तृत प्रयोजन की ओर संकेत किया है। धर्म केवल ऊँचाई ही नहीं बल्कि विस्तार भी, विकास ही नहीं बल्कि संश्लिष्टता भी, भौतिक शरीर, प्राण और मानस की पारपूर्ति ही नहीं बल्कि इन सबका आध्यात्मिक में आरोहण, और सच्चिदानन्द से एक चैत्यीकरण, आध्यात्मीकरण और एकता भी सम्पादित करता है।

सर्वांग दृष्टिकोण

यह विचार श्री अरविन्द को धर्म के विषय में सर्वांग दृष्टिकोण पर लाता है। जैसा कि वह कहता है "एक धर्म जो कि स्वयं भी धर्मों की एक व्यवस्था है और जो साथ ही साथ प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने आन्तरिक अनुभव देता है प्रकृति के इस प्रयोजन में सबसे अधिक निकट होगा। वह आध्यात्मिक विकास और प्रस्फुटन का एक समृद्ध धायघर और आत्मा के अनुशासन, प्रयत्न तथा आत्म साक्षात्कार की एक विस्तृत और विविध पाठशाला होगी।"[४१] भिन्न-भिन्न धर्मों में एक सामंजस्य तो आवश्यक है परन्तु उनमें विविधता का उन्मूलन नहीं है क्योंकि एकता में विविधता ही प्रकृति में आत्मा की अभिव्यक्ति का नियम है।

इस प्रकार धर्म की ओर श्री अरविन्द का दृष्टिकोण सर्वांग है। धर्म के एक दार्शनिक के रूप से वह मानवीय अनुभव के इस विशेष क्षेत्र में बुद्धि की सीमायें खोजता है और प्रकृति की सम्पूर्ण योजना में उसके महत्व का निर्णय करता है। हेगेलवादियों के साथ वह धर्म में विकास खोजता है और उसमें से बुद्धि से निम्न तत्वों को छाँटने में तर्क की महत्ता भी स्वीकार करता है परन्तु फिर उनके विरुद्ध वह बुद्धि को अतिमानसिक तत्वों के आधीन मान लेता है।

४०. श्री अरविन्द : थाट्स एण्ड ग्लिम्पसेज, पृष्ठ ३६

४१. श्री अरविन्द : द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ७२६

प्रो० टॉयनबी के समान इतिहासकारों के साथ वह मानव इतिहास में धर्म के महत्व को मानता है और मनोविश्लेषणवादियों के साथ धर्म में बुद्धेतर निम्न तत्वों की क्रीड़ा भी स्वीकार करता है। परन्तु फिर धर्म में अतिचेतन प्रभावों की ओर इंगित करके वह एक भारी भ्रान्ति को स्पष्ट करता है। व्यवहारवादियों के समान वह जीवन में धर्म के महत्व को मानता है परन्तु अपनी 'विश्व-व्यवस्था' के अनुरूप वह धर्म में प्रकृति के एक विशालतर प्रयोजन पर जोर देता है।

धर्म आत्मा और प्रकृति के बीच एक महान मध्यस्थ है। उसका यथार्थ कार्य मानव के मस्तिष्क और शारीरिक सत्ता को आध्यात्मिक चेतना के प्रादुर्भाव के लिये तैयार करना है। उसे उसको उस स्थान तक ले जाना है जहाँ पर कि आन्तरिक आध्यात्मिक प्रकाश पूर्णतया प्रकट होना प्रारम्भ होता है। ब्रैडले के साथ श्री अरविन्द ने उस व्यवधान की ओर संकेत किया है जो धर्म आराध्य और आराधक के बीच छोड़ देता है परन्तु योग में धर्म की चरम परिणति से श्री अरविन्द का तात्पर्य उसका उन्मूलन नहीं बल्कि उसकी परिपूर्ति है। धर्म अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल होता है क्योंकि वह पूर्ण ऐक्य से पीछे रह जाता है और क्योंकि उसमें चैत्यीकरण, रूपान्तर और संश्लिष्टता भी नहीं है। परन्तु दूसरी ओर ये ही योग के मूल तत्व हैं। अतः अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये धर्म योग में परिपूर्ण होना चाहिये। यह इसलिये भी वाँच्छनीय है क्योंकि जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "आध्यात्मिक अनुभव धर्म का अन्तिम लक्ष्य और श्रेय, उसका आकाश और शिखर है।"[४२] धर्म का दर्शन प्रकृति की सम्पूर्ण व्यवस्था में धर्म के मूल्य का निश्चय करते हुये सद्वस्तु की एक पूर्ण झाँकी पर आधारित है। मूल्यों के वर्गीकरण में धर्म नैतिकता से उच्चतर है परन्तु पूर्ण आध्यात्मिकता से कम है। धर्म और दर्शन, हृदय और मस्तिष्क, संवेग और विचार सभी आध्यात्मिक अनुभव में समान रूप से सन्तुष्ट, संश्लिष्ट और रूपान्तरित हो जाते हैं। मानस और आत्मा के बीच में धर्म एक आवश्यक कदम है परन्तु उसकी आस्था को एक जीवित अनुभव बनाने के लिये योग अनिवार्य है।[४३]

---

४२. वही, पृष्ठ ६६२

४३. "यदि हममें स्वयं अपने अन्दर बुद्ध, ईसा और कृष्ण की अभिव्यक्ति और व्यवस्थापन नहीं है तो बाहर से कृष्ण, ईसा अथवा बुद्ध की उपासना करना पर्याप्त नहीं होगा।"

—श्री अरविन्द : द सिन्थेसिस ऑव योग, पृष्ठ ७४

१०

सर्वांग योग और मानव विकास

"यदि भौतिक प्रकृति में एक विकास है और यदि वह सत का एक ऐसा विकास है जिसमें चेतना और जीवन उसकी दो कुंजियाँ, पद अथवा शक्तियाँ हैं तो यह सत की पूर्णता, चेतना की पूर्णता, जीवन की पूर्णता ही उस विकास का लक्ष्य होना चाहिये जिसकी ओर हम जा रहे हैं और जोकि हमारे प्रारब्ध की प्रारम्भिक अथवा बाद की अवस्था में अभिव्यक्त होगा।" —श्री अरविन्द[1]

परम श्रेय

विकास का सिद्धान्त वैयक्तिक और सार्वभौम प्रकृति के प्रयोजन को समझने के लिये एक कुंजी है। यह विकासवादी प्रयोजन सृष्टि के स्वभाव से ही निश्चित होता है। आत्मा जड़ में अभिव्यक्ति के शुद्ध आनन्द के हेतु निवर्तित हुई है और उस प्रयोजन के प्राप्त हो जाने पर उसको अपनी आन्तरिक उपेयता के कारण ही अपने प्रारम्भिक रूप में पुनः विकसित होना चाहिये। यह प्रकृति में विकास की प्रक्रिया से स्पष्ट दिखाई पड़ता है। लाइबनीत्ज का चिद्विन्दुवाद इसी तथ्य को अभिव्यक्त करता है यद्यपि वह सार्वभौम तत्व को खो देता है। हमारे जाग्रत चिद्बिन्दु पर ही रुक जाने का कोई कारण नहीं है क्योंकि यदि शक्ति सत की शक्ति है और उससे एक है और यदि विवर्तन से पूर्व निवर्तन आवश्यक है तब यह प्रक्रिया तभी रुकनी चाहिये जबकि शक्ति सत को प्राप्त कर ले अन्यथा व्यक्ति एक सतत अस्थिरता में छूट जाता है। चेतना शक्ति जड़ जीवन और मानस में होकर सतत विकसित होती जाती है और इस प्रकार वह अतिमानस तक पहुंचनी चाहिये। इस प्रकार दर्शन नहीं बल्कि योग ही सच्चा परम श्रेय है। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है "जानना नहीं बल्कि होना ही अभिव्यक्ति का लक्ष्य है। ज्ञान सत की क्रियात्मक चेतना का एक साधन मात्र है।"[2]

---

१. द लाइफ डिवाइन, अन्तिम वाक्य

२. वही, पृष्ठ ८७२

करने से जाने जा सकते हैं। अधिक उत्तम स्तर हमारे अधोचेतन भागों में स्वयं अपनी नींव स्थापित करते हैं और वहाँ से विकासवादी प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। जड़-प्रकृति में निवर्तित होने पर भी अधिमानस और अतिमानस के ऐसे कोई स्तर नहीं हैं क्योंकि हमारे अज्ञान के लिये वे अतिचेतन हैं। वे तभी उत्पन्न हो सकते हैं जबकि अतिचेतना की सत्ता और शक्तियाँ हम पर उतरती हैं, हमको उठाती हैं और हममें अपने को स्थापित करती हैं। केवल आरोहण से एक अस्थायी और अपूर्ण फल प्राप्त होगा। एक यथार्थ रूपान्तर के लिये एक अवरोहण, ऊपर से एक क्रिया और नीचे से एक निरपेक्ष समर्पण होना चाहिये।

मानव का स्वयं और प्रकृति पर नियन्त्रण इस विकासवादी प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। जैसे-जैसे उसका परा-प्रकृति में विकास होता है वह अधिकाधिक मुक्त होता जाता है। परन्तु निम्न प्रकृति से स्वतन्त्रता के लिये परा-प्रकृति के प्रति समर्पण आवश्यक है। ईश्वर के हाथ में यन्त्र बन जाने पर ही मानव प्रकृति के यन्त्रवाद से बच सकता है। इस प्रकार का ऐक्य व्यक्ति का उन्मूलन नहीं करता बल्कि उसको परिपूर्ण करता है। "वह सत्ताहीनता नहीं बल्कि एक वृहदत्तर सत्ता की ओर प्रयाण है।"[९] अपने को सार्वभौम और अतिशायी आत्मा का एक रूप और केन्द्र समझने से व्यक्ति अधिकाधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली होता जाता है।

योग और विकास

योग का अर्थ है जोड़ना। वह "सत्ता में गुप्त शक्तियों की अभिव्यक्ति के द्वारा आत्मपूर्णता की ओर एक व्यवस्थित प्रयत्न और व्यक्ति का उस सार्वभौम और अतिशायी सत्ता से संयोग है जिसको कि हम मानव और जगत में अंश रूप से अभिव्यक्त देखते हैं।"[१०] इस प्रकार एक अर्थ में समस्त दर्शन, धर्म और समस्त जीवन ही योग है। मानव और विश्व का विकास एक ही क्रम से चलता है। दोनों में वही प्रक्रिया का ऊँचा और गहरा होना, नवीन स्तर पर अवरोहण और निम्न स्तरों की संश्लिष्टता है। इस प्रकार योग प्रकृति में विकास की पद्धति का एक संक्षिप्त रूप है।[११] श्री अरविन्द का सर्वांग योग दैवी सदवस्तु के सर्वांग विचार से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार सर्वांग मनोविज्ञान के समान योग भी सर्वांग दर्शन पर आधारित है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि योग दर्शन के आधीन है। एक अर्थ में दर्शन और योग परस्पर सहायक हैं। जितना ही सर्वांग योग होगा उतना ही अधिक सर्वांग उस पर आधारित दर्शन होगा और इसी प्रकार जितना ही अधिक सर्वांग दर्शन होगा उस पर आधारित योग भी उतना ही सर्वांग होगा। जैसे-जैसे योगी अपने अनुभव में ऊँचा उठता है वैसे-वैसे अपने

---

९. वही, पृष्ठ ८९६

१०. श्री अरविन्द : द सिन्थेसिस ऑव योग, पृष्ठ ४

११. वही, पृष्ठ ५

दृष्टिकोण में वह और भी अधिक पूर्ण होता जाता है। यह हो सकता है कि वह अपने अनुभव को बौद्धिक भाषा में रखने और इस प्रकार बौद्धिक अर्थों में दार्शनिक होने की कभी आवश्यकता ही अनुभव न करे। परन्तु तब आध्यात्मिक अनुभव का बौद्धिक आदान-प्रदान असम्भव होने के कारण योगी मानसिक प्राणियों की सहायता न कर सकेगा और इस प्रकार सार्वभौम मोक्ष के यौगिक लक्ष्य से दूर रहकर अपने योग को ही अपूर्ण बना लेगा। दर्शन की आवश्यकता केवल विज्ञानमय प्राणियों की जाति में ही वैकल्पिक हो सकती है, परन्तु जब तक कि सम्पूर्ण मानव जाति मानसिक अवस्था का उत्क्रमण नहीं करती तब तक दर्शन ही हमारे लिये सर्वोच्च ज्ञान है। मानव के ज्ञान में दर्शन का स्थान सर्वोच्च है और जब तक हम मानव का उत्क्रमण नहीं करते तब तक उसका स्थान नीचा नहीं करना चाहिये। परन्तु बुद्धि सत्य को उत्पन्न नहीं करती अतः यहीं पर योग का अधिकार और धर्म तथा विज्ञान का महत्व निश्चित होता है। समस्त सच्चा दर्शन "योग का दर्शन"[१२] है। इन सबके परस्पर सम्बन्ध के विषय में श्री अरविन्द के मत को समझने के लिये हमें उसके सर्वांग दृष्किोण को समझना पड़ेगा जिसमें कि प्रत्येक को अपना स्थान मिलता है और उस परम श्रेय सच्चिदानन्द को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक वस्तु का समुचित उपयोग होता है, जो कि हमारे समस्त दर्शन, विज्ञान, धर्म और योग का समान रूप से श्रेय है।

हमको योग के ज्ञानात्मक और आध्यात्मिक, साधन और साध्य रूप के महत्व में भी भेद करना चाहिये यद्यपि अन्त में स्वयं श्री अरविन्द ने ही ज्ञानशास्त्र और आध्यात्मशास्त्र में कोई भेद नहीं माना है क्योंकि उसके मत में जानना और होना भिन्न-भिन्न नहीं है। योग दर्शन का एक साधन भी है और उसकी चरम परिणति भी है। योग को सर्वांग दैवी सद्वस्तु को प्राप्त करने के साधन के ही अर्थ में श्री अरविन्द ने उसको "व्यावहारिक मनोविज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं"[१३] कहा है। चूँकि ज्ञान के पीछे संकल्प आना ही चाहिये अतः योग दर्शन का परिणाम है। और चूँकि अतिमानसिक ज्ञान योग के बिना प्राप्त किया जा सकता इसलिये दर्शन योग के आधीन है जिस प्रकार आत्मा में संश्लिष्ट होने पर भी बुद्धि उसके आधीन है।[१४] दूसरे, सभी प्रकार के योग भी मानव के इस अथवा

---

१२. वही, पृष्ठ ३४

१३. वही, पृष्ठ ४६

१४. "दर्शन का ज्ञान वह आधार है जिससे कि वह अपनी सत्ता के सिद्धान्तों के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार प्रारम्भ करता है, केवल वह बौद्धिक प्रज्ञा को, जोकि दर्शन की एक मात्र देन है, एक ऐसी गहराई में ले जाता है जोकि उसको विचार और दृष्टि से परे, प्रज्ञा से परे साक्षात्कार और अधिकार में ले जाता है, जिसको दर्शन अमूर्त और अपरोक्ष छोड़ देता है उसको वह एक जाग्रत निकटता और आध्यात्मिक मूर्त्तता बना देता है।" —वही, पृष्ठ ५८६

उस पहलू पर बल देने वाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रियायें है परन्तु जिस प्रकार सर्वांग मनोविज्ञान मनोविज्ञान में सभी एकांगी मतों को पूर्ण करता है उसी प्रकार सब प्रकार के योग भी सर्वांग योग में पूर्ण होते हैं। इस प्रकार सर्वांग योग, सर्वांग मनोविज्ञान और सर्वांग दर्शन परस्पर सम्बन्धित हैं। श्री अरविन्द का दृष्टिकोण सर्वांग है। मनोविज्ञान, दर्शन और योग सभी में वह अन्य मतों की आलोचना मात्र नहीं बल्कि उनकी परिपूर्ति है।

अपने मुख्य विवेच्य विषय से हमारे इतना अधिक हटने का कारण प्रत्ययों को स्पष्ट करना है जोकि हमारे मत में समस्त ज्ञान का जीवन प्राण है। श्री अरविन्द स्वयं इस सिद्धान्त के विषय में बड़े सतर्क हैं और उन्होंने सब कहीं सूक्ष्म भेद किये हैं, यद्यपि एक सच्चे योगी-दार्शनिक के समान ज्ञान की एकता को कभी दृष्टि से ओझल नहीं किया है। अब हम योग और विकास के अपने विषय को फिर से लेंगे। विकास जड़, प्राण और मानस में होकर होता है और उनका उसमें अत्यधिक महत्व है। अतः कोई भी सर्वांग योग शरीर, प्राण, शक्ति अथवा बुद्धि की अवहेलना नहीं कर सकता। दूसरे, जिस प्रकार विकास में निम्न का उत्थान और रूपान्तर है उसी प्रकार सर्वांग योग भी कुछ नहीं छोड़ता बल्कि सबको ऊँचा उठाता और रूपान्तरित करता है। फिर, विकास अथवा विवर्तन वैयक्तिक न होकर सार्वभौम है, इसी प्रकार सर्वांग योग भी है। उसका लक्ष्य वैयक्तिक नहीं बल्कि सार्वभौम मोक्ष और अतिमानसीकरण है। इस प्रकार विकास और योग दोनों के लक्ष्य एक ही हैं परन्तु जबकि विकास धीमे-धीमे और अप्रत्यक्ष रूप से आगे बढ़ता है और प्रकृति के चिह्नों में दैवी सत्ता की खोज करता है तब योग द्रुत गति से और प्रत्यक्ष कार्य करता है और जगत के परे सर्वातिशायी तक पहुंच सकता है। इस प्रकार योग का सामान्यीकरण प्रकृति में विकास को अत्यधिक प्रोत्साहित करेगा।

योग का संश्लेषण

हठयोग स्थूल शरीर पर कार्य करता है, राजयोग सूक्ष्म शरीर पर कार्य करता है। कर्म, भक्ति और ज्ञान का त्रिविध मार्ग सत्य, सौन्दर्य और असीम में मोक्ष प्राप्त करना चाहता है। इनकी एक क्रमिक व्यवस्था है और इनमें से प्रत्येक पृथक-पृथक एकांगी प्रयत्न है। अतः एक पूर्ण व्यवस्था पर पहुंचने के लिये श्री अरविन्द ने इन सबका संश्लेषण करने का प्रयास किया है। परन्तु इसका सिद्धान्त न तो उन सबका योग है और न क्रमिक अभ्यास है। वह इन अनुशासनों के बाह्य रूपों की अवहेलना करता है और उन सबमें सामान्य कोई केन्द्रीय तत्व पकड़ता है जोकि उनके विशेष सिद्धान्तों को ठीक स्थान और उचित अनुपात में उपयोग करता है। इस प्रकार सर्वांग योग मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को रूपान्तरित और संश्लिष्ट करने की चेष्टा करता है। योगी में केन्द्र अहंकार से आत्मा पर

आ जाता है जोकि स्वयं सर्वांग निरपेक्ष ही है। अन्य व्यवस्थाओं के विरुद्ध श्री अरविन्द के योग में स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिक विभिन्नता के लिये पर्याप्त स्थान है यद्यपि मोटी रूपरेखा सभी में सामान्य है। दृष्टिकोण की यह उदारता श्री अरविन्द के दर्शन, धर्म, मनोविज्ञान और योग की विशेषता है। सर्वांग योग सर्वांग साक्षात्कार और अन्त में सर्वांग मोक्ष की ओर ले जाता है। वह सभी पद्धतियों, सद्वस्तु के रूपों और मोक्ष का समन्वय है। एक सर्वांग विशुद्धता सर्वांग आनन्द की ओर ले जाती है और मानवता की सर्वांग पूर्णता को तैयार करती है। परन्तु यह विभिन्न मतों का एक संकलन मात्र नहीं है। यह सच्चिदानन्द आत्मा का सर्वांग साक्षात्कार है जोकि समान रूप से समस्त ज्ञान का समन्वय और परिणति है।

निवेदन और एकाग्रता

योग एक आन्तरिक आवश्यकता, दैवी सत्ता के लिये एक आन्तरिक पुकार पर आधारित है। यह दर्शन, धर्म, कला अथवा किसी भी अन्य साधन से उत्पन्न की जा सकती है। जितनी ही विस्तृत विचार शक्ति होगी साधक के लिये उतना ही अच्छा है। सबसे मुख्य बात मानव तथा संकल्प का निर्णय है जिसका परिणाम है ईश्वर और एकमात्र ईश्वर ही के लिये एक पूर्ण और प्रभावशाली आत्म निवेदन। आत्मा, मानस, हृदय, इन्द्रिय, संकल्प प्राण, शरीर, समस्त सत्ता का समर्पण योग की प्रथम अवस्था है। वह एक सर्वग्राही एकता चाहता है जोकि एक दैवी साक्षात्कार की ओर ले जाती है। दर्शन नहीं बल्कि यही योग का ज्ञान है। दर्शन केवल मानसिक प्रत्ययों द्वारा उस का व्यवस्थित अध्ययन है। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है "हमारा योग में ज्ञान अथवा ज्ञान के लिये प्रयत्न से तात्पर्य एक जीवित साक्षात्कार में समाप्त होने वाली एक एकाग्रता और हममें तथा जो कुछ हम जानते हैं उस सबमें उपस्थित एक की सत्ता की सतत अनुभूति से है।"[१५] दर्शन अति मानसिक ज्ञान के मार्ग में एक अवस्था है।[१६]

ज्ञान, प्रेम और कर्म का समन्वय

श्री अरविन्द विचार, भावना और संकल्प को समान महत्व देता है। सर्वांग योग, ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग का समन्वय है। हृदय प्रत्यक्ष

---

१५. श्री अरविन्द : द सिन्थेसिस ऑव योग, पृष्ठ ९१

१६. "दर्शन सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने में बहुत कम सहायक है जो कि अनुभव और यथार्थ साक्षात्कार से मिलता है। वह एक मानसिक व्यायाम का काम करता है, वह मानस को नमनीय और स्पष्ट बनाता है, वह मानस को यह विचार देता है कि उससे ऊँचा भी कुछ है जिसे पाने की उसको चेष्टा करनी चाहिये, इस प्रकार वह एक आगे कूदने के तख्ते का काम देता है।"
—श्री अरविन्द : मदर इन्डिया, अगस्त १९५२, पृष्ठ ५

रूप में सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। चैत्य पुरुष को बलिदान का नेता और पुजारी बनाकर ज्ञान, प्रेम और कर्म के बलिदान से जीवन आध्यात्मिक बनाया जा सकता है। आनन्द चेतना की प्रकृति है और प्रेम आनन्द का सार है। अतः प्रेम समस्त सत्ता का सिरमौर है वह एक पूर्ण संयोग और अधिकतम आध्यात्मिक परिपूर्णता तक ले जाता है। जितना ही अधिक पूर्ण ज्ञान होगा उतना ही अधिक समृद्ध प्रेम होगा। इस प्रकार का प्रेम कर्म से विरुद्ध नहीं है। 'प्रेम कर्म का सिरमौर और ज्ञान का प्रस्फुटित पुष्प है।"[१७] केवल दैवी सत्ता में ही वह पूर्णतया सन्तुष्ट होता है क्योंकि केवल यही पर वह निरपेक्ष, अनन्त और शुद्ध होता है। वह निरपेक्ष एकता, सौन्दर्य. आनन्द, अनन्तता और अधिकार के लिये एक अभीप्सा है। केवल बुद्धि और प्रेम ही नहीं बल्कि शक्ति भी दैवी सत्ता का एक पहलू है और यहाँ दैवी उपयोग में लगाई जाती है। योग में पूर्णता में मौलिक आत्मिक शक्तियों में पूर्णता, दैवी शक्ति में आत्म-आस्था के साथ उसके प्रति अपने समस्त साधन और कर्मों का पूर्ण समर्पण सम्मिलित है। बुद्धि, स्मृति, तर्क. कल्पना इत्यादि मानस की समस्त क्रियायें और साथ ही साथ इन्द्रियाँ भी अतिमानसिक अवस्था में रूपान्तरित हो जाती है। वे इस स्तर के अनुरूप नवीन सामर्थ्य विकसित करती हैं।

त्रिविध रूपान्तर

परन्तु यह मानस और अति मानस के बीच की खाई को भरने से ही हो सकता है जिसके लिये चैत्य, आध्यात्मिक और अति मानसिक त्रिविध रूपान्तर की आवश्यकता है। चैत्य परिवर्तन में हमारी समस्त वर्तमान प्रकृति का आत्मा के एक साधन के रूप में परिवर्तन सम्मिलित है। प्राण और मानस के स्तरों पर अनुभव में पूर्ण संश्लिष्टता नहीं होती है। एक पूर्ण और क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिये आध्यात्मिक अनुभव निम्न भागों का नियम बन जाना चाहिये। हमारे निम्न अंश तथा विरोधी शक्तियाँ इस प्रकाश का सतत विरोध करते हैं। यह आन्तरिक पुरुष, आन्तरिक जीवनचेतना और जीवन-मानस, सूक्ष्म-भौतिक चेतना और उसकी सूक्ष्म-भौतिक मानसिकता को खोलने से जीते जा सकते हैं। परन्तु एक निश्चित और स्थायी परिवर्तन लाने के लिये आन्तरिक चैत्य पुरुष को खोलना पड़ेगा। केवल तभी उच्चतर आध्यात्मिक मानस और अधिमानस केन्द्रीय पुरुष को अपने स्तर पर उठाते हैं और प्रकृति की अन्तिम सश्लिष्टता पूर्ण होती है। आध्यात्मिक परिवर्तन समस्त सत्ता में एक उच्चतर प्रकाश, ज्ञान, शक्ति और आनन्द का अवतरण है। अन्त में अतिमानसिक परिवर्तन के लिये अतिमानस में एक आरोहण और हमारी समस्त सत्ता और प्रकृति में अतिमान-

---

१७. श्री अरविन्द : द सिन्थेसिस ऑव योग, पृष्ठ ६२८

सिक चेतना के रूपान्तरकारी अवरोहण की आवश्यकता है। मानस अथवा हृदय के द्वारा आत्मा सद्वस्तु के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आ सकती है परन्तु एक सर्वांग रूपान्तर के लिये मानसिक, प्राणात्मक और भौतिक सभी प्रकार के रूपान्तर की आवश्यकता है। फिर, एक भौतिक विशालतम समग्रता और समृद्ध पूर्णता पर पहुंचने के लिये चेतना को अपना केन्द्र बाह्य स्तर से अन्त-पुरुष पर पहुंचा देना चाहिये। अन्य सभी कदम सहायक मात्र हैं केन्द्रीय मार्ग अपने अन्दर की आत्मा को पाना है। सर्वप्रथम इसका परिणाम समस्त सत्ता का समन्वय और आध्यात्मिक व्यवस्था होता है। इसके पश्चात् सब प्रकार के आध्यात्मिक अनुभव आते हैं। परन्तु फिर यह भी तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक आन्तरिक उन्मुक्तता के साथ बाह्य उन्मुक्तता न हो। यह चैत्य पुरुष के अति मानसिक स्तरों पर आरोहण से हो सकता है। परन्तु फिर उच्चतर चेतना का अवरोहण भी उतना ही आवश्यक है क्योंकि केवल वही एक स्थायी आरोहण प्राप्त कर सकती है। वह क्रमशः समस्त सत्ता का रूपान्तर करती और उसको एक उच्चतर स्तर पर स्थापित करती है। यह किसी आकस्मिक छलांग के द्वारा नहीं बल्कि एक क्रमिक प्रक्रिया द्वारा होता है क्योंकि वहाँ बीच में अनेक कठिनाइयाँ है। इस प्रकार चैत्य परिवर्तन को पूर्ण करने के लिये आध्यात्मिक परिवर्तन को लाना होता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक परिवर्तन भी अति मानसिक रूपान्तर के बिना पूर्ण नहीं होता। यह अज्ञान में होकर आत्मा के विकास को समाप्त करता है और उसकी चेतना, जीवन, शक्ति और अभिव्यक्ति के रूप को एक पूर्ण और प्रभावशाली आत्म-ज्ञान पर स्थापित करता है।

इस साधना में शास्त्र, उत्साह, गुरु और काल इत्यादि चार बड़े साधनों की सामूहिक प्रक्रिया की आवश्यकता हैं। सर्वांग योग का परम शास्त्र प्रत्येक विचारशील और जीवित प्राणी के हृदय में गुप्त अनन्त वेद है। दूसरे प्रकार का शास्त्र पद्धतियों के विषय में है जो वैयक्तिक विभिन्नताओं के साथ परिवर्तित होता रहता है। सर्वोच्च मार्गदर्शक और गुरु हमारे अन्दर गुप्त अन्तरात्मा है। फिर, स्थूल रूप से योग की प्रक्रिया में तीन अवस्थायें हैं, दैवी सत्ता से सम्पर्क, समस्त चैतन्य पुरुष का रूपान्तर और अन्त में संसार में एक दैवी केन्द्र के रूप में हमारी रूपान्तरित मानवता का प्रयोग।

इस आरोहण में अनेक श्रेणियाँ हैं जोकि केवल शक्तियाँ ही नहीं बल्कि सत्ता और आत्मा की शक्ति के स्तर हैं। जैसे-जैसे हम उतरते हैं, चेतना का प्रकाश अधिकाधिक मन्द पड़ता जाता है और उसकी सघनता कम होती जाती है। जैसे-जैसे हम उठते हैं वैसे-वैसे एक सूक्ष्मतर परन्तु अधिक शक्तिशाली और सच्ची आध्यात्मिक वस्तु मिलती है। अतः इन उच्च श्रेणियों के अवतरण के साथ उनका प्रकाश, चेतना और आनन्द भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक स्तरों

को रूपान्तरित करता है। निश्चेतना के अवरोध के अतिरिक्त यह प्रक्रिया स्वाभाविक है क्योंकि सभी स्तरों पर केवल भिन्न-भिन्न रूपों में मूलरूप से वही चेतन शक्ति है। अति मानसिक चेतना किसी व्यक्ति में केवल तभी स्थापित हो सकती है जबकि वह संसार में उसकी क्रिया का एक केन्द्र बन जाता है। और जब वह यहाँ पूर्णतया स्थापित हो जाता है तब वह इस जगत में कार्य करेगा जिसका परिणाम होगा मानस से अतिमानस को उठती हुई चेतना की अवस्थाओं की एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था।

विज्ञानमय पुरुष

मानव के उस भावी रूपान्तर का क्या स्वभाव होगा जिसको श्री अरविन्द ने विज्ञानमय पुरुष की स्थिति कहा है ? मानव का भविष्य इतने स्वर्णिम रंगों से और यथार्थवाद तथा आशावाद के इतने उत्तम सामंजस्य से शायद ही कभी चित्रित किया गया हो जितना श्री अरविन्द ने किया है। श्री अरविन्द एक नवीन युग, नीत्शे के अतिमानव के युग का नहीं बल्कि दैवी पुरुष के अवतार के युग का पैगम्बर है। विज्ञानमय स्थिति में विज्ञानमय पुरुष की समस्त सत्ता, उसके विचार, जीवन और कर्म सभी एक सार्वभौम आत्मा से अनुशासित होंगे। वह दैवी सत्ता को सब कहीं और अपनी सत्ता के सभी भागों में अनुभव करेगा। वह सार्वभौम होकर भी जगत में स्वतन्त्र, व्यक्ति होकर भी व्यक्तित्व की सीमाओं से मुक्त होगा। वह व्यक्तित्व, सामान्यता और सार रूप को उनके सामंजस्य में परिपूर्ण करता हुआ एक पूर्ण व्यक्ति होगा। उसमें पूर्ण आत्म-ज्ञान और पूर्ण आत्माधिकार होगा। विज्ञानमय पुरुष की निम्न श्रेणियों में ये सब अवरुद्ध और सीमित होंगे। परन्तु अतिमानसिक पुरुष एक सार्वभौम व्यक्ति के समान कार्य करेगा। उसकी चेतना, संकल्प और कर्म निरपेक्ष से संयोग में होंगे। उसका अर्थ अभिव्यक्ति का आनन्द होगा। उसकी विश्वजनीन सहानुभूति उसकी सत्ता का अंग होगी। उसके तथा अन्य के शुभ में कोई संघर्ष नहीं होगा। उसकी अनुभूतियाँ और कर्म स्वभावतया ही सार्वभौम होंगे। उसका समस्त प्रयोजन सत का आनन्द होगा। सभी पूर्ण में दिखाई पड़ेंगे उसका ज्ञान अतिमानस का सत प्रत्यय (Real Idea) होगा। यह विकास समस्त विश्व-चेतना और विश्व-क्रिया का रूपान्तर कर देगा। विज्ञानमय पुरुष को समस्त सत्ता का पूर्ण ज्ञान और पूर्ण अधिकार होगा। सभी कुछ "आत्मा से आत्मा में आत्मा को"[१८] पाना होगा। वर्तमान अप्रत्यक्ष ज्ञान का स्थान सम्बोधि ज्ञान ले लेगा। विज्ञानमय पुरुष दैवी सत्ता के लिये रहेगा और उसकी परा प्रकृति की अभिव्यक्ति का एक साधन होगा। उसमें आत्मा का संकल्प प्रत्यक्ष रूप से शरीर का नियन्त्रण करेगा

---

१८. श्री अरविन्द: द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृष्ठ ८४०

क्योंकि अतिचेतन अथवा अचेतन चेतन अथवा अतिचेतन में रूपान्तरित हो जायेगा। अनन्त आनन्द सार्वभौम तथ्यों में प्रकट होगा। वह सम्पूर्ण पुरुष तथा प्रकृति में अनुभव होगा।

नैतिकता का उत्क्रमण

विज्ञानमय अवस्था में व्यक्तित्व तथा नैतिकता का क्या स्थान होगा ? नैतिकता के लिये वैयक्तिकता और स्वतन्त्रता अत्यावश्यक है। अतिमानसिक चेतना में अहंकार का स्थान निर्वैयक्तिक और सार्वभौम पुरुष है परन्तु फिर भी उसका एक रूप और व्यक्तित्व है जो कि उसका विशेष चिन्ह है। विज्ञानमय पुरुष एक वैयक्तिक और कलात्मक अभिव्यक्ति के विशेष रूपों द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता हुआ एक असीम और सार्वभौम पुरुष है। वह पूर्णतया आत्म-नियन्त्रित है। उसके समस्त कर्म स्वभावतया ज्ञान से परिचालित होंगे। वहाँ कोई अज्ञान, भूल, असत्य अथवा पाप नहीं होगा। शुभाशुभ का निर्णय परम श्रेय के अनुसार किया जाता है और इस कारण एक ऐसी अवस्था में जिसमें कि परम श्रेय का पूर्ण साक्षात्कार किया जा चुका है नैतिकता के लिये कोई स्थान न होगा। जैसा कि कान्ट और ब्रैडले ने ठीक ही कहा है नैतिक, व्यक्ति एक सतत संघर्ष में रहता है और यदि संघर्ष समाप्त हो जाये तो नैतिकता का प्रश्न नहीं रह जाता। मूल्यात्मक 'चाहिये' नैतिक 'चाहिये' से ऊँचा है और दूसरा पहले के आधीन है। समस्त मूल्य आध्यात्मिक मूल्य के आधीन हैं और उसमें परिपूर्ण होते हैं।

अतिमानसिक अवस्था में, मानस के अन्दर तथा व्यक्तियों में परस्पर पूर्ण शान्ति होगी। यहाँ पर ज्ञान और कर्म में असीम स्वतन्त्रता की व्यापकता और नमनीयता होगी। वैयक्तिक प्रकृति परा प्रकृति की एक धारा होगी। विज्ञानमय पुरुष में एक आन्तरिक सत्य-ज्ञान, सत्य-दर्शन, सत्य-अनुभूति और सत्य-संकल्प, सत्य बोध और कर्म की सत्य-प्रेरणा होगी। भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक पुरुष का पूर्ण नियन्त्रण होगा। फिर कम से कम कुछ समय तक विज्ञानमय सत्य निम्न श्रेणी की चेतना और जीवन के साथ रहेगा परन्तु अन्त में वह सभी पर अधिकार कर लेगा। उसकी अभिव्यक्ति समस्त निम्न योजना को निर्विरोध विकास बना देगी। अति मानसिक पुरुष तादात्म्य के द्वारा ज्ञान से कार्य करेगा जबकि अन्य प्रकार के विज्ञानमय पुरुषों में भिन्न और निम्न प्रकार का ज्ञान होगा।

व्यक्ति और समाज

विज्ञानमय पुरुष दैवी सत्ता के लिये रहता है। भागवत सत्ता में मानवों की एकता के इस आधार पर ही श्री अरविन्द ने अपना सामाजिक और राज-

नैतिक दर्शन विकसित किया है। यह लक्ष्य राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा सब प्रकार के मानसिक सम्बन्धों से परे है। यह समस्त सत्ता के मौलिक सत्य पर आधारित है। मानव न तो स्वयं साध्य है और न वह प्रकृति का ही साध्य है। मानव और प्रकृति दोनों का ही लक्ष्य दैवी सत्ता है। सच्चा लक्ष्य समस्त मानव जाति का रूपान्तर है। यह विज्ञानमय जाति भी उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित होगी जोकि हमने विज्ञानमय व्यक्तियों के विषय में देखे हैं। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "इस प्रकार का एक सामूहिक जीवन उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिये जिन पर कि विज्ञानमय व्यक्तियों का जीवन आधारित है।"[१९] परन्तु इसका अर्थ जातिगत विशेषताओं का उन्मूलन नहीं है। विज्ञानमय पुरुषों और उनकी भिन्न-भिन्न जातियों में पर्याप्त स्वतन्त्र विविधता होगी। मानव के भविष्य के विषय में श्री अरविन्द के विचारों को समझने के लिये हमें उनको उसके सर्वांग दर्शन की पृष्ठभूमि में देखना चाहिये। निरपेक्ष कोई मृत एकता नहीं बल्कि विविधता से समृद्ध एकता है। विज्ञानमय समाज एकता, पारस्परिकता और सामंजस्य के सिद्धान्तों पर आधारित है। "एकता विज्ञानमय चेतना का आधार है, पारस्परिकता उसकी विविधता में एकता की प्रत्यक्ष अनुभूति का परिणाम, सामंजस्य उसकी शक्ति की क्रिया की अपरिहार्य शक्ति।"[२०] मानसिक स्तर के सभी संघर्ष अति मानसिक स्तर पर शान्त हो जायेंगे।

आधुनिक सामाजिक और राजनैतिक विचार व्यक्तिवादी और समाजवादी दायरों में घूमते हैं। एक ओर व्यक्ति पर राज्य का पूर्णाधिकार मानने वाले मार्क्सवादी और फासीवादी हैं। दूसरी ओर प्रजातन्त्रवादी और अराजकतावादी हैं जोकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर जोर देते हैं। इन दोनों के बीच, इस अथवा उस पक्ष में झुकने वाले राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र इत्यादि विभिन्न प्रकार के राज्य और समाज का समर्थन करने वाले सिद्धान्त हैं। सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में हमारी समस्याओं को अनेक प्रकार से सुलझाने के असफल प्रयास किये गए हैं। श्री अरविन्द ने एक आध्यात्मिक सुलझाव उपस्थित किया है जोकि पूर्णतया अनुभव में समीचीन और तर्क के अनुरूप है। जैसे कि व्यक्ति के विषय में वैसे ही समाज के विषय में भी एकता और सामंजस्य केवल आन्तरिक सत्य से प्राप्त किया जा सकता है जोकि सार्वभौम और अतिशायी भी है। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "हमारा लक्ष्य वैसा ही पूर्ण होना चाहिये जैसे कि ईश्वर अपनी सत्ता और आनन्द में पूर्ण है, उतना ही शुद्ध जितना कि वह शुद्ध है, उतना ही आनन्दमय जितना कि वह आनन्दमय है और जब हम स्वयं पूर्ण योग में सिद्ध हो जायें जो समस्त मानव जाति को उसी दैवी पूर्णता में लाना चाहिये।"[२१] जबकि कार्ल मार्क्स ने विकास के बाह्य स्वरूप पर जोर दिया है, श्री अरविन्द

१९. वही, पृष्ठ ८९९
२०. वही, पृष्ठ ९०१

और भी गहरा जाता है और उसके आन्तरिक आध्यात्मिक स्वभाव को पा लेता है। जड़ पदार्थ प्रच्छन्न रूप में आत्मा ही है। काल कालातीत का काल है। प्रकृति और इतिहास की प्रक्रियायें केवल उनकी आन्तरिक दैवी उपेयता के प्रकाश में समझी जा सकती हैं। जो सिद्धान्त जितना ही अधिक विस्तृत और सर्वग्राही होगा वह उतना ही अधिक सत्य होगा। जैसे कि आध्यात्मशास्त्र में वैसे ही सामाजिक अथवा राजनैतिक दर्शन के क्षेत्र में भी श्री अरविन्द ने किसी भी सिद्धान्त का नितान्त तिरस्कार नहीं किया है बल्कि कुछ निश्चित सीमाओं में उसकी विशेषताओं पर जोर दिया है। इन सीमाओं को लाँघने पर ही वे व्यर्थ और भ्रामक हो जाते हैं। आवश्यकता किसी नवीन सिद्धान्त की नहीं बल्कि एक सर्वांग दृष्टिकोण की है जोकि सभी समस्याओं के लिये स्थान पा सके और साथ ही साथ इन समस्याओं पर सद्वस्तु की परम प्रकृति के विशाल दृष्टिकोण से विचार कर सके। किसी भी सिद्धान्त का सत्य संसार की समस्त योजना में उसकी अनुरूपता पर निर्भर है क्योंकि सभी समस्यायें परस्पर सम्बद्ध हैं। द्वन्द्व-वादी जड़वाद और हेगेलीय निरपेक्षवाद एक ही सत्य के दो रूप हैं। आदर्श सिद्धान्त का लक्ष्य समस्त मानव व्यक्ति और समस्त मानव जाति की पूर्णता होना चाहिये। परन्तु यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि प्रकृति में दैवी प्रयोजन भी यही न हो। निराशावाद एक पतन के दर्शन की ओर ले जाता है जोकि न तो तर्क-सिद्ध है और न अनुभव के ही अनुसार है। मानव का भविष्य दैवी प्रयोजन की पूर्ति पर आश्रित है और दैवी प्रयोजन स्वयं में मानव और प्रकृति की परिपूर्णता है।

इस प्रकार श्री अरविन्द के सिद्धान्त में व्यक्ति को न तो समाज और न राज्य बल्कि दैवी सत्ता के आधीन होना चाहिये। विभिन्न कर्तव्यों का संघर्ष ही मानव सम्बन्धों की अनेक समस्याओं का कारण है। परन्तु दैवी सत्ता इन सम्बन्धों का निषेध नहीं बल्कि उन सबका एक स्वीकार है क्योंकि सभी वही है। परन्तु यह सर्वोच्च अवस्था का आदर्श है। जब तक मनुष्य अविकसित है उसको समाज के नियमों का पालन करना चाहिये। अपने सच्चे सर्वांग दृष्टिकोण में श्री अरविन्द सब प्रकार के अतीव व्यक्तिवाद, अराजकतावाद एवं अधिनायकवाद के विरुद्ध है। जैसे-जैसे मानव का विकास होता है वह अधिकाधिक मुक्त होता जाता है परन्तु वैयक्तिक स्वतन्त्रता सार्वजनीन हितों के विरुद्ध नहीं है। जैसे-जैसे व्यक्ति अधिक पूर्ण होता है वैसे-वैसे समाज भी पूर्ण होता जाता है। मानव को प्रत्येक निम्न स्तर को पार करके उच्चतर मूल्य की ओर उठते हुए अपने भौतिक प्राणात्मक और मानसिक पुरुष को पूर्ण करना है जब तक कि वह अपनी सच्ची आत्मा पर पहुँच कर सबको उससे अनुशासित और पूर्ण नहीं करता। श्री

---

२१. श्री अरविन्द : द एडवेन्ट, संख्या ११, अंक २, पृष्ठ १६

अरविन्द ने पूर्व और पाश्चात्य, प्राचीन और आधुनिक का उत्तम समन्वय किया है क्योंकि 'आत्मा' जोकि उसके दर्शन का मूल तत्व है सभी को एक उच्चतर समन्वय में संश्लिष्ट करती है। वह मोक्ष के प्राचीन भारतीय आदर्श का समर्थन करता है परन्तु आधुनिक पाश्चात्य जगत की प्रेरणा के अनुसार उसको एक जनतन्त्रीय स्तर पर रखता है।

हमारी वर्तमान भौतिक सभ्यता से मानव के बर्बर अवस्था की ओर पतन का भय है। सतर्क राजनीतिज्ञ और राजनीति-दार्शनिकगण इस सार्वभौम समस्या के सुलझाव के लिये धर्म और नैतिकता की ओर देखते हैं। जब तक मानसिक चेतना में कोई मौलिक अन्तर न हो तब तक इस प्रकार के समस्त प्रयत्न अधिक उपयोगी नहीं हैं। इस विषय को श्री अरविन्द ने अपने "ह्यूमन साइकिल" तथा "द आइडियल ऑव ह्यूमन यूनिटी" इत्यादि ग्रन्थों में उठाया है। वह हमको केवल खतरे की चेतावनी ही नहीं देता बल्कि समस्या का एक समुचित सुझाव भी प्रस्तुत करता है। यन्त्रीकरण अथवा बौद्धीकरण भौतिक रूप से अधिक कार्यक्षमता की ओर ले जा सकता है परन्तु वह मानव जाति के आध्यात्मिक स्रोतों को सुखा देता है और यदि इस आध्यात्मिक प्रेरणा को त्याग दिया गया तो या तो मानव बर्बर अवस्था पर पहुँच जायेगा अथवा एक विकासवादी असफलता के रूप में समाप्त हो जायेगा। विज्ञान, नैतिकता और दर्शन एक अन्तिम सुझाव उपस्थित करने में असफल रहे हैं। यहाँ पर श्री अरविन्द ने योग की ओर संकेत किया है। केवल आध्यात्मिकता ही हमारी व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं को सुलझा सकती है। सर्वांग योग ही एकमात्र उपाय है। एक निश्चित विकासवादी सफलता के लिये मानव को निश्चित रूप से दैवी बनना चाहिये। दैवी सत्ता के प्रति एक सर्वांग आत्मसमर्पण, एक पूर्ण निवेदन और एकाग्रता ही एकमात्र आवश्यकता है, शेष भागवत सत्ता स्वयं कर लेगी। यही वह अदम्य आशावाद है जोकि एक सर्वग्राही तर्क और सर्वांग अनुभव की सहायता से श्री अरविन्द के समस्त दर्शन का निर्देश करता है।

११

निष्कर्ष

"धर्म-निरपेक्ष शताब्दियों के परिश्रम से तीन वस्तुएँ रहेंगी; भौतिक जगत का सत्य और उसका महत्व, ज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति जो कि प्रकृति और पुरुष पर विचार और कल्पना के हमारे अपने अध्यारोप रखने की शीघ्रता न करते हुए उनको अपने सत और क्रिया का मार्ग प्रगट करने में प्रवृत्त करती है और अन्त में, यद्यपि किसी से कम नहीं, भौतिक जीवन और मानवीय प्रयत्नों का सत्य और महत्व तथा उनका विकासवादी अर्थ। वे रहेंगे परन्तु उनका अर्थ भिन्न होगा और वे अधिक बड़ी समस्याओं को स्पष्ट करेंगे। अपनी आशा और परिश्रम के विषय में और भी निश्चित होकर हम उन सबको एक बृहत्तर तथा अधिक निकट विश्व-ज्ञान और आत्म-ज्ञान के प्रकाश में रूपान्तरित होते देखेंगे।"[1] —श्री अरविन्द[1]

इस प्रकार आध्यात्मशास्त्र और धर्म की समस्याओं पर विभिन्न दृष्टिकोण से विचार किया गया है। परन्तु कहीं भी मानव किसी समझौते अथवा सन्तोष-जनक परिणाम पर नहीं पहुँच सका। अद्वैतवाद, बहुतत्ववाद और द्वैतवाद, भौतिक, वाद, प्राणवाद और मानसवाद सभी ने अपने विरोधियों के पक्ष में प्रवृत्ति उत्पन्न की। दर्शन का इतिहास महत्ता के लिये संघर्षशील इन वादों का इतिहास है। इनके आधार में कुछ बुनियादी दोषों को हमने पिछले अध्यायों में देखा है यथा बुद्धि को उसकी सीमाओं से आगे बढ़ाना, बुद्धि से परे के तत्वों की बुद्धेतर तत्वों से गड़बड़ी, केन्द्र के स्थान पर परिधि को तथा पूर्ण के स्थान पर अंश को रखना और उनके सीमित दृष्टिकोण से बाहर जो कुछ है उसका अन्ध निषेध इत्यादि। इस प्रकार हम विशेष निदान उपस्थित करने वाली और अपने सुझावों को समस्त रोगों की रामबाण औषधि मानने वाली दर्शन की सीमित व्यवस्थाएँ पाते हैं। इनके कारण कभी-कभी दर्शन को विज्ञान का एक व्यर्थ का पुछल्ला

१. एवाल्यूशन, अन्तिम वाक्य

मानकर उसका पूर्णतया बहिष्कार किया गया है। दर्शन एक अन्ध अवरोध की स्थिति पर आ पहुँचा है। यही अवसर है कि उसको परिस्थिति का सिंहावलोकन करके पद्धतियों को बदलना चाहिये। परन्तु इस बार अन्य पद्धतियों के समकक्ष वह एक और नवीन पद्धति न होकर उन सबको संश्लिष्ट करने वाली एक पद्धति हो।

युग की माँगें

युग की माँगों के अनुसार दर्शन का चिरंतन सत्य नवीन रूपों में उपस्थित किया जाना चाहिये। यदि दर्शन को कुछ वाक् चतुर वितंडावादियों तक सीमित नहीं रहना है बल्कि मानव जाति की सेवा करनी है तो उसको हमारे युग की माँगों के अनुसार बनना होगा। जगत, ईश्वर और व्यक्ति की त्रिपुटी के किसी भी अंग का निषेध करने वाला विश्वरूप दर्शन सर्वांग सत्य से पीछे ही रह जाता है। निराशावाद और पलायनवाद के अपने कारण हैं परन्तु वे सम्पूर्ण सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। जीवन की दुःख के रूप में व्याख्या, जीवन से उस दुर्दम्य मोह की विवेचना नहीं कर सकती जिसको हम अपने चारों ओर देखते हैं। ज्ञान की प्रत्येक शाखा में आवश्यकता से अधिक वाद और विवाद हो चुके हैं। समन्वय की आवश्यकता आज सर्वविदित है। परन्तु यह समन्वय एकत्रीकरण अथवा संयोगमात्र नहीं होना चाहिये। अन्य सभी को एक सर्वांगपूर्ण में समन्वित करने वाला गतिशील दृष्टिकोण ही इस कार्य को कर सकता है। फिर, कोई भी आधुनिक दर्शन विज्ञान के निष्कर्षों की अवहेलना नहीं कर सकता यद्यपि मूल्य भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने कि तथ्य। विज्ञान द्वारा सिद्ध विकास के सिद्धान्त को पाश्चात्य दर्शनिकों ने ग्रहण कर लिया है। आवश्यकता है उसके पूर्वीय आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समन्वय की। यदि विकास को अनुभव के कुछ एकांगी तथ्य मात्र की नहीं बल्कि विश्व विधान की व्याख्या करनी है तो उसको आध्यात्मिक विवर्तन होना चाहिए। जैसे ज्ञान और क्रिया की अन्य शाखाओं में वैसे ही दर्शन में पूर्व और पश्चिम का एक समन्वय विकसित होना चाहिये। यह आत्मा, विकास और अनुभव के प्रत्यय की समस्याओं के विशेष प्रसंग में होना चाहिये। पाश्चात्य दर्शनिकों को अपना क्षेत्र बढ़ाकर उसमें सभी प्रकार के अनुभव विशेषतया गुह्य, धार्मिक और आध्यात्मिक इत्यादि सम्मिलित कर लेने चाहिये। आत्मा के एक यथार्थ ज्ञान पर पहुँचने के लिये पश्चिम की मनोवैज्ञानिक खोजों के साथ पूर्व के आध्यात्मिक अनुभव का समन्वय होना चाहिये।

श्री अरविन्द का योगदान

उपनिषदीय दृष्टिकोण का पुनरुद्धार

जैसा कि हमने आध्यात्मशास्त्र की भिन्न-भिन्न समस्याओं पर विचार करते

हुए देखा है श्री अरविन्द का दर्शन उपनिषदों की ओर प्रत्यागमन है। इतने लम्बे संघर्षपूर्ण इतिहास के पश्चात् भारतीय दर्शन श्री अरविन्द के विचारों में पुनः अपनी आत्मा को पा जाता है। परन्तु लम्बे विकास का श्रम व्यर्थ नहीं गया है। प्रकृति और विचार दोनों ही विरोधियों में होकर आगे बढ़ते हैं। द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत तथा अन्य सब दृष्टिकोण एकांगी होते हुए भी सद्वस्तु के एक विशेष पहलू पर प्रकाश डालते हैं। उनका एकमात्र दोष अंश को पूर्ण के स्थान पर रखना है। श्री अरविन्द ने उन सभी को माना है परन्तु उनकी सीमाओं का भी निर्देश किया है। उसका दर्शन पूर्णतया स्वीकारात्मक है।

सर्वांग दृष्टिकोण

यह सर्वांग मत है जो कि किसी का भी निषेध न करके सभी को एक उच्च समन्वय में मिला लेता है। दर्शन, धर्म, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र तथा शिक्षा और मानव ज्ञान की अन्य सभी शाखाओं में श्री अरविन्द ने पूर्ण मानव पर, मानव के साथ प्रकृति पर और मानव, जगत तथा ईश्वर में समान रूप से अभिव्यक्त आत्मा पर जोर दिया है। श्री अरविन्द के दर्शन की पृष्ठभूमि में निर्देशक तत्व सच्चिदानन्द का सर्वांग अनुभव है। जो कुछ है वह सत है क्योंकि कुछ भी निरपेक्ष के बाहर नहीं है। सच्चिदानन्द अपनी प्रतीतियों को असत्य नहीं बनाता बल्कि उनकी सत्यता की पुष्टि करता है। आत्मा निरपेक्ष में सत्य है। मानव भी उतना ही सत है जितना कि ईश्वर। मानव प्रेम अज्ञान नहीं बल्कि दैवी प्रेम की एक सीढ़ी है। परन्तु यह सब तुलनात्मक अध्ययन अथवा विचार पर आधारित कोई तार्किक आस्था नहीं है।[२] सर्वांग दर्शन सर्वांग योग, सच्चिदानन्द के सर्वांग साक्षात्कार पर आधारित है।

सर्वांग पद्धति

जैसा कि हम तृतीय अध्याय में देख चुके हैं श्री अरविन्द की पद्धति सर्वांग है। दार्शनिक को जानना ही नहीं बल्कि विकसित भी होना है। विकसित होना ही जानना है। इस प्रकार दर्शन जीवन के निकट है। वह आध्यात्मिक अनुभव का ही एक सोपान है। परन्तु इससे उसकी हीनता नहीं सिद्ध होती। विज्ञान, धर्म, आध्यात्मशास्त्र, नीतिशास्त्र सबका अपना स्वधर्म है, सभी दैवी सत्ता की ओर अपरिहार्य सोपान हैं। आध्यात्मिक संबोधि सब प्रकार के संबोधि ज्ञान के

---

२. "हम उनके ग्रन्थ में केवल बौद्धिक प्रत्यक्ष पर ही नहीं बल्कि साक्षात्कार के एक लम्बे जीवन पर आधारित सद्वस्तु की ओर एक महत्वपूर्ण सर्वांग दृष्टिकोण तथा मानव जाति के उत्थान के लिए एक अध्यात्मिक पद्धति पाते हैं।"

—धीरेन्द्र मोहन दत्त : द चीफ़ करेन्ट्स ऑव कन्टेम्परेरी फ़िलॉसफ़ी, पृष्ठ ५२२

लिये स्थान पाता है। परन्तु इससे प्रत्यय को स्पष्ट करने की आवश्यकता कम नहीं होती। यही दर्शन में इतने अधिक संघर्षरत मतों के लिये उत्तरदायी है। इसी से दार्शनिकों ने दर्शन के क्षेत्र में विदेशी पद्धतियों का प्रयोग किया है जिसका हम तृतीय अध्याय में वर्णन कर चुके हैं। फिलॉसफी, जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, बुद्धिमत्ता का प्रेम है। अधिक व्यापक ही अधिक बुद्धिमान होता है। अतः दर्शन में सभी प्रकार के अनुभव सम्मिलित होने चाहिये। परन्तु इसके लिये एक सर्वांग साक्षात्कार और उसकी प्राप्ति के हेतु एक सर्वांग पद्धति की आवश्यकता है।

सर्वांग योग

ऐसा ही है सर्वांग योग। जैसे-जैसे दर्शन जीवन से दूर हटता रहा वैसे ही वैसे वह तार्किक विश्लेषण के चक्र में फंसता गया जिसका परिणाम हुआ दर्शन का निषेध। आध्यात्मिक अनुभव सभी सच्चे दर्शन का जीवन, प्राण और उसकी चरम परिणति है। भारतीय दार्शनिक सदैव ही परम सत्ता का साक्षात्कार करने की किसी पद्धति की खोज में रहे है। परन्तु ये सब प्रयास सदैव एकांगी रहे हैं। सर्वांग योग सम्पूर्ण सत्ता के द्वारा दैवी साक्षात्कार की पद्धति है। उसमें केवल आरोहण ही नहीं बल्कि दैवी सत्ता का जगत में अवतरण भी सम्मिलित है। उसका लक्ष्य व्यक्तिगत ही नहीं बल्कि सार्वभौम मोक्ष है, मोक्ष ही नहीं बल्कि चैत्यीकरण, संश्लिष्टता और अतिमानसीकरण है। वह अन्य सभी प्रकार के योग का समन्वय करता और सद्वस्तु को सर्वांग रूप से प्राप्त करने की एक पूर्ण कला का विकास करने के लिये उन सभी से आगे बढ़ता है।

सर्वांग मनोविज्ञान

जैसा कि हमने पांचवें अध्याय में देखा है, श्री अरविन्द ने एक नवीन मनोविज्ञान की स्थापना की है जो मानव की अनेक गुप्त शक्तियों और इन्द्रियों को बतलाता है। वह मनोविज्ञान में विरोधी मतों के समन्वय की एक आधार भूमि भी प्रस्तुत करता है। खोज में विषय के अनुसार पद्धति में परिवर्तन होना चाहिये। मनोविज्ञान तथा दर्शन में कोई सब रोगों की एक दवा नहीं है। जैसे दर्शन में वैसे ही मनोविज्ञान में श्री अरविन्द अन्य सिद्धान्तों का निषेध नहीं करता। वह केवल उनकी सीमाओं का निर्देश करता और एक सच्चे सर्वांग दृष्टिकोण पर पहुँचने के लिये उनका समन्वय करता है। उसकी सतत तुलना, निरीक्षण और नवीन प्रयोगों की एक वैज्ञानिक पद्धति है।

व्यवस्था बनाना दर्शन के विरुद्ध है

श्री अरविन्द न तो अविश्वासी है और न अन्ध विश्वासी। मानव ज्ञान किसी प्रकार की पूर्णता पर पहुँचने का दावा कभी नहीं कर सकता। ज्ञान सदैव

ही वृहत्तर और अधिक व्यापक सत्य की ओर बढ़ता है। अतः दर्शन में व्यवस्था बनाना अदार्शनिक है। श्री अरविन्द एक सदैव बढ़ने वाले ज्ञान में विश्वास रखता है। वह सदा ही उन्नति करने, संशोधन करने और परिवर्तन तक करने को तैयार रहा है। उसका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार है। धर्म तथा दर्शन दोनों में ही श्री अरविन्द ने प्रत्येक मत के पीछे कुछ न कुछ कारण पाये हैं।

सर्वांग धर्म

आध्यात्मिक विकास के अपने सिद्धान्त के अनुरूप श्री अरविन्द ने एक सर्वांग धर्म का प्रतिपादन किया है जिसका हम नवें अध्याय में विवेचन कर चुके हैं। इस प्रकार का धर्म आध्यात्मिक विकास की श्रेणियों में सभी प्रकार के धर्मों के लिये स्थान पाता है। मानव जाति के विकास में प्रत्येक धर्म ने सहायता दी है। धर्म एक मौलिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और अपरिहार्य है। परन्तु उसके वर्तमान रूप में सुधार करने की आवश्यकता है। जितना ही अधिक आध्यात्मिक कोई धर्म होगा वह उतना ही उत्तम भी होगा क्योंकि आध्यात्मिकता ही उसका लक्ष्य है। रहस्यवाद सभी धर्म का सार है परन्तु उसको सार्वभौम और स्पष्ट बनाने की आवश्यकता है। परन्तु श्री अरविन्द के लिये धर्म केवल एक अस्थायी अवस्था है। अतिमानव का कोई धर्म नहीं है। धर्म मानस से आत्मा के मार्ग में मध्य की अवस्था है। परन्तु मानव के आध्यात्मिकता में प्रवेश के लिये उसे योग को स्थान देना पड़ेगा। दैवी सत्ता तक पहुँचने का मार्ग धर्म नहीं बल्कि योग है। परन्तु योग धर्म, दर्शन अथवा विज्ञान का निषेध नहीं करता बल्कि उन सबके लिये स्थान पाता है और उनको भागवत-साक्षात्कार के साधनों के रूप में प्रयोग करता है।

आध्यात्मिकता का स्वभाव

परन्तु जैसा कि हमने दसवें अध्याय में देखा है, श्री अरविन्द की सबसे बड़ी देन आध्यात्मिकता के स्वभाव का विवेचन है। उपनिषदों और गीता में भी सर्वांग आत्मा के विचार की झलक मिलती है परन्तु श्री अरविन्द ने ही सर्वप्रथम आत्मा के मार्ग में विभिन्न सोपानों में सूक्ष्म भेदों की खोज की और उसकी प्राप्ति के हेतु एक सर्वांग योग की स्थापना की। जैसा कि उसने निर्देश किया है सच्चिदानन्द की प्रगति में ब्रह्म-चेतना केवल एक निम्न सोपान है। इस प्रकार निरपेक्ष पर-ब्रह्म है। अतिमानस तक ब्रह्म से परे है। श्री अरविन्द ने लिखा है कि वह अति-मानस के स्तर पर पहुंचने के बहुत पहले ब्रह्म चेतना पर पहुँच चुका था। जैसा कि हमने आठवें अध्याय में देखा है मानस से अतिमानस के बीच अनेक ज्योतिर्मय क्षेत्र पड़ते हैं। परन्तु हेगेल इत्यादि अन्य दार्शनिकों के विरुद्ध श्री अरविन्द कभी भी एक निरपेक्ष दर्शन अथवा निरपेक्ष के पूर्ण ज्ञान पर पहुँचने का दावा नहीं करता। उसने आजीवन समस्त सत्ता के अतिमानसीकरण का प्रयत्न किया जिसमें

जगत की प्रकृति का रूपान्तर भी सम्मिलित था। यह कहा जाता है कि स्थूल स्तर का अतिमानसीकरण करने के प्रयास में उसने अपना शरीर छोड़ दिया और नीचे से धक्का देने के लिये निश्चेतना में चला गया। इन विवादास्पद बातों की पुष्टि करने का प्रयास न करते हुए हमारा केवल यही कहना है कि एक सच्चे दार्शनिक के समान श्री अरविन्द ने कभी भी पूर्ण सत्य पर पहुँचने का दावा नहीं किया।

आध्यात्मिकता के स्वभाव के प्रसंग में श्री अरविन्द ने ही सर्वप्रथम आत्मा में चैत्यीकरण और संश्लिष्टता के स्थान पर जोर दिया। दर्शन में आत्मा का प्रत्यय कोई नया नहीं है। वह हेगेल, क्रोचे, शंकर, ब्रैडले तथा अनेक अन्य पूर्वीय और पाश्चात्य दार्शनिकों में पाया जाता है परन्तु हम कहीं भी एक सच्चा सर्वांग दृष्टिकोण नहीं पाते। श्री अरविन्द के अनुसार आत्मा तन, मन और प्राण को संश्लिष्ट और रूपान्तरित करती है। अतः आध्यात्मिक दर्शन में सब प्रकार के अनुभवों का स्थान है।

असीम का तर्क

जैसा कि हमने तीसरे अध्याय में देखा है आध्यात्मिक अनुभव सीमित के तर्क द्वारा नहीं समझाये जा सकते। आत्मा मानस के द्वारा नहीं बल्कि चेतना के तादात्म्य के द्वारा जानी जाती है। अतः उसका तर्क चेतना का तर्क होना चाहिये जो कि एक और असीम है यद्यपि उसमें एकता विविधता का उन्मूलन नहीं करती। श्री अरविन्द का असीम का तर्क उसके आध्यात्मिक दर्शन का प्रतिपादन करता है। यह कोई नया तर्क नहीं है क्योंकि हम उपनिषदों तथा गीता इत्यादि में भी उसके चिह्न पाते हैं परन्तु श्री अरविन्द ने ही प्रथम बार बुद्धेतर और बुद्धि से परे के तत्वों में भेद किया और एक नवीन तर्क की स्थापना की। तर्क को अनुभव के अनुसार बनना चाहिये, अनुभव का तर्क के अनुसार चलना आवश्यक नहीं है। किसी भी संबोधि अथवा अनुभव की कसौटी तर्क नहीं बल्कि एक उच्चतर संबोधि और अनुभव है। असीम के क्षेत्र में चेतना के अनुभवों का यथाशक्ति विश्वसनीयता से वर्णन करना बुद्धि का पवित्र कर्तव्य है। परन्तु यह नवीन तर्क अन्य तर्कों की अवहेलना नहीं करता बल्कि उनकी सीमायें निश्चित करता है। श्री अरविन्द विभिन्न प्रकार के अनुभवों में और उनका प्रतिपादन करने वाले विभिन्न तर्कों में अन्तर करता है। इस प्रकार सर्वांग दर्शन पूरी तरह बौद्धिक और आत्मानुरूप है।

दर्शन और धर्म का समन्वय

जैसा कि हमने पिछले अध्यायों में देखा है, उपनिषदों की परम्परा में श्री अरविन्द ने मानव के विकास में दर्शन और धर्म दोनों के अधिकारों को माना

है। मानसिक स्तर पर दोनों ही अपरिहार्य हैं यद्यपि जब हम मानव का उत्क्रमण करते हैं तो वे अतिमानसिक ज्ञान और अतिमानसिक आनन्द के लिये स्थान छोड़ देते हैं। इस प्रकार अनेक दार्शनिकों के विरुद्ध श्री अरविन्द दर्शन और धर्म में कोई स्थायी खाई नहीं बनाता। ये दोनों ही परम सदवस्तु तक पहुँचने के दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। अतः परम सद्वस्तु को दर्शन और धर्म दोनों को ही सन्तुष्ट करना चाहिये। वह मौखिक रूप से समीचीन और व्यावहारिक रूप से साक्षात्कार करने योग्य है। ईश्वर को निरपेक्ष के अधीन करने वाला अथवा उसको प्रतीति मानने वाला दर्शन धर्म के लिये कोई स्थान नहीं रखता और इस कारण पूर्ण सत्य से पीछे रह जाता है। आस्था तर्क पर आधारित होनी चाहिये। धर्म के दर्शन को धर्म के बौद्धिक प्रतिपादन के लिये प्रबन्ध करना चाहिये। फिर क्योंकि न तो हृदय और न मानस और न दोनों मिलकर ही पूर्ण मनुष्य हैं अतः दोनों ही आत्मा में संश्लिष्ट होने चाहियें। अतः श्री अरविन्द ने दर्शन और धर्म दोनों को ही योग के आधीन कर दिया है। परन्तु यह स्मरण रहे कि यहाँ पर आधीन करने का अर्थ निषेध अथवा अवमूल्यन करना नहीं है। नवीन प्रकार की खोज के लिये नवीन पद्धति की आवश्यकता है। दर्शन और धर्म तथा विज्ञान और नीतिशास्त्र तक अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च हैं। परन्तु आत्मा के साक्षात्कार के लिये योग अपरिहार्य है।

नैतिकता का निषेध नहीं

श्री अरविन्द के दर्शन में नैतिकता का निषेध नहीं है क्योंकि व्यक्ति निरपेक्ष में भी सत है। परम सत्ता में आत्मा की वैयक्तिकता के लिये कोई स्थान न पाने वाला दर्शन समस्त नीतिशास्त्र तथा धर्म का निषेध करता है। बचाव पक्ष में सब प्रकार के तर्क दिये जाने पर भी यह समझना कठिन है कि शंकर के दर्शन में नैतिकता और धर्म कैसे रह सकते हैं जबकि व्यक्तित्व का कारण अज्ञान है। श्री अरविन्द का श्रेय नैतिकता से परे है परन्तु मानसिक स्तर पर उसने नैतिकता को अपरिहार्य माना है।

आध्यात्मिक विकास

जैसा कि हमने पिछले अध्यायों में देखा है, श्री अरविन्द के दर्शन को समझने की कुंजी आध्यात्मिक विकास है। उसके सभी विचार इसी मुख्य केन्द्र के इर्द-गिर्द चक्कर काटते हैं। योग इसी के साक्षात्कार की एक पद्धति है। समस्त दर्शन, धर्म, विज्ञान और नीति मानव और प्रकृति तथा दोनों में अन्तःस्थ दैवी सत्ता के इस परम प्रयोजन को प्राप्त करके के सोपान हैं। जैसे अन्य स्थान पर वैसे ही यहाँ भी श्री अरविन्द ने सभी सिद्धान्तों का समन्वय किया। श्री अरविन्द ने दर्शन, इतिहास, संस्कृति, विज्ञान, धर्म और राजनीति इत्यादि में विकास

क्रम दिखलाया है और सब कहीं विकासवादी प्रयोजन की सामान्य रूपरेखा के अनुरूप भविष्यवाणी की है।

व्यक्ति और समाज

जैसा कि हमने दसवें अध्याय में देखा है, श्री अरविन्द दैवी सत्ता में व्यक्ति और समाज में एक समन्वित सम्बन्ध स्थापित करता है। व्यक्तिगत मोक्ष सार्वभौम मोक्ष के साथ है। सामाजिक आत्मा की अवहेलना करने से मोक्ष का दृष्टिकोण एकांगी हो जाता है। इस प्रकार श्री अरविन्द ने बोधिसत्व के प्राचीन आदर्श को पुनः जाग्रत किया है। परार्थवाद का आधार परोपकार नहीं बल्कि उसमें अन्तःस्थ सद्वस्तु का साक्षात्कार है। दैवी सत्ता कोई मृत एकता नहीं बल्कि एक समृद्ध विविधता है। अतः मानव और समाज अपनी वैयक्तिकता का विकास करके भी सामान्य बन्धनों को बनाये रख सकते हैं। यह कहना भी अतिश्योक्ति नहीं होगी कि व्यक्ति एवं समाज की समस्याओं के सुलझाव के लिए श्री अरविन्द का दर्शन ही सर्वाधिक उपयुक्त है। इस प्रकार का उदार, सर्वांग और स्पष्ट दृष्टिकोण ही एक विश्व समाज की स्थापना कर सकता है।

विज्ञानमय युग का संदेश

अपने विकास के सिद्धान्त के अनुरूप श्री अरविन्द ने विज्ञानमय युग के अवतरण की घोषणा की है। सभी गम्भीर विचारकों के समान वह मानव के वर्तमान गम्भीर संकट को देखता है और खतरे की चेतावनी देता है। निदान मानव से अतिमानव की ओर आरोहण है और उसका समस्त जीवन इसी कार्य के लिये अर्पण था। वर्तमान स्थिति कितनी भी निराशावादी क्यों न हो परन्तु फिर भी श्री अरविन्द के आशावाद के अपने कारण हैं। यह सब सामान्य योजना के अनुरूप है। श्री अरविन्द स्वयं भी विस्तार पर जोर न देकर स्थूल रूपरेखा का ही समर्थन करता है। मानव ने अनेक सुलझावों का प्रयोग किया है। मौखिक रूप से श्री अरविन्द का सुलझाव अन्य वादों से कहीं अधिक समीचीन है और यह आशा करने के लिये पर्याप्त कारण हैं कि व्यावहारिक रूप से भी वह अधिक उत्तम सिद्ध होगा।

हमारे युग का दर्शन

इस प्रकार श्री अरविन्द का दर्शन हमारा युग दर्शन है। वह हमारे युग की सभी माँगों का प्रतिनिधित्व करता है। वह प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम यथार्थवाद और आदर्शवाद, व्यवहारवाद और आध्यात्मिकतावाद का समन्वय करता है। गतिहीन, मायावादी और आदर्शवादी सिद्धान्त पलायनवाद, निराशावाद और सामाजिक, राजनैतिक विशृंखलन की ओर ले जाते हैं। मानव

जीवन की सभी समस्याओं को सुलझाने वाला और सभी ज्ञान को एक सर्वांग पूर्ण में व्यवस्थित करने वाला एक विश्वरूप दर्शन ही मानवता की सेवा कर सकता है। श्री अरविन्द ने इस दिशा में मार्ग दिखलाया है। यह भावी दार्शनिकों पर छोड़ दिया गया है कि वे स्थूल रूपरेखा को समझें और मानव जाति के पुनर्जागरण में सच्चाई से अपना भाग बँटाने के लिये एक स्वनामधन्य दर्शन विकसित करें।

SELECT BIBLIOGRAPHY

Alexander S., *Space, Time and Deity (1920) Vol. I & II*

Aldous Huxley *Ends and Means*

Arnold Toynbee *A Historian's approach to Religion.*

Aliotta. S. *Idealistic Reaction against Science.*

Bradley, F.H., *Appearance and Reality. IInd Edn. 9th Imp.*

Blackham, H.J., *Six Existentialist Thinkers.*

Bergson *Creative Evolution.*

The Two Sources of Morality and Religion. (Eng Trans. by Audra and others). Published by Macmillan (1935).

Collingwood, R.G., *An Essay on Metaphysics.*

Croce, B., *Practica. (Eng. Trans).*

The Philosophy of Spirit.

Datta, D.M., *The Chief Currents of Modern Philosophy.*

Deussen, P., *Systems of Vedanta.*

Freud, S,. *The Future of an Illusion.*

Moses and Monotheism.

George Santayana *The Essays an Critical Realism.*

Gentile, G., *Theory of Mind as Pure Act (Eng. Trans. by H. Wildon Carr, Macmillan).*

Green, T.H., *Prolegomena to Ethics. 5th Edition.*

Joachim *The Nature of Truth.*

John Dewey *Democracy and Education.*

The Quest for Certainty.

Ishwar Krishna *Samkhya Karika.*

Kierkegaard, S., *Concluding Unscientific Posscript.*

Leuba, J.H., *Psychology of Religious Mysticism.*

Lloyd Morgan *Emergent Evolution (1923).*

Mctaggart, J.M.E., *Some Dogmas of Religion.*

Maitra, S.K., *The meeting of the East & West in Sri Aurobindo's Philosophy.*

Principal Caird *Introduction to The Philosophy of Religion.*

Pringle Pattison *Idea of God.*

Man's Place in the Cosmos and Other Essays.

Plato *Republic.*

Plotinus *The Neo Platonists.*

Patanjali	*Yoga Sutra.*
Roy, D.K.,	*Among the Great.*
Roy, A.B.,	*The World Crisis.*
Radhakrishanan, S:	*The Vedanta.*
Ramanuja	*Sri Bhasya.*
Schiller, F.C.S.,	*Logic for Use.*
Samkara	*Com. on Brahma Sutra.*
	Com. on Gita.
	Com. on Gauda Pada Karika.
	Com. on Tait. Upanisad.
	Com. on Mandnkya Upanisad.
	Viveka Chudamani.
Sureshwara	*Naishkarmyasiddhi.*
Sri Aurobindo	*The Life Divine, Vol. I & II. (Second Edition, Dec. 1944.)*
	The Essays on Gita, Vol. 1. 5th Edn., 1949. Vol. II. 4th Edn., 1949.
	The Human Cycle, 1st. Edn., 1949.
	The Ideal of Human Unity, IInd. Edn., 1950.
	The Superman, IV Edn., 1950.
	The Riddle of this World, III Edn. 1946·
	The Supramental Manifestation, I Edn., 1949.
	The Yoga and its Objects, V Edn. 1949.
	The Renaissance in India, III Edn, 1946.
	The Ideal of Karma Yogin, VII Edn. 1950.
	The Foundations of Indian Culture (American Edition 1953)
	The Synthesis of Yoga, 1st University Edn. 1955.
	Ths Mother, Irt Edn , Third Impressian 1940.
	The problem of Re-Birth, I Edn. 1952.
	Letters of Sri Aurobindo, I Series, II Edn., 1950.
	—Ditto— II Series, I Edn., 1949.
	—Ditto— III Series, I Edn., 1949.
	—Ditto— IV Series, I dn., 1951.

	Ideals and Progress, III Edn. 1946.
	Evolution, IV Edn., 1944.
	Heraclitus, II Edn., 1947.
	Bases of Yoga, V Edn , 1949.
	Lights on Yoga, V Edn., 1953.
	More Lights on Yoga, I Edn , 1948.
	Views and Reviews, II Edn., 1948.
	Elements of Yoga, I Edn., 1953.
	Thoughts and Glimpses, I Edn., 1950.
Underhill, Miss Evelyn.	*Mysticism.*
Valmiki	*Yoga Vasistha.*
Vachaspati Misra	*Bhamati.*
Vidya Ranya	*Panch Dashi.*
Willam James	*Varieties of Religious Experience.*
	Pragmatism.
	Principles of Psychology.
	The Will to Believe.
	Reflex Action and Theism.
Whitehead, A.N.	*Process and Reality*
	Religion in the Making.
	Nature and Life.
	The Philosophy of A. N. Whitehead.
Wildon Carr	*The Philosophy of Croce.*

JOURNALS

The Hibbert Journal	October 1956.	
—Ditto—	October 1955.	
—Ditto—	April 1955.	
The Philosophical Review	January 1956.	
Journal of Philosophy	Vol. L III,	No. 5 March 1956.
The Advent	Vol. VII,	No. 2, 1950.
—Ditto—	Vol. VIII,	No. 1, 1951.
—Ditto—	Vol. IX,	No. 4, 1952.
—Ditto—	Vol. X,	No. 1, 1953.
—Ditto—	Vol. X,	No. 2, 1953.
—Ditto—	Vol. XI,	No. 2, 1954.

Sri Aurobindo Mandir Annual Nos. 6 and 11.

Mother India (Monthly) August & December 1952.

कुछ पारिभाषिक शब्द

A	
Absolute	निरपेक्ष
Absoluteness	निरपेक्षता
Absorption	तल्लीनता
Abstract	अमूर्त
Abstraction	प्रथक्करण
Active	सक्रिय
Activity	सक्रियता
Acceptance	स्वीकृति
Adaptation	अनुकूलता
Adhesion	अनुलग्नता
Adoration	पूजा
Aeon	कल्प, युग
Aesthetic	सौन्दर्यात्मक
Aesthetic sense	रस वृत्ति
Agnosticism	अज्ञेयवाद
All (The)	विश्व, सर्व
Analysis	विश्लेषण
Anthropology	मानवशास्त्र
Amoral	नैतिकता से परे
Apiori	अनुभव-पूर्व
Appearance	प्रतीति
Apprehending Consciousness	प्रतिबोधक चेतना
Apprehension	प्रतिबोध
Ascending	ऊर्ध्वगामी
Ascent	आरोहण
Aspiration	अभीप्सा
Attachment	आसक्ति
Attention	ध्यान
Attitude	अभिवृत्ति
Attraction	आकर्षण
Austerities	तपस्याएँ
Automaton	स्वचालित यंत्र
B	
Background	पृष्ठभूमि
Beatitude	दिव्यानन्द
Becoming	संभूति
Being	सत्
Being, Aesthetic	रसमय पुरुष
Being, external	बाह्य पुरुष
Being, mental	मनोमय पुरुष
Being, Physical	अन्नमय पुरुष
Being, Psychic	चैत्य पुरुष
Being, Subliminal	प्रच्छन्न पुरुष
Being, Supramental	अति मानसिक पुरुष
Being, Supreme	परम-पुरुष
Being, transcendental	अतिशायी पुरुष
Being, vital	प्राणमय पुरुष
Being, volitional	संकल्पात्मक पुरुष
Bliss	आनन्द
Boundless	असीम

C

Calm	स्थिरता
Cannon	अनुशासन
Category	वर्ग
Causality	कार्यकारणभाव
Centrifugal	केन्द्रविमुख
Centripetal	केन्द्राभिमुख
Classification	वर्गीकरण
Coercion	निग्रह
Cognition	ज्ञान
Collectivism	समूहतन्त्र
Complem·ntary	पूरक
Comprehending Consciousness	समग्रबोधात्मक चेतना
Comprehension	समग्र बोध
Concentration	एकाग्रता
Concentric	समकेन्द्रित
Conceivable	कल्पनीय
Concept	प्रत्यय
Conception	प्रत्ययन
Concrete	मूर्त्त
Conditional	सापेक्ष
Consecration	निवेदन
Consciousness	चेतना
Contemplation	निदिध्यासन
Contradiction	विरोध
Convention	रूढ़ि
Conversion	धर्मान्तर
Conviction	निश्चय
Correlation	सह-सम्बन्ध
Correspondence	अनुरूपता
Cosmic	विश्वगत
Cos. Consciousness	विश्वचेतना
Cosmic nature	विश्व प्रकृति
Cosmic self	विश्वपुरुष
Cosmos	विश्व
Creation	सृष्टि
Creed	मत
Criterion	कसौटी
Cult	सम्प्रदाय
Cycle	चक्र

D

Deduction	निगमन
Deity	देवता
Delight	आनन्द
Descent	अवरोहण
Determinism	नियतिवाद
Disgust	घृणा
Disharmony	असंगति
Disparate	विषम
Divine (adj)	दिव्य
Divine Life	दिव्य जीवन
Dual	द्वैत
Dualism	द्वैतवाद
Dynamic	गतिमान

E

Earth Consciousness	पार्थिव चेतना
Ego	अहम्
Egoism	अहंभाव
Electron	विद्युत्कण
Element	तत्व
Embodiment	मूर्त्त स्वरूप
Emotion	संवेग
Emotional being	भावमय पुरुष
Empiricism	अनुभववाद
Energy	शक्ति
Equanimity	सन्तुलन

Equation	समीकरण
Essence	सार
Essential	सारभूत
Eternal	शाश्वत
Ethics	नीतिशास्त्र
Evolution	विकास
Existentialism	अस्तित्ववाद
Experience	अनुभव
Extension	विस्तार

F

Faith	आस्था
Feeling	अनुभूति
Fiat	आदेश
Fidelity	स्थिर निष्ठा
Force	शक्ति
Form	रूप
Formless	अमूर्त
Formula	सूत्र
Fundamental	मौलिक
Fusion	एकीकरण

G

Generalisation	सामान्यीकरण
Gnosis	विज्ञान
Gnostic being	विज्ञानमय पुरुष
Grace	कृपा
Gradation	क्रमविन्यास

H

Harmony	सामंजस्य
Hedonism	सुखवाद
Hierarchy	कोटिक्रम
Higher Mind	उच्चतर मानस
Humanism	मानवतावाद

I

Idealism	आदर्शवाद
Identity	तादात्म्य
Illumined mind	ज्ञानदीप्त मन
Immanent	अन्तःस्थ
Inconsciene	निश्चेतना
Inconsistency	असंगति
Indeterminate	निर्विशेष
Individuality	वैयक्तिकता
Instinct	मूल प्रवृत्ति
Integral	सर्वांग
Intellectual mind	बौद्धिक मानस
Intuition	सम्बोधि
Intuitive mind	सम्बोधिमय मन
Involution	निवर्तन

L

Life	जीवन, प्राण
Life-energy	प्राण-बल
Life-force	प्राण-शक्ति

M

Manifestation	अभिव्यक्ति
Matter	जड़
Meditation	ध्यान
Mental	मनोमय
Metaphysics	आध्यात्मशास्त्र
Method	पद्धति
Monism	अद्वैतवाद, एकवाद
Mystic	रहस्यवादी

N

Nature	प्रकृति
Negative	नकारात्मक
Nescience	निर्ज्ञान
Noumenon	वस्तु स्वयं

O

Occult	गुह्य
Over mind	अधिमानस

P	
Pantheism	सर्वेश्वरवाद
Person	पुरुष
Pnenomenon	रूपात्मक सत्ता, प्रपंच
Poise	अवस्था
Positivism	विज्ञानवाद, भाववाद
Power	शक्ति
Pragmatism	व्यवहारवाद
Psychic	चैत्य
Psycho-Analysis	मनोविश्लेषण
R	
Ratiocination	वितर्क
Real Idea	सत प्रत्यय
Reality	सद्वस्तु
Realisation	साक्षात्कार
Realism	यथार्थवाद
Reason	तर्क, बुद्धि
Recognition	प्रत्यभिज्ञा
Re-incarnation	पुनर्जन्म
Relative	सापेक्ष
Repression	निग्रह, दमन
Repulsion	द्वेष
Revelation	सत्य दर्शन
S	
Seer	दृष्टा
Self	आत्मन्
Self-Assertion	आत्म प्रतिष्टा
Self-Awareness	आत्मभान
Self-Consecration	आत्म-निवेदन
Self-dedication	आत्मोत्सर्ग
S. determination	आत्म-निरूपण
Self-delight	आत्मानन्द
Self-evident	स्वयंसिद्ध
Self-existent	स्वयंभू
Self-giving	आत्म-दान
Self-knowledge	आत्म-ज्ञान
Self-observation	आत्म-निरीक्षण
Self-offering	आत्माञ्जलि
Self-Respect	आत्म-सम्मान
Self-Sacrifice	आत्म-बलिदान
Self-Surrender	आत्म-समर्पण
Sensation	संवेदन
Sheath	कोष
Soul	आत्मा, जीव
Space	दिक्
Spirit	अन्तरात्मा
Spiritual	आध्यात्मिक
Sub-Conscience	अवचेतन
Sub-Conscient	अवचेतन
Sub-conscious	अवचेतन
Sub-conscient Being	अवचेतन पुरुष
Subject	विषयी
Subjective	आत्मगत
Sublimation	उन्नयन
Subliminal Being	तलवर्ती पुरुष प्रच्छन्न
Subliminal Consciousness	प्रच्छन्न चेतना
Substance	पदार्थ
Subtle	सूक्ष्म
Super-conscience	अतिचेतना
Super-conscient	अतिचेतन
Super-man	अतिमानव
Super-mind	अतिमानस
Supramental	अतिमानसिक
Supra-physical	अतिभौतिक
Supreme	परम
Supreme (The)	परात्पर

Symbol	प्रतीक
Synthesis	समन्वय

T

Tendency	प्रवृत्ति
Theory	मत, सिद्धान्त
Theoretical	मौखिक
Thought	विचार
Time	काल
Transient	अनित्य
Transition	संक्रमण
Transmute	परिवर्तन करना
Triune	त्रिविध
Truth	सत्य
Tradition	परम्परा
Transcendence	उत्क्रमण
Transcendent	विश्वातीत
Transformation	रूपान्तर

U

Ultimate	अन्तिम
Unity	एकता
Universal	सार्वभौम
(The) Universal	विश्वमय
Utilitarianism	उपयोगितावाद

V

Vision	दृष्टि
Vital	प्राणात्मक
Vitalism	प्राणवाद

W

Waking Consciousness	जाग्रत चेतना
Whole	पूर्ण
Will	संकल्प

